# M.A — Political Science

SEMESTER — 3rd

## *International Law—I*

## *(अंतरराष्ट्रीय कानून —I)*

## International Law—I [PAPER—XIII]

SEMESTER -3rd

Time: 3 Hours Maxi. Marks: 80

Note: The question paper will be divided into five Units carrying equal marks, i.e., 16 marks. Students shall be asked to attempt one out of two questions from each unit. Unit five shall contain eight short answer type questions without any internal choice and it shall be covering the entire syllabus. As such, all questions in unit five shall be compulsory.

### Unit—I

Definition of International Law, Nature and Basis, Sources, Contribution of Grotius, Origin and Development of International Law.

### Unit—II

Relationship between International Law and Municipal Law, Subject, Codification, Afro—Asian Views and New dimensions of International Law.

### Unit—III

State Territory and Modes of acquiring and Loss of Territory. Basis of State Jurisdiction. Territorial Sea and Territorial. Air Space— Extent and Jurisdiction. Delimitations of Boundaries, Rivers, Canals, Staits.

### Unit—IV

Protection of Individuals and Group Statelessness and Double Nationality. Treatment of aliens, Extradition, Asylum, Diplomatic Immunities and provileges, Human Rights.

Table of Content Page no.

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ तथा स्वरूप - 4

2. अंतरराष्ट्रीय कानून के आधार - 18

3. अंतरराष्ट्रीय कानून का ऐतिहासिक विकास - 26

4. अंतरराष्ट्रीय कानून के विकास में ग्रोसियस का योगदान - 37

5. अंतर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के बीच संबंध - 43

6. अंतरराष्ट्रीय कानून के विषय - 56

7. अंतरराष्ट्रीय कानून का संहिताकरण - 64

8. अंतर्राष्ट्रीय विधि चुनौतियां नवीन प्रवृत्तियां एवं आयाम - 79

9. राज्य का क्षेत्र - 85

10. राज्या भू- क्षेत्र प्राप्त करना तथा खोना - 99

11. राज्य अधिकारिकता - 109

12. राष्ट्रीयता - 119

13. विदेशियों के साथ व्यवहार - 130

14. प्रत्यर्पण - 134

15. आश्रय - 146

16. राजनीतिक अभिकर्ता - 151

17. राजनीतिक अभिकर्ताओं की उनमुक्तियां तथा विशेषाधिकार - 160

18. मानव अधिकार - 166

# (1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ तथा स्वरूप

## (Meaning and Nature of International Law)

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून शब्द की उत्पत्ति (origin of word 'International Law')**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त करने का श्रेय प्रसिद्ध ब्रिटिश विधिवेत्ता जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) (1748—1832) को जाता है। सन् 1780 में उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून शब्द की रचना की। अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) राष्ट्रों की विधि (Law of Nations) का पर्यायवाची है। जेरेमी बेन्थम से पूर्व राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नियमों को लैटिन भाषा में राष्ट्रों का कानून (Droit— des—gens) कहा जाता था। बैंथम ने इसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Droit—entere—des—gens) शब्द के प्रयोग को उचित मानते हुए यह तर्क दिया था कि यह परिभाषा "राष्ट्रों का कानून" से अधिक उपयुक्त है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा —** के सम्बन्ध में राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में एकमत नहीं है। पुराने अथवा परम्परागत लेखक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा देते समय तर्क तथा न्याय पर अधिक बल देते हैं तो आधुनिक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर अधिक बल देते हैं।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) **पश्चिमी** विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ (Definitions given by Western Thinkers)

(2) **साम्यवादी** विद्वानों की परिभाषाएँ (Definitions of Communist Thinkers)

**(1) पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ—** (Definitions given by Western Thinkers)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पश्चिमी विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाओं को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(a) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की **परम्परागत परिभाषाएँ** (Traditional Definitions of International Law)

(b) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की **आधुनिक परिभाषाएँ** (Modern Definitions of International Law)

**(a) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परम्परागत परिभाषाएँ** (Traditional Definitions of International Law)—

**1. ओपेन हीम के अनुसार**, "राष्ट्रों का कानून अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रथाओं के समूह को कहा जाता है जिन्हें सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार में वैध रूप से पालन करने योग्य समझते हैं।"

**2. लारेंस के अनुसार**, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जो सभ्य राज्यों के आपसी व्यवहार को निर्धारित करते हैं।"

**3. सालमण्ड** के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियम हैं जो प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के पारस्परिक आचरण को संचालित करते हैं।"

ऊपरलिखित परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों का समूह है जिनके अनुसार सभ्य राज्य शान्ति काल तथा युद्ध काल में एक—दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय क्षेत्र में स्वतन्त्र तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र शामिल होते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून तर्क बुद्धि, न्याय भावना, प्रथाओं और परम्पराओं तथा विधिवेत्ताओं (Jurists) की टिप्पणियों पर आधारित होते है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून सभ्य राज्यों तक सीमित है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में सभी राज्य समान हैं।

6. अन्तर्राष्ट्रीय कानून समय तथा परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय क्षेत्र में केवल राज्य ही शामिल नहीं होते वरन् अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा इसके अधिकार और कर्त्तव्य भी शामिल हैं।

**(b) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आधुनिक परिभाषाएँ (Modern Definitions of International Law)**—परम्परावादी विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सभ्य राष्ट्रों के आचरण को नियमित करने वाला काननू बताया है, परन्तु केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय नहीं हैं। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा नागरिक भी इसके अधिकार क्षेत्र में आते हैं। वर्तमान में दी गई परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है।

**1. सर सिसिल हर्स्ट के अनुसार**, ''अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों का समूह है जिनको एक राज्य अपनी ओर से तथा अपने

नागरिकों की ओर से अपने अधिकारों को अन्य राज्य के विरुद्ध प्रकट करता है।''

(According to Sir Cecil Hurst, "International Law is the aggregate of the rules which determine the rights which one state is entitled to claim on behalf of its nationals against other state.")

**2. चार्ल्स—जी—फेनविक** के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा विस्तृत शब्दों में, सामान्य सिद्धान्तों तथा विनिर्दिष्ट नियमों के समूह द्वारा की जा सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों पर बंधनकारी होते हैं।"

आधुनिक परिभाषाओं से स्पष्ट होता है ये अधिक व्यापक तथा उपयुक्त हैं, क्योंकि इन परिभाषाओं में राज्य के साथ—साथ गैर राज्य इकाइयों, व्यक्तियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं संगठनों को भी शामिल किया गया है।

**II. साम्यवादी विद्वानों की परिभाषाएँ (Definitions of Communist Thinkers)** — प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सोवियत रूस तथा चीन के नेतृत्व में विश्व के अनेक देशों में साम्यवादी शासन व्यवस्थाओं की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय जगत के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में साम्यवादी विचारधारा को जानना अनिवार्य हो जाता है।

**सोवियत संघ के महान् विचारक विशिंस्की** ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किये हैं।

**ए—वाई—विशिंस्की के अनुसार,** ''अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के आपसी संघर्ष तथा सहयोग, जिससे राज्यों के शासन करने वाले वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा जिसे राज्यों द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक दबाव द्वारा प्राप्त किया जाता है, को नियंत्रित करने वाले नियमों का कुल समूह है।''

साम्यवादी विचारक की उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि वे—

1. राज्य को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मानते हैं।

2. वर्ग तथा वर्ग संघर्ष को अधिक महत्त्व देते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों, व्यक्तियों तथा गैर—सरकारी संगठनों को शामिल नहीं करते।

अतः साम्यवादी दृष्टिकोण वर्तमान समय में अनुपयुक्त तथा संकीर्ण दृष्टिकोण माना जाता है। परन्तु स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा को संशोधित करते हुए इसमें **शान्तिपूर्ण सह—अस्तित्व (Peaceful—Co—existence)** के तत्त्व को भी जोड़ दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्पूर्ण ढाँचे का आधार 'सह—अस्तित्व' होना चाहिए तभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा शान्ति तथा पारस्परिक समझौता प्रणाली को बढ़ावा मिल सकता है।

1991 में सोवियत संघ का पतन हो गया तथा साम्यवाद का प्रभाव कम हो गया। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमण्डलीकरण का है। ऐसी स्थिति में अन्तरर्राष्ट्रीय कानून को वर्गीय संघर्ष (Class Conflict) तथा वर्गीय इच्छा मानना उचित नहीं है। अतः यह एक संकीर्ण तथा अनुपयुक्त परिभाषा है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्ति, राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने वाला कानून है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपरोक्त **सभी परिभाषाओं का विश्लेषण** (Analysis of all the above Definitions of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपरोक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. अन्तरर्राष्ट्रीय कानून गतिशील है। समय तथा परिस्थितियों के अनुसार इसका निरन्तर विकास होता है।

2. नया अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल विधिक ही नहीं है बल्कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक भी है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सभी सभ्य तथा स्वतन्त्र राज्य आपसी व्यवहार में स्वीकार करते हैं।

4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों पर ही नहीं बल्कि गैर राजनीतिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों पर भी लागू होता है।

5. इस विधि के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान किया जाता है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नियमों तथा सिद्धान्तों का समूह है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य स्रोतों में रीति—रिवाज, प्रथाएँ, रूढ़ियां, सन्धि तथा समझौते, न्यायालयों के निर्णय, न्याय भावना आदि शामिल हैं।

## अंतरराष्ट्रीय कानून का स्वरूप

**प्रश्न**— क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है?

अथवा

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून कानून—शास्त्र का लोप बिन्दु है।" विवेचना कीजिए।

अथवा

"अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधि—शास्त्र का लोप बिन्दु है" (हालैंड)। क्या आप इस मत से सहमत हैं? अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे बाध्यकारी शक्ति क्या है?

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून से क्या अभिप्राय है? अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कमजोरियों का वर्णन करते हुए इनको दूर करने के सुझाव दें।

**उत्तर**— भूमिका (Introduction) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप अथवा प्रकृति का संबंध इस बात से है की अंतरराष्ट्रीय कानून को कानून माना जाए अथवा नहीं। इस विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है कुछ का मानना है कि अंतरराष्ट्रीय कानून वास्तविक कानून नहीं है जबकि दूसरे पक्ष का मानना है कि अंतरराष्ट्रीय कानून वास्तविक कानून है।

पहले अंतरराष्ट्रीय कानून वास्तविक कानून नहीं है के पक्ष को जानने का प्रयास करते हैं।

### ० अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून नहीं है (International Law is not true Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को वास्तविक कानून न मानने वालों में **कॉलरिज, ऑस्टिन, हॉलैंड तथा हाब्स आदि प्रमुख हैं।** अपने विचार को सिद्ध करने के लिए वे निम्नलिखित तर्क देते हैं—

**1. निश्चित संस्था का अभाव (Lack of Definite Institution)**— कानून निर्माण के लिए एक निश्चित संस्था होती है। प्रत्येक राज्य में विधानपालिका का गठन किया जाता है जो देश के लिए कानून बनाती है, कानून में परिवर्तन करती है तथा कानून को रद्द करती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने वाली ऐसी कोई संसद नहीं है। ऑस्टिन ने कानून की परिभाषा देते हुए कहा है कि "कानून उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है" ("Law is the command given by superior to an inferior")। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी राज्य समान तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न होते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून स्वीकार नहीं किया जा सकता।

**2. यह अनिवार्य नहीं है (**It is not Compulsory)—राज्य के कानून सभी पर बाध्य होते हैं। नागरिकों तथा उनकी सभी संस्थाओं को कानूनों का पालन करना पड़ता है। यदि कोई नागरिक अथवा संस्था राज्य के आदेशों का उल्लंघन करता है तो उन्हें दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे ऐसी कोई मान्यता नहीं होती। यह राज्यों की सद्—इच्छा पर निर्भर करता है। इन्हें मनवाने के लिए कोई वैधानिक शक्ति नहीं है।

**3. कार्यपालिका का अभाव (Lack of Executive)**—कानून बनाना अर्थहीन है यदि उन्हें लागू करने की कोई व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में कानूनों को लागू करने के लिए कार्यपालिका का गठन किया जाता है। देश में जैसी शासन व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप कार्यपालिका का गठन किया जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने के लिए ऐसी कोई कार्यपालिका नहीं है। ऐसी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को आदर्श इच्छा (Ideal will), प्राकृतिक नियम (Natural Law) अथवा नैतिक नियम (Moral Principle) कहा जा सकता है, कानून नहीं।

**4. व्याख्या तथा दण्ड देने के लिए न्यायालय का अभाव** (Lack of Court for Interpretation and Punishment) — अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानून की व्याख्या करने, विवादों का निपटारा करने तथा दोषियों को दण्ड देने के लिए ऐसा कोई न्यायालय नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों पर लागू होता है। जब—जब भी राज्यों के मध्य विवाद उत्पन्न हुआ है अथवा युद्ध हुआ है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून दोषियों को दण्ड नहीं दे सका है। अरब—इजरायल संघर्ष, ईरान—इराक युद्ध, चीन का भारत पर आक्रमण, भारत—पाकिस्तान युद्ध, खाड़ी—युद्ध, अफगानिस्तान संकट, अमेरिका द्वारा इराक पर आक्रमण आदि अनेक ऐसे उदाहरण हैं।

**5. राज्य प्रभुसत्ता के विरुद्ध** (Against State Sovereignty)—राज्य के चार अनिवार्य तत्त्वों यथा— जनसंख्या, निश्चित प्रदेश, संगठित सरकार में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभुसत्ता है। प्रभुसत्ता के कारण ही राज्य अन्य संस्थाओं से सर्वोच्च तथा शक्तिशाली होता है। प्रभुसत्ता के कारण ही वह आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में स्वतन्त्र तथा सर्वोच्च होता है। राज्य पर किसी अन्य संस्था का नियंत्रण तथा दबाव नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रोपरि सत्ता स्वीकार करने का अर्थ है—प्रभुसत्ता का अन्त होना और राज्य अपनी प्रभुसत्ता को समाप्त नहीं कर सकता, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सच्चा कानून नहीं माना जा सकता।

**6. संहिताकरण का अभाव (Lack of Codification)**—अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के लिए सर्वमान्य नियम नहीं बन सके हैं। राज्य के कानून में संहिताकरण के कारण क्रमबद्धता, स्पष्टता तथा निश्चितता होती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इन सबका अभाव है, अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहना उचित नहीं होगा।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून नहीं कहा जा सकता।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—सभी तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् हालैंड के कथन में बहुत सत्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधिशास्त्र (Jurisprudence) का लोप बिन्दु है, इसे केवल नम्रतावश विधि (Law by Courtsey) अथवा प्राकृतिक नियम (Law of Nature) कहा जा सकता है। हॉलैंड का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे पहले ही विधिशास्त्र की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे ऑस्टिन के अनुसार केवल नैतिक शक्ति होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कुछ नैतिक नियमों का समूह होता है।

**पंडित जवाहर लाल नेहरू** ने 31 मार्च, 1951 को 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि परिषद' (International Law Association) की राष्ट्रीय शाखा के सम्मुख अपने भाषण में कहा था कि विश्लेषण के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अस्तित्व नहीं है।

("In the ultimate analysis, there is no International Law"—Pt. Nehru) युद्ध आदि संकटों के समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी कोई वस्तु नहीं रह पाती। यह केवल वकीलों के वाद—विवाद का विषय बन कर रह जाती है।

## अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक सच्चा कानून है (International Law is a True Law)

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून (नियमों) के कानून होने का समर्थन** (Concepts in Favour of International Law)—

भूमिका (Introduction)—ऑस्टिन तथा उसके समर्थकों द्वारा प्रतिपादित यह मत आज मान्य नहीं है कि सादृश्यता(Analogy) के आधार पर भले ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को हम कानून की संज्ञा दें, परन्तु इसको कानून नहीं कहा जा सकता। परन्तु वर्तमान संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हुई तीव्र प्रगति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून से कम शक्तिशाली नहीं है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न कहना भारी भूल होगी।

सर हैनरी मेन, लार्ड रसेल, स्टार्क, हॉल, लारेंस, पोलक आदि अनेक विद्वान इस मत से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहना उचित है। निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर उनकी इस धारणा को स्वीकार किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहने से पहले यह जान लेना अनिवार्य है कि कानून से अभिप्राय क्या है।

ओपेनहीम ने कानून की परिभाषा देते हुए कहा है कि "कानून समुदाय के भीतर मनुष्यों के आचरण हेतु नियमों का वह समूह है जो समुदाय की सामान्य सहमति से एक बाह्य शक्ति द्वारा क्रियान्वित किया जायेगा।"

इस परिभाषा से कानून के लिए समुदाय, नियमों का समूह तथा समुदाय की सामान्य स्वीकृति अनिवार्य होती है। यदि इस विचार को स्वीकार कर लिया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहा जाता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने वाले विचारक निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत करते हैं—**

**1. कानून के पीछे भय की शक्ति नहीं** (Force is not the Sanction behind law)—सर हैनरी मेन का कथन है कि किसी नियम का पालन भय के कारण नहीं किया जाता। यह सच है कि कानून का पालन कभी—कभी व्यक्ति भय से करता है, परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। कानून के पीछे मान्यता भय की नहीं, इच्छा की होती है। (It is the will and not the force which is sanction behind law) सामान्यजन कानूनों का पालन अपनी सहज बुद्धि तथा सद्विवेक से इसलिए करते हैं क्योंकि यह उनके विश्वासों, परम्पराओं तथा प्रथाओं के अनुकूल होते हैं तथा समाज में शांति व्यवस्था के लिए आवश्यक होते हैं।

**2. सभी कानून सम्प्रभु के आदेश नहीं होते** (Law is not always the Command of Sovereign)—लार्ड रसेल का तर्क है कि कानून सदैव सम्प्रभु के आदेश नहीं होते। ऐतिहासिक दृष्टि से कानून का विकास परम्पराओं के माध्यम से हुआ है। कुछ समाजों में कानून बनाने वाली कोई संस्था नहीं होती, परन्तु ऐसी बहुत—सी परम्पराओं का विकास हो जाता है जो कानून

जैसी बन्धनकारी होती है। वर्तमान में भी अनेक देशों में ऐसी प्रथाएँ हैं जिनका पालन कानून से भी बढ़ कर किया जाता है। लोकतन्त्रात्मक सरकारों में सार्वजनिक इच्छाएँ कानून का आधार होती हैं।

**3. राष्ट्रीय कानून का भी उल्लंघन होता है** (National Law are also Disobeyed)—अनेक बार राष्ट्रीय जीवन में भी नागरिकों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जाता है जो कानूनों का उल्लंघन करता है, परन्तु वह राष्ट्रीय कानून यथावत बनाए रहता है। अगर कोई राज्य अंतरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करता है तो विश्व जनमत की शक्ति उस प्रभुसत्ता संपन्न राज्य को कानून का पालन करने के लिए विवश करती है।

उल्लंघन करने के कारण कानून का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। सर हेनरी बर्कले के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों की सहमति पर आधारित होते हैं। यदि कोई राष्ट्र इनका उल्लंघन करता है तो सम्बन्धित राष्ट्र को कानून का उल्लंघनकर्ता तो माना जायेगा परन्तु कानून यथावत् बना रहेगा।

**4. पारस्परिक निर्भरता (Mutual Interdependence)**—विज्ञान की उन्नति तथा विकास के कारण विश्व बहुत छोटा हो गया है। कोई भी राष्ट्र आत्मनिर्भर नहीं है। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता बहुत बढ़ गई है। ऐसी स्थिति में राज्य प्रभुसत्ता होने के बावजूद भी मनमानी नहीं कर सकता। सभी राज्यों को दूसरे राज्यों की प्रभुसत्ता तथा समानता का सम्मान करना पड़ता है। राज्यों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य कई तरह के पारस्परिक सम्बन्ध करने पड़ते हैं। इन पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन तथा निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से किया जाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहना उचित है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में राष्ट्रों की पारस्परिक सहमति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूल आधार होती है।

**5. कानून केवल नैतिकता नहीं है (Law is not only Morality)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आलोचना करने वाले यह तर्क देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल एक नैतिकता है, इसलिए इसे कानून नहीं माना जा सकता, परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। फ्रेडरिक पोलक के मतानुसार, यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार केवल नैतिकता रही होती तो विभिन्न राज्यों द्वारा विदेश नीति की रचना नैतिक आधार पर ही की जाती, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। राज्य संधियों, रीति—रिवाजों, नीतियों सम्बन्धी राजकीय पत्रों, पूर्व दृष्टान्तों तथा विशेषज्ञों की टिप्पणियों का सहारा न लेते। इससे राजनीतिज्ञों तथा राजनयिकों में इसकी वैधानिकता सत्ता सिद्ध होती है जो नैतिक दायित्वों से भिन्न है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भी कानून की श्रेणी में रखा जा सकता है।

**6. न्यायालयों द्वारा मान्यता (Recognition by Courts)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को जनेक राज्यों के न्यायालयों द्वारा स्वीकृति प्रदान प्रदान की गई है। अमेरिका, इंग्लैंड तथा अन्य देशों ने अनेक परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का ही भाग माना है। पॉकेट हवाना विवाद 1900 में अमेरिका के न्यायाधीश ग्रे ने निर्णय देते हुए कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का भाग है।" ("International Law is a part of our Law"—Justice Gray.) (The Paquet Hawana Case 1900) भारत के संविधान के अनुच्छेद 51 में विदेश नीति के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। हमारे संविधान में पंचशील सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा, राष्ट्रों के उचित तथा सम्मानजनक सम्बन्ध, उत्तरदायित्वों का परस्पर व्यवहार में सम्मान, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान युद्ध द्वारा नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण विचारों द्वारा करना विदेश नीति के मुख्य लक्षण है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहना उचित है।

**7. तर्क तथा विवेक पर आधारित (Based on Logic and Reason)**— किसी भी कानून का पालन करते समय लोग विवेक तथा तर्क पर विश्लेषण करते हैं। यदि कानून तर्कसंगत है तो ही उनका पालन होता है अन्यथा नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी तर्क तथा विवेक पर आधारित होने के कारण उन्हें कानून कहा जा सकता है।

**8. कानून का निर्माण करना, लागू करना तथा व्याख्या करना** (Formulation Implementation and Interpretation of Law)—राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने के लिए विधानपालिका, लागू करने के लिए कार्यपालिका तथा न्याय और व्याख्या करने के लिए न्यायपालिका का गठन किया जाता है। उसी प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए भी तीनों अंगों की स्थापना की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को विधानपालिका, सुरक्षा परिषद् को कार्यपालिका तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय को न्यायालय का दर्जा दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। वर्तमान में 190 से भी अधिक राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं जिनकी स्वीकृति से ही कानूनों का निर्माण होता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सार्वभौमिक स्वरूप होता है।

**9. राजसत्ता के विरुद्ध न होना (Not against State Sovereignty)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजसत्ता को समाप्त नहीं करता। राज्य के कानून द्वारा नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जाती है उन्हें समाप्त नहीं किया जाता। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों की प्रभुसत्ता तथा स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं किया जाता। सभी राज्य अपनी—अपनी स्वतन्त्रता तथा राज सत्ता को सुरक्षित रखते हुए अपने—अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून कहा जा सकता है।

**10. राष्ट्रों के व्यवहार के औचित्य का आधार** (Basis of the Justification of the Behaviour of Nations)—आधुनिक युग में राज्यों का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता देता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। राज्य अपने आचरण को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

**11. ऑस्टिन के विचार का असामयिक होना** (The Views of Austin are Out Dated)—ऑस्टिन तथा उसके समर्थकों द्वारा प्रतिपादित विचार आधुनिक युग में मान्य नहीं हैं। ऑस्टिन द्वारा प्रतिपादित विचार कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून, कानून नहीं है", को एक शताब्दी बीत चुकी है तथा इस बीच आधुनिक विधिशास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हुई तीव्र प्रगति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून से कम शासित सूचक तथा कम स्पष्ट होते हुए भी कानून है। सर हैनरी मेन, लार्ड रसेल, स्टार्क आदि विचारकों ने ऑस्टिन के मत का प्रबल तकों के आधार पर खण्डन किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक वास्तविकता माना है, इसलिए वर्तमान संदर्भ में ऑस्टिन की धारणा अप्रासंगिक तथा असामयिक है।

अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का कहना है कि यह विचार करना मूर्खता होगी कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध केवल बलपूर्वक ही मनवाये जाते हैं तथा राजनीतिज्ञ अधिकार, कानून तथा न्याय से प्रभावित नहीं होते। स्टार्क (Starke) ने भी ऑस्टिन के विचार का खण्डन किया है। स्टार्क का मत है कि—

1. आज की परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल चुकी हैं। विभिन्न सन्धियों तथा समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बड़ी मात्रा में रचना हुई है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के पदाधिकारियों द्वारा अन्तररर्राष्ट्रीय कानून को उचित माना गया है।

3. विधिशास्त्र से सम्बन्धित ऐतिहासिक सिद्धान्त ने ऑस्टिन के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है। सामान्यं सिद्धान्त वर्तमान में लागू नहीं किये जाते।

4. ऐसे बहुत से समाज रहे हैं जिनमें कानून निर्माण करने वाली कोई संस्था नहीं थी तथा नियमों और सिद्धान्तों को बाध्यकारी रूप से लागू नहीं किया जाता था, परन्तु फिर भी वे कानून थे।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—ऊपरवर्णित तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि संकुचित तथा संकीर्ण दृष्टि से देखा जाए तथा ऑस्टिन जैसे विचारकों को उचित माना जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून नहीं माना जा सकता। परन्तु व्यापक तथा विस्तृत दृष्टिकोण से अवलोकन करें तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने में कोई बाधा नहीं है। पोलक के शब्दों में कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अधूरे संगठित समाज की उन प्रथाओं तथा व्यवहारों का समूह है जिन्होंने कानून के स्वरूप को पूर्ण रूप से तो प्राप्त नहीं किया किन्तु जो कानून बनने की राह पर हैं।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में हाल तथा लारेंस के विचार** (Views of Hall and Lawrence regarding

International Law)

ऑस्टिन के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विचारों के विरुद्ध हाल तथा लारेंस जैसे आधुनिक लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून का रूप दिया है। इन विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मान कर ही अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं।

**हाल जैसे प्रसिद्ध ब्रिटिश विधिशास्त्री** (Jurist) ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानने के पक्ष में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तर्क दिए हैं—

1. विभिन्न राज्य तथा विधिशास्त्र (Jurisprudence)— अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को कानून मानते रहे हैं तथा उसी रूप में वर्णन तथा मान्यता प्रदान करते रहे हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का विकास कानूनी तर्कों के आधार पर होता रहा है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में पूर्व उदाहरणों (Precedents) का कानूनी तौर पर प्रयोग किया जाता रहा है।

4. जिस तरह राज्यों के कानूनों में प्रामाणिक विधिशास्त्रियों की टिप्पणियों को उद्धृत किया जाता है उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में भी प्रामाणिक कानून विशेषज्ञों की सम्मतियों को महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन करने वाले राज्यों के आचरण की आलोचना प्रायः कानूनी दृष्टि से की जाती रही है।

6. जिस प्रकार देशी कानून (Municipal Law) के पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति होती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे भी बाध्यकारी शक्ति होती है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अधिकांश भाग राष्ट्रों के दिन—प्रतिदिन के व्यवहार में नियमित रूप से स्वीकार किया जाता है तथा इनका उल्लंघन कदाचित ही किया जाता है। पुलिस शक्ति का अस्तित्व किसी भी कानूनी व्यवस्था को सुदृढ़ तथा सम्मानजनक नहीं बनाता इसके विपरीत कानून की शक्ति ही पुलित संगठन की शक्ति का आधार होती है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा नैतिकता में बहुत अधिक अन्तर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी कानून तथा नैतिकता दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल नैतिकता का ही एक रूप होता तो किसी देश की विदेश नीति निर्धारित करने वाले केवल नैतिक युक्तियों का ही सहारा लेते। परन्तु इसके विपरीत अनेक ऐसी कानूनी बाध्यताएँ भी हैं जिन्हें राजनीतिज्ञों तथा विधि शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। वर्तमान में राष्ट्रों के पारस्परिक सम्वन्धों का निर्धारण प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर होता है।

9. राष्ट्र अपने को सामान्य नियमों से बंधा हुआ अनुभव करते हैं। राष्ट्रों द्वारा इनका पालन करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रभावशीलता बढ़ती जा रही है।

हाल तथा लारेंस के अतिरिक्त फिलीप ब्राऊन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे निहित दबावों का वर्णन करते हुए इन्हें पारस्परिक लाभ का आकर्षण तथा बदले का भय (Compulsory force of reciprocal advantage and fear of retaliation) कहा है।

पिटकाबेट का भी विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है।

पॉकेट हवाना और लोला के मामले में अमेरिकी न्यायालय ने भी निर्णय दिया कि 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक जीवित जागृत नियमों का संकलन है तथा यह संकलन सभ्य राष्ट्रों की स्वीकृति पर निर्भर है।'

विश्व के सभी राष्ट्र अन्तरर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करने का प्रयास करते हैं तथा नियमों को महत्त्व देते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक सर्वव्यापी कानून का रूप धारण कर चुका है।

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधि शास्त्र का लोप विन्दु है"। — हॉलैंड

(" International Law is the vanishing point of Jurisprudence") —Holland

**प्रश्न — "अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र का लोप बिन्दु है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कमजोरियों का वर्णन करते हुए इन्हें दूर करने के सुझाव दें।**

**("International Law is the vanishing point of Jurisprudence." Describe the main weaknesses and give suggestions to remove.)**

अथवा "अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र का लोप बिन्दु है।" क्या आप इस धारणा से सहमत हैं? अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे मान्यता का वर्णन करें। ("International Law is the vanishing point of Jurisprudence." Do you agree with this concept? Discuss the sanction behind International Law.)

उत्तर — जब दो राज्य अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिए आपस में समझौता करते हैं तो उन्हें समझौता सन्धियों कहा जाता है। ये सन्धियाँ राज्यों के मध्य विशेष मामलों से सम्बन्धित होती हैं। इन सन्धियों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में बहुत अधिक योगदान नहीं होता। भारत तथा पाकिस्तान के मध्य शिमला समझौता, आगरा समझौता, दोनों देशों के मध्य बस सेवा समझौता आदि समझौता सन्धियों कहलाती हैं। विश्व के बहुत से देशों द्वारा ऐसी समझौता सन्धियाँ की जाती हैं।

विधि निर्माता सन्धियाँ (Law making Treaties) बहुपक्षीय होती हैं। इन सन्धियों द्वारा व्यवहार के सामान्य नियमों का निर्धारण किया जाता है। इन सन्धियों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में बहुत योगदान होता है। समय—समय पर ऐसी बहुत—सी सन्धियों होती रहती हैं। महिलाओं के साथ भेदभावों को समाप्त करना, जेनेवा समझौता, संयुक्त राष्ट्र चार्टर, लीग ऑफ नेशनज़ का संविधान (League of Nations) आदि अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण सन्धियों हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी राष्ट्रीय कानून की तरह नैतिकता, न्याय, तर्क, जनमत आदि पर आधारित होता है। नैतिकता तथा

जनमत किसी भी कानून का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

1. शान्ति के समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Laws of Peace)

2. युद्ध से सम्बन्धित अन्तरर्राष्ट्रीय कानून (International Laws of War)

3. जो राष्ट्र तटस्थ रहते हैं उनके लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनते हैं उन्हें तटस्थता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Laws of Neutrality) कहा जाता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधिशास्त्र के लोपबिन्दु के रूप में**

**(International Law as a vanishing point of Jurisprudence)**

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषाओं को लेकर विद्वानों में एकमत नहीं है। कुछ विचारक इसे कानून मानने को ही तैयार नहीं हैं। उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बनाने, लागू करने, व्याख्या करने तथा दण्ड देने वाली संस्था के अभाव के कारण राज्यों द्वारा समय—समय पर उनका उल्लंघन किया जाता है। कानूनों का उल्लंघन करते हुए राज्य मानवता के विरुद्ध जघन्य अपराध करते हैं। अमेरिका तथा वियतनाम के बीच सात वर्षों तक युद्ध होता रहा। अमेरिकी सैनिकों ने वियतनाम के सैनिक ठिकानों पर ही नहीं वरन् स्कूलों, अस्पतालों, गिरिजाघरों तथा असैनिक नागरिकों को भी अपना निशाना बनाया। ऐसा ही दूसरे विश्व युद्ध में जर्मन द्वारा यहूदियों के साथ किया गया। 1971 में पाकिस्तान ने भी अपने

ही एक हिस्से के नागरिकों पर अत्याचार किये, जिसके कारण बंगलादेश अस्तित्व में आया। इन युद्धों में मानव अधिकारों का हनन होने के बाद भी इन राज्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीति को लेकर श्वेतों द्वारा बहुसंख्यक अश्वेतों पर अत्याचार होते रहे हैं। राष्ट्रीय संघ के प्रस्तावों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

ऊपर वर्णित तथ्यों के आधार पर हालैंड का यह विचार अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधि शास्त्र का विलोप बिन्दु है।

ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक कमजोर कानून माना है।

निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर उसके इस विचार का समर्थन किया जा सकता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दुर्बलताएँ अथवा सीमाएँ (Weaknesses or Limitations of International Law)**

**1. व्यवस्थापन सम्बन्धी कमजोरियाँ (Weaknesses regarding Legislature)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण, संशोधन तथा पुराने कानूनों को रद्द करने वाली विधानपालिका का अभाव है। जिस प्रकार राज्य में विधानपालिका अर्थात् संसद द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है। उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली कोई संस्था नहीं है। कुछ विद्वान राष्ट्र संघ की महासभा को कानून निर्मात्री संस्था मानते हैं, परन्तु उसकी तुलना राज्य विधानपालिका से नहीं की जा सकती।

**2. प्रभावशाली कार्यपालिका का अभाव** (Lack of Effective Executive)—कानून बनाने का कोई लाभ नहीं है यदि उन्हें लागू करने की व्यवस्था नहीं की जाती। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानून को लागू करने वाली कार्यपालिका का अभाव है परिणामस्वरूप शक्तिशाली राष्ट्र कानून को तोड़ते रहते हैं, परन्तु उनको रोकने वाला कोई नहीं है। अमेरिका ने वियतनाम युद्ध में कानूनों को तोड़ा, सोवियत संघ ने अफगानिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप किया, इराक ने कुवैत पर आक्रमण किया तथा 2005 में अमेरीका ने इराक पर आक्रमण किया। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् को कार्यपालिका का दर्जा दिया जाता है। निषेधाधिकार (Vetopower) के कारण सुरक्षा परिषद् बड़े राष्ट्रों के तथा उनके सहयोगी राष्ट्रों के विरुद्ध ठोस कार्यवाही करने में सफल नहीं हो पाती।

**3. न्यायपालिका का अभाव** (Lack of Judiciary)— यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय की स्थापना की गई है। राज्यों के बीच विवादों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है, परन्तु यदि वे फैसले राज्यों के हितों के अनुकूल नहीं हैं तो वे इनका पालन नहीं करते। कानून तोड़ने वाले राज्यों को दण्ड देना बड़ा कठिन हो जाता है।

**4. राज्यों की प्रभुसत्ता तथा अतिवादी राष्ट्रीयता (State Sovereignty and Aggressive Nationalism)**—कोई भी राज्य अपनी प्रभुसत्ता खोना नहीं चाहता, इसके साथ ही उग्रराष्ट्रीयता की भावना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन का कारण बनती है। इस राष्ट्रीय अन्धभावना के कारण भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परवाह नहीं करते। इजरायल द्वारा अरबों पर आक्रमण, चीन द्वारा 1962 में भारत पर आक्रमण आदि कितने ही उदाहरण हैं जब उग्र राष्ट्रीयता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की पालना नहीं की गई।

**5. घरेलू मामलों में अहस्तक्षेप की नीति** (The Policy of Non—intervention in Internal Affairs)—संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना वर्जित है। परिणामस्वरूप अनेक राष्ट्र इस प्रावधान का सहारा लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं तथा कानून के उल्लंघन को मूक दर्शकों की भाँति देखती रहती हैं। पाकिस्तान ने इस नियम का सहारा लेकर अपने एक भाग पर मानव अधिकारों का उल्लंघन किया (अब बंगलादेश), दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सरकार ने अश्वेतों पर अत्याचार किए, परन्तु उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।

**6. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अस्पष्टता तथा अनिश्चितता** (Lack of Clarity and Certainty)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बहुत से नियम अभी भी अस्पष्ट हैं। अभी तक उनका संकलन न होना एक समस्या बनी हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन होने पर

वह कार्यवाही नहीं की जा सकती जो राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन पर की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौते प्रायः व्यापक तथा सामान्य भाषा में अभिव्यक्त किये जाते हैं। संहिताकरण (Codification) के अभाव में उसे कानून मानना कठिन है। कानून की अस्पष्टता तथा अनिश्चितता के कारण न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्रभावित होता है।

**7. विश्व में शान्ति व्यवस्था रखने में असफल (Fail to maintain Order and Peace in the World)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व में शांति व्यवस्था बनाए रखने में सफल नहीं हुआ है। दूसरे विश्व के पश्चात् तथा सोवियत संघ के पतन तक विश्व में तीसरे युद्ध का भय रहा है। यद्यपि निकट भविष्य में तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना नहीं है, परन्तु समय—समय पर ऐसी घटनाएँ घटित होती रही हैं जिनके कारण शांति तथा व्यवस्था समाप्त हो सकती थी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने में असफल रहा है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—ऊपर वर्णित तथ्यों के आधार पर ब्रियली के शब्दों से सहमत हुए कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बहुत त्रुटियों हैं। 'ब्रियली' के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दो बड़ी कमजोरियाँ हैं। इस कानून को बनाने तथा लागू करने वाली संस्थाएँ बड़ी आरम्भिक दशा में हैं तथा इसका क्षेत्र बहुत संकुचित है। इस कानून का निर्माण करने वाली ऐसी कोई संस्था नहीं है जो इस कानून को और अन्तर्राष्ट्रीय समाज को नई आवश्यकताओं के अनुसार ढाल सके।"

## सुधार हेतु सुझाव (Suggestion for Improvement)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बहुत त्रुटियों हैं। उन कमियों तथा त्रुटियों के कारण इसका महत्त्व अथवा उपयोगिता कम हो गई है। परन्तु फिर भी यह निरन्तर गतिशील है तथा विकास की ओर अग्रसर है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों की इच्छा तथा सहमति पर निर्भर करता है। इन दोषों को दूर करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के लिए विद्वानों ने अनेक सुझाव दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

**1. संहिताकरण (Codification)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताकरण द्वारा स्पष्ट तथा निश्चित किया जाना चाहिए। इसे विभिन्न राज्यों द्वारा स्पष्ट स्वीकृति तथा मान्यता मिलनी चाहिए। संहिताकरण के कारण अस्पष्टता तथा निश्चितता समाप्त होगी। यदि संहिताएँ राज्यों की सहमति पर आधारित होंगी तो इसके सम्मान में वृद्धि होगी।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रचार (Propaganda of International Law)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्व तथा उपयोगिता का विभिन्न छोटे—बड़े राज्यों के मध्य प्रचार करना चाहिए, जिससे उन्हें इनका पालन करने के लिए विवश किया जा सके।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि** (Expansion in the Jurisdiction of International Court)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सभी विवादों में अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। केवल तभी यह विश्व शान्ति की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जो राज्य अपने मामले स्वेच्छा से इसके सामने लाते हैं उसमें न्यायालय को काफी सफलता मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि की जाए।

**4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र का विस्तार** (Expension of Jurisdiction of International Law)—राष्ट्र संघ के चार्टर में यह व्यवस्था की गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इस व्यवस्था का सहारा लेकर शक्तिशाली राष्ट्र मनमानी करने में सफल हो जाते हैं तथा मानव अधिकारों का उल्लघंन करते हैं। इसलिए अनिवार्य है कि कानून को राज्यों पर ही नहीं वरन् व्यक्तियों पर भी लागू किया जाना चाहिए तथा इसे राज्यों के घरेलू मामलों पर भी लागू किया जाना चाहिए। इस समय घरेलू क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित अनेक मामले हैं जो दूसरे देशों पर प्रभाव डालते हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से बाहर हैं। अतः प्रो. ब्रियर्ती (Prof. Breirly) का यह कथन सत्य है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस समय तक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि उसके क्षेत्राधिकार को न बढ़ाया जाए।" अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाले विषयों को जब तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में नहीं लाया जाता तब तक यह अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकता।

**5. राज्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन** (Change in the Attitude of States)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सुधार की दृष्टि से विचारकों ने मत अभिव्यक्त किया है कि राज्यों के दृष्टिकोण में परिवर्तन किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान केवल युद्ध से से ही सम्भव नहीं है वरन् शान्तिपूर्ण विधि तथा बातचीत से भी समस्या का समाधान किया जा सकता है। उचित

तथा अनुचित, न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण केवल युद्ध से निश्चित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक युद्धकर्ता अपने उद्देश्यों को न्यायपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास करता है। अतः राज्यों के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन अनिवार्य है।

**6. विधि आयोग के क्षेत्राधिकार में वृद्धि** (Expension of the Jurisdiction of Law Commission)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के क्षेत्राधिकार में वृद्धि की जानी चाहिए तथा उसको शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अस्पष्ट तथा अनिश्चित होने के कारण इसमें समय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के क्षेत्र में वृद्धि से ही समयानुसार परिवर्तन सम्भव है।

**7. विधि निर्माण सन्धियों पर बल** (Emphasis on Law making Treaties)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून को शक्तिशाली तथा प्रभावशाली बनाने के लिए अधिक से अधिक विधि निर्माण करने वाली सन्धियों की जाएं तथा समय—समय पर उनका पुनर्निरीक्षण किया जाए।

**8. न्यायिक पूर्वोक्तियों का प्रयोग** (Application of Judicial Precedents)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में न्यायिक पूर्वोक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग भी इसका विकास करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

**9. उग्र राष्ट्रवाद का त्याग** (To Give up Aggressive Nationalism)— वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का युग है। राष्ट्रीयता की भावना अच्छी बात है परन्तु उग्र राष्ट्रीयता के त्याग के बिना विश्व बन्धुत्व तथा विश्व शांति स्थापित नहीं हो सकती। विश्व शान्ति के लिए उग्र राष्ट्रीयता की भावना पर प्रतिबंध लगाये जाने चाहिएं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तथा राज्य क्षेत्र में टकराव को समाप्त करने का प्रयास करना भी अनिवार्य है। जहाँ तक सम्भव हो सके अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय हित के साथ संघर्ष में न आने दिया जाए। राष्ट्रीय हित को भी व्यापक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

**10. अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों के सम्बन्ध में प्रावधान** (Provision Regarding International Crimes)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित करने के तरीकों तथा साधनों को प्रभावशाली बनाया जाना चाहिए। जिस प्रकार राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन को गंभीर अपराध माना जाता है तथा दण्ड की व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की जानी चाहिए।

**11. विश्वबन्धुत्व का विकास** (Development of Universal Brotherhood)—संयुक्त राष्ट्र को अपने कार्यों का निष्पादन इस ढंग से करना चाहिए जिससे राष्ट्रों के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो सके जिससे वे अपने निहित स्वार्थों का विश्वहित में बलिदान कर सकें। अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द बढ़े तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय (International Community) विकसित हो सके।

**12. अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस व्यवस्था** (International Police System)— प्रत्येक राष्ट्र शान्ति व्यवस्था की स्थापना तथा अपने नागरिकों के जान—माल की सुरक्षा के लिए पुलिस की व्यवस्था करता है। जितनी पुलिस व्यवस्था सुदृढ़ तथा शक्तिशाली होगी उतनी ही अपराधों पर रोक सम्भव होगी। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कार्यान्वित करने के लिए पुलिस व्यवस्था होनी चाहिए।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—ऊपर वर्णित सुझावों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अधिक उपयोगी, उद्देश्यपरक तथा शक्तिशाली बनाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में दुर्बलताओं के बावजूद अन्तरर्राष्ट्रीय कानून सदैव गतिशील है। इसका लगातार विकास हो रहा है।

**प्रश्न — अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बाध्यकारी शक्तियों का वर्णन करें। (Describe the sanctions behind International Law.)**

**उत्तर**— भूमिका (Introduction)—प्रायः यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने वाली किसी संस्थागत व्यवस्था के अभाव के कारण इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना अथवा अस्वीकार करना प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों का कार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने हेतु

न्यायाधिकरणों के पद सोपान (Hierchy) का भी अभाव है, इसलिए इसके पात्रों को निम्न से उच्च न्यायालय तक पहुँचने का मौका ही नहीं मिल पाता। इन तथ्यों के बावजूद भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करते हैं, क्योंकि इनके पीछे बहुत—सी बाध्यकारी शक्तियाँ (Effective Sanctions) हैं।

**बाध्यकारी शक्तियों का अर्थ (Meaning of Sanctions of International Law)**

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन करने वाले राज्यों के विरुद्ध की जाने वाली उत्पीड़क (Coersive) कार्यवाहियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बाध्यकारी शक्तियाँ कहा जाता है। । इन शक्तियों का प्रयोग दोषपूर्ण कार्यों के लिए दण्ड देने के लिए किया जाता है। **अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे अनेक बाध्यकारी शक्तियों हैं, जो निम्नलिखित हैं**—

**1. कानून के पालन की तरफ झुकाव** (Motivation for Obedience)— कानून का पालन डर अथवा भय से नहीं किया जाता वरन् इच्छा से किया जाता है (Will and not the force is the sanction behind Law)। वर्तमान में अधिकांश राज्यों की इच्छा कानून के पालन की है क्योंकि कानून का उल्लंघन करने पर उनको अधिक हानि उठानी पड़ सकती है। ब्रियली का यह कथन उचित है कि अधिकांश राज्य यह मानने लग गये हैं कि कानून अराजकता को दूर करता है तथा शान्ति की स्थापना करता है। यही भावना राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के लिए आधार भूमि तैयार करती है।

**2. व्यक्तिगत स्वार्थ** (Self Interest)—वर्तमान में राज्य यह अनुभव करने लग गये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करने से उनके राष्ट्रीय हितों (National Interest) की पूर्ति शीघ्र हो सकती है तथा विदेश नीति की सफलता भी राष्ट्रीय हितों के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आपसी लेन—देन पर आधारित होते हैं। प्रत्येक राज्य सम्बन्धों को बनाये रखना चाहता है।

**3. विश्व जनमत (World Public Opinion)**— विश्व जनमत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का समर्थन करता है। विश्व जनमत के विरुद्ध कोई भी राज्य कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। कोई भी राज्य ऐसा कार्य करने का प्रयत्न नहीं करेगा जिससे विश्व में उनकी गरिमा पर आँच आए। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई तथा आज यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था विश्व जनमत की अभिव्यक्ति का प्रमुख स्थान है। इस संस्था के मंच पर किसी राज्य की आलोचना का सर्वत्र प्रभाव पड़ता है।

**4. सामाजिक सहमति (Social Approval)**— यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून तोड़ा जाता है तो ऐसे कार्य को विश्व समाज की मान्यता प्राप्त नहीं होती। युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं है। कानून को तोड़कर शक्ति तथा युद्ध द्वारा कोई राज्य दूसरे राज्य से जो रियायतें प्राप्त करता है उसमें खर्च अधिक आता है। यदि कोई आक्रमण करने वाला राज्य हार जाये तो उसे मुआवजा भी देना पड़ता है। यह भी राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करवाने की बाध्यकारी शक्ति है।

**5. राजनयिक विरोध (Diplomatic Protests)**— यदि किसी राज्य के प्रतिकूल आचरण के कारण दूसरे राज्य को हानि पहुँचती है तो उसका राजनयिक विरोध पत्र द्वारा अपनी नाराजगी प्रकट करते हैं। ऐसे राजनयिक विरोध पत्रों की अवहेलना करना सम्भव नहीं है तथा राज्य अपनी गलतियों को सुधार लेता है।

**6. युद्ध के कानून का उल्लपंन** (Violations of Laws of War)— वॉन ग्लॉन के अनुसार चार तरीकों से युद्ध के कानूनों का पालन करवाया जाता है। युद्ध के कानून तोड़ने वाले के विरुद्ध प्रचार, युद्ध में अपराध करने वाले को दण्ड का भय, प्रत्याहार, हानि पहुंचाने पर आर्थिक दृष्टि से क्षतिपूर्ति ।

**7. संयुक्त राष्ट्र संघ** (United Nations)— राष्ट्रीय कानूनों को लागू करने के लिए जिस प्रकार की बाध्यकारी व्यवस्था विद्यमान है। वैसी सार्वभौमिक बाध्यकारी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने हेतु उपलब्ध नहीं है। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् ऐसा मानना उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग सुरक्षा परिषद् (Security Council) है। संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के अन्तर्गत शान्ति के लिए खतरा, शान्ति भंग होने अथवा आक्रमण की कार्यवाही होने पर सुरक्षा परिषद् द्वारा संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के अध्याय सात के अनुसार कई कड़े उपाय किये जा सकते हैं। जिनमें आर्थिक प्रतिबंधों का लगाया जाना तथा सामूहिक सैन्य कार्यवाही भी है। सुरक्षा परिषद् अपने निर्णयों को लागू करने के लिए अपने

सदस्यों से आर्थिक सम्बन्धों, रेल, समुद्र, डाक तार, रेडियो तथा अन्य संचार का पूर्ण अथवा आंशिक अवरोध तथा राजनीतिक सम्बन्धों को तोड़ने का अनुरोध कर सकती है। सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाये रखने के लिए वायु, समुद्र तथा भूमि सेनाओं के माध्यम से आवश्यकतानुसार कार्यवाही कर सकती है तथा उसने अनेक बार ऐसा किया भी है। कोरिया संकट 1950 (दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण), स्वेज नहर संकट 1956 (इंग्लैंड, फ्रांस तथा इजरायल द्वारा मिश्र पर आक्रमण), इराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण 1991 आदि संकटों में सेना का प्रयोग किया गया।

**10. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की बाध्यकारी शक्ति** (Sanctions of International Court of Justice)—संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 94 में व्यवस्था की गई है कि "संयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य राष्ट्र ऐसे मामले में जिसमें वह एक पक्ष है, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय के निर्णय का पालन करने का वचन देता है।" यह व्यवस्था भी की गई है कि यदि कोई पक्ष न्यायालय द्वारा दिये गये किसी ऐसे निर्णय के अधीन जिसका पालन करना उसके लिए आवश्यक हो, अपने दायित्त्व का पालन नहीं करता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है।

**11. राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता तथा स्वाधीनता का सम्मान** (Respect for the Territorial Integrity and Independence of State)— संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में यह व्यवस्था की गई है कि 'आत्म सुरक्षा' (Self Defence) को छोड़ कर सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता तथा स्वतन्त्रता के विरुद्ध न धमकी देंगे तथा न ही शक्ति का प्रयोग करेंगे तथा न ही कोई ऐसा कार्य करेंगे जो किसी अन्य रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल हो।

**12. अन्तर्राष्ट्रीय अभ्यास के अनुसार बाध्यकारी शक्तियाँ** (Sanctions according International Practice)—अन्तर्राष्ट्रीय अभ्यास(व्यवहार) के अन्तर्गत भी राज्यों पर दबाव डाला जा सकता है। उन अनुशास्तियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है— (i) राज्यों द्वारा कार्यान्वित अनुशास्तियाँ आत्म सहायता पर आधारित होती हैं। इनमें प्रतिकार, बलपूर्वक प्रतिकार, अमान्यता, राजनयिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद, आत्मरक्षा आदि।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सहायता से कार्यान्वित अनुशास्तियों में सदस्यता से इनकार करना,

(चीन को 1972 तक संयुक्त राष्ट्र का सदस्य नहीं बनाया गया था।) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड़ने पर सदस्यता के अधिकारों से निलम्बित करना, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के क्षेत्र में प्रतिबन्ध तथा सामूहिक कार्यवाही शामिल है। इनका प्रयोग संयुक्त राष्ट्र द्वारा अनेक बार किया गया है।

**13. अन्य बाध्यकारी शक्तियां** (Other Sanctions)— द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की सबसे महान् उपलब्धि मानव अधिकारों (Human Rights) को संरक्षण प्रदान करना है। इस दिशा में अनेक उपाय किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा पास मानव अधिकार घोषणा पत्र 1948, जाति संहार अनुबन्ध 1948, शिक्षा में भेद—भाव के विरुद्ध अनुबन्ध 1960, शरणार्थियों की स्थिति सम्बन्धी प्रोटोकोल 1967, इन महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं के अतिरिक्त जनमत, मुआवजा देने का भय, युद्ध अपराधों के लिए दण्ड आदि भी शामिल हैं।

**निष्कर्ष (Conclusion)—** ऊपर वर्णित तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय अनुशास्तियों का विशेष महत्त्व है। यह सच है कि राज्य के कानून जिस बाध्यता तथा शक्ति के साथ लागू किये जा सकते हैं उस शक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के पालन के लिए अभाव है, परन्तु धीरे—धीरे इस अवधारणा में परिवर्तन हो रहा है। ओपेनहीम का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन धीरे—धीरे बढ़ रहा है, क्योंकि राज्यों में यह धारणा बढ़ती जा रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन उपयोगी है।

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आवश्यक तत्त्व** (ESSENTIAL ELEMENTS OF INTERNATIONAL LAW)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आवश्यक तत्त्वों का वर्णन निम्नलिखित है—

**1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक विधिक(कानूनी) पद्धति है** (International Law is a Legal System)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक विधिक पद्धति है। राष्ट्रों के पारस्परिक 'आचरण के नियम' (Rules of Conduct), रीति—रिवाज अथवा परम्पराएँ

(Customs or Usages), संधियाँ (Treaties), अभिसमय (Conventions), न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions), विधिवेत्ताओं की टिप्पणियाँ (Commentaries by the Legal Experts), न्याय भावना (Equity) इत्यादि हैं।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सहमति तथा स्वीकृति पर आधारित** (Based on the Consent and Acceptance of the International Community) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि ऐसे नियमों का समूह हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सभी स्वतंत्र राज्यों, राष्ट्रोपरि राजनीतिक एवं गैर—राजनीतिक संगठनों एवं संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने अपने पारस्परिक व्यवहार को नियमित करने हेतु सहमति तथा स्वीकृति प्रदान की है।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सार्वभौमिक प्रकृति** (Universal Nature of International Law)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सार्वभौमिक प्रकृति है। यह विधि विश्व के सभी राज्यों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है। सन् 1945 के पश्चात् साम्राज्यवाद समाप्त होने के कारण वर्तमान अंतरराष्ट्रीय कानून केवल तथाकथित 'सभ्य राष्ट्रों'— यूरोपीयन ईसाई राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं है, अपितु आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि विश्व के लगभग 200 से अधिक राष्ट्रों की विधि है।

**4. अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बाध्यकारी प्रकृति** (Binding Nature of International Law)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बाध्यकारी प्रकृति है। यदि इसका पालन न किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के द्वारा उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। सन् 1945 के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के द्वारा चार्टर में दिए गए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करने वाले राष्ट्रों एवं व्यक्तियों के विरुद्ध अनेक बार दण्डात्मक कार्यवाही की गई। संयुक्त राष्ट्र घोषणा—पत्र में सैनिक एवं गैर—सैनिक दण्डात्मक कार्यवाही का वर्णन अध्याय सात (Chapter VIII) में किया गया है। संयुक्त राष्ट्रों के द्वारा अनेक बार बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग किया है। कोरिया संकट (1950), रंगभेद की नीति के विरुद्ध रोडेशिया (1966) तथा दक्षिणी अफ्रीका (1977), इराक—कुवैत संकट (1990), यूगोस्लाविया (1992), लिबिया (1992), सोमालिया (1993), खाण्डा (1994), सीरिया (1996) इत्यादि कई उदाहरण हैं।

**निष्कर्ष (Conclusion)** — अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक जीवन्त विधि है। (International Law is a Living Law)। इसके अनिवार्य तत्त्वों का निरन्तर विकास हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवर्तनशील परिदृश्य के कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियाँ तथा समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं एवं चुनौतियों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के तत्त्वों में निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रहती है।

## अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार (Basis of International Law)

**प्रश्न 1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा दीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधारों और स्रोतों की चर्चा कीजिए।**

**(Define International Law. Discuss the basis and sources of International Law.)**

भूमण्डलीकरण के इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उभरते आयामों की आलोचनात्मक व्याख्या करें।

(Critically examine the emerging dimentions of International Law in the presentage of globalisation.)

**उत्तर**— भूमिका (Introduction)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून कोई नवीन विचारधारा नहीं है। आदिकाल में भी ऐसे नियम तथा रीति—रिवाज थे जो राष्ट्रों के सम्बन्धों को निर्धारित करते थे तथा उनके आचरण को नियमित करते थे। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग इंग्लैंड के एक विद्वान जेरेमी बेन्थम ने 1780 में किया था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के कानून का पर्यायवाची है। इसके समानार्थी फ्रेंच भाषा में ड्रायर्ट—डेस—जेन्स (Driot—des—gens) तथा जर्मन भाषा में वोल्केरेक्ट (Velkerrecht) का प्रयोग होता था, परन्तु बेन्थम ने इस शब्दावली में परिवर्तन किया तथा इसके ड्रायर्ट—एन्द्रे—डेस—जेन्स को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संज्ञा प्रदान की। बेन्थम के पश्चात् बहुत से विद्वानों ने अपने—अपने दृष्टिकोण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की होतद परिभाषाएँ दी हैं। उनकी परिभाषाओं से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जो सभ्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को निर्धारित करते हैं।" — लारेंस

("International Law are the rules which determine the conduct of the general body of the civilized states in their mutual dealings.") —Lawrence

2. ह्यूज के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे सिद्धान्तों का समूह है जिनको सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में प्रयोग करना बाध्य मानते हैं। यह विधि सर्वोच्चता संप्रभु राज्यों की स्वीकृति पर निर्भर है।"

(In the words of Hughes "International Law is the body of principles and rules which civilized states consider as binding upon them in their mutual relations. It rests upon the consent of sovereign states.")

## अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार (THE BASIS OF INTERNATIONAL LAW)

आधुनिक युग में यातायात एवं संचार के साधनों में अभूतपूर्व क्रान्ति के परिणामस्वरूप राज्यों के माध्य राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक संबंधों का निरन्तर विकास हो रहा है तथा विश्व के सभी राज्यों में पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जा रही है। राज्यों के माध्य पारस्परिक आदान—प्रदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा नियमित किया जाता है। परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन क्यों करते हैं? अन्य शब्दों में वे कौन से तथ्य अथवा तत्त्व अथवा कारक हैं जिनके कारण राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करते हैं? इन्हीं तथ्यों अथवा कारकों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार (Basis) माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधारों के संबंध में विद्वानों के विचारों में एकरूपता का अभाव है। **अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधारों के संबंध में निम्नलिखित सिद्धान्त हैं—**

1. प्राकृतिकवादी विचारधारा (Naturalist Theory)

2. अस्तित्ववादी विचारधारा (Positivist Theory)

3. मूल अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights)

4. सहमति का सिद्धान्त (Theory of Consent)

5. आत्म—नियमन का सिद्धान्त (Auto—Limitation Theory)

6. पैक्टा सन्ट सर्वेण्डा (Pacta Sunt Servanda)

7. नैतिकता विधि का आधार (Morality as the basis of Law)

8. सामाजिक आधार (Sociological Basis)

इन सिद्धान्तों में प्राकृतिकवादी तथा अस्तित्ववादी विचारधाराएँ अति प्रमुख विचारधाराएँ हैं। अन्तर्राष्ट्री विधि के उपर्युक्त आधारों का वर्णन निम्नलिखित है—

**1. प्रकृतिवादी विचारधारा (Naturalist Theory)** — प्रकृतिवादी सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्री विधि प्राकृतिक विधि (Natural Law) का एक भाग है। प्रकृतिवादी विद्वानों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत रीति—रिवाज तथा सन्धियाँ न होकर प्राकृतिक विधि है। प्रारम्भ में प्राकृतिक विधि को धर्म से संबंधित माना जाता था। अतः इसे दैवी विधि (Divine Law) माना जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के जनक ग्रोशियस (Grotius) ने प्राकृतिक विधि को धर्म निरपेक्ष स्वरूप प्रदान किया और इसे मनुष्य के 'उचित तर्क' (Rigle Reason) पर आधारित माना है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को बाध्यकारी मानने का मूल कारण यह है कि यह व्यक्ति की तर्कशक्ति पर आधारित है। इसलिए ग्रोशियसवादियों ने प्राकृतिक विधि को आदर्श विधि (Ideal La माना है। संक्षेप में प्राकृतिक विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार है तथा राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय आचरण रीति—रिवाजों तथा संधियों की अपेक्षा बुद्धि तथा विवेक द्वारा नियमित किया जाता है।

मुख्य समर्थक (Main Supporters) — प्राकृतिक विधि को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार मानने वाले विधिवेत्ताओं में ग्रोशियस (Grotius), प्यूफेन डॉर्फ (Pufendorf), क्रिश्चियन बामेसियस (Christian Thomasius), वात्तेल (Vattel), फ्रांसिस हुचीसन, यामस रुदरफोर्ड, जीन बारबरे फ्रांसीसी इत्यादि मुख्य हैं।

**आलोचना (Criticism)**— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार के संबंध में प्रकृतिवादी सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की जा सकती है—

(i) प्राकृतिक विधि का अस्पष्ट अर्थ (The Vague Meaning of Natural Law) — प्राकृतिक सिद्धान्त का समर्थन करने वाले विद्वानों के अनुसार प्राकृतिक विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार है। परन्तु प्राकृतिक विधि का क्या अर्थ है? इस संबंध में विद्वानों के विचारों में एकरूपता का अभाव है। प्रारम्भ में प्राकृतिक विधि को दैवी विधि (Divine law) माना जाता था। ग्रोशियस (Grotius) ने प्राकृतिक विधि को धर्म—निरपेक्ष स्वरूप प्रदान किया और इसे बुद्धि तथा तर्क पर आधारित माना है। केवल यही नहीं अपितु कुछ विद्वानों ने प्राकृतिक विधि को न्याय, आदर्श, उपयोगिता, सामान्यहित इत्यादि भी माना है। अतः प्राकृतिक विधि का अर्थ अस्पष्ट है।

(ii) अव्यावहारिक (Impracticable) — प्राकृतिक विधि अव्यावहारिक एवं कल्पनात्मक है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों का पारस्परिक संबंध एव व्यवहार से संबंधित नहीं है।

(iii) नैतिकता मात्र (Morality only)— आलोचकों के अनुसार प्राकृतिक विधि केवल नैतिकता है। अतः केवल नैतिकता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप बन्धनकारी नहीं हो सकता।

निष्कर्ष (Conclusion)— यद्यपि प्राकृतिक विधि की उपर्युक्त आचारों पर आलोचना की गई है। इसके बावजूद भी प्रकृतिकवादी सिद्धांत के आदर्शवादी रूप ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

**2. अस्तित्ववादी विचारधारा (Positivist Theory)** — अस्तित्ववादी सिद्धान्त प्रकृतिकवादी सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। अस्तित्ववादी सम्प्रदाय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार राज्यों का व्यवहार है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय रीति—रिवाज एवं प्रथाएँ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य स्रोत एवं आधार हैं। अतः अस्तित्ववादियों के अनुसार 'राज्यों की सहमति' (Consent of the States) अथवा 'राज्यों की इच्छा (Will of the States) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मूलाधार हैं।

**मुख्य समर्थक**— रिचार्ड जूसे, बिंकर शाक, हीगेल आदि विद्वान इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं।

**आलोचना (Criticism)**— अस्तित्ववादियों के मत का राज्यों के वास्तविक व्यवहारों पर आधारित होने बावजूद भी अनेक आधारों पर इस मत की आलोचना की गई है, जिन्हें आधारभूत रूप में एस. के. कपूर ने निम्न रूप से प्रस्तुत किया है—

**(i) वास्तविक तथ्यों का स्पष्टीकरण न होना** (No Clarification of Facts)— डा एस. के. कपूर की जो अवधारणा इस मत में अभिव्यक्त की गई है, यह एक पूर्णतः रूपक के रूप में है। यह वास्तविक तथ्यों को और स्पष्ट नहीं करती है। वास्तव में राज्य की इच्छा उस राज्य के नागरिकों की होती है जिनसे मिलकर राज्य बनता है।

**(ii) आलंकारिक (Metaphorical)**— यह मत कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यों की सहमति पर आधारित है, वास्तविकता से परे है। यह मत नवीन राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रवेश करने वाले उदाहरण को समझने में असमर्थ है। जब कोई नया राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बनता है तो उसकी सहमति के बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून उस पर लागू हो जाता है। सहमति के सिद्धान्त के अनुसार केवल वही कानून उस पर लागू होना चाहिए जिस कानून की उसने सहमति प्रदान की है। सर सिसिल हर्स्ट ने भी इस सिद्धान्त को गलत बताया है।

**(iii) व्यवहार में आवश्यक न होना** (Not necessary in Practice)—व्यवहार में यह कभी आवश्यक नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी नियम के बारे में यह स्पष्ट किया जाये कि इस पर राज्य ने अपनी सहमति प्रदान की है अथवा नहीं।

**(iv) राज्यों की सहमति के बिना भी कुछ सिद्धान्त लागू** (Applicable without the Consent of States) —कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो राज्यों पर लागू होते हैं, चाहे राज्यों ने उन पर अपनी सहमति प्रकट नहीं की है। इस विषय में संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 2(6) के अन्तर्गत गैर सदस्य राष्ट्रों को भी संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य तथा सिद्धान्तों पर चलना है, विशेषकर शान्ति तथा सुरक्षा के मामलों में। यह स्पष्ट है कि गैर—सदस्य राष्ट्रों ने इस सिद्धान्त के बारे में अपनी कोई सहमति प्रदान नहीं की है, फिर भी यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक सर्वमान्य सिद्धान्त वन गया है।

**(v) बन्धनकारी सिद्धान्त की धारणा विधि प्रणाली पर निर्भर** (The Binding Nature of Principles Depends upon the Legal System)—डॉ. एस. के. कपूर के अनुसार इसमें शक नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सहमति का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु सहमति के सिद्धान्त की एक बड़ी त्रुटि है कि यह कैसे माना जाये कि स्वयं यह सिद्धान्त बन्धनकारी है। ऐसे सिद्धान्त की वैधता एक विधि प्रणाली पर निर्भर करती है जो बन्धनकारी समझौते की धारणा स्वीकार करता है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— उपर्युक्त आलोचनाओं के पश्चात् भी इस मत की इस अच्छाई को स्वीकार करना होगा कि यह राज्यों के वास्तविक व्यवहारों पर आधारित है। यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि उन्हीं नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय नियम मानना चाहिए जो कि राज्यों ने वास्तव में अपनाए हैं तथा उनका प्रयोग करते हैं। अस्तित्ववादी मत ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में यथार्थवादी अथवा वास्तविकतापूर्ण दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है।

**3. मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights)** — मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रकृतिवादी विचारधारा पर आधारित है। प्रकृतिवादी विचारधारा के अनुसार राज्य की स्थापना से पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहता था। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में स्वतंत्रता, समानता, आत्मरक्षा इत्यादि कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त थे। जिस प्रकार मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था में मूलाधिकार प्राप्त थे उसी प्रकार राज्यों को भी मूलाधिकार अर्थात् मौलिक अधिकार प्राप्त हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं थी उसी प्रकार वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ऐसी कोई नियंत्रणकारी अथवा सर्वोच्च शक्ति नहीं है, जो राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित अथवा नियमित करती है। अतः प्रत्येक राज्य को जो अधिकार प्राप्त हैं उनको मूल अधिकार कहते हैं। राज्यों के मूल अधिकारों में आत्मसंरक्षण (Self Preservation), स्वतंत्रता (Independence), समानता (Equality), पारस्परिक सम्मान (Mutual Respect) इत्यादि सम्मिलित हैं। इन अधिकारों की सुरक्षा हेतु ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्म हुआ है तथा राष्ट्र इसका पालन करते हैं। प्रत्येक राज्य अपने अधिकारों की सुरक्षा हेतु अन्य राज्यों से संबंध स्थापित करता है। इन संबंधों को नियमित एवं नियंत्रित करने हेतु सुस्पष्ट एवं निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है। इन नियमों के द्वारा ही राज्यों के मूलाधिकारों की सुरक्षा होती है तथा कर्तव्य भी निश्चित होते हैं। अतः संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मूल आधार राज्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्य हैं।

**आलोचना (Criticism)**— ब्रियली (Brierly) के अनुसार मूलाधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की जा सकती है—

**(i) अर्थहीन अधिकार** (Meaningless Rights)— मूलाधिकारों के सिद्धान्त के अनुसार जब कोई भी राज्य 'राज्यों के समुदाय' (Community of States) में प्रवेश करता है, तो उसके जन्मजात अधिकार होते हैं। इन अधिकारों को अन्तर्निहित (Inherent) अधिकार कहते हैं। परन्तु ब्रियली के मतानुसार इस प्रकार के अधिकार तब तक अर्थहीन हैं जब तक उनको विधि प्रणाली (Legal System) द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती। अन्य शब्दों में मूलाधिकारों के सिद्धान्त द्वारा वर्णित अधिकारों का कोई विधिक आधार नहीं है। अतः विधिक आधार के अभाव में ये अधिकार 'अर्थहीन, व्यर्थ एवं गैर—विधिक' (Meaningless, Useless and Illegal) हैं।

**(ii) खतरनाक एवं अवांछनीय (Dangerous and Undesirable)** — मूलाधिकारों का सिद्धान्त राज्यों को असीमित स्वतंत्रता प्रदान करता है। परिणामस्वरूप यह राज्यों के मध्य राजनीतिक बंधनों एवं सहयोग पर बहुत कम बल देता है। अतः राज्यों को असीमित स्वतंत्रता प्रदान करना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, व्यवस्था एवं विकास के लिए घातक एवं अवांछनीय है।

**(iii) मौलिक अधिकार ऐतिहासिक विकास की देन है** (Fundamental Rights are the Result of Historical

Development) — यह सिद्धान्त मौलिक अधिकारों— स्वतंत्रता एवं समानता को प्राकृतिक अधिकार मानता है। परन्तु इतिहासवादियों के अनुसार मौलिक अधिकार प्राकृतिक देन न होकर ऐतिहासिक विकास क्रम (Process of Historical Development) का परिणाम है।

**(iv) परस्पर विरोधी होना** (Opposed to one another) — मूलाधिकारों में परस्पर विरोध विद्यमान है। उदाहरणार्थ पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण समानता के अधिकारों में पारस्परिक विरोध है। यदि हम राज्यों के मध्य समानता चाहते हैं तो स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने आवश्यक है। यही बात पूर्ण स्वतंत्रता पर लागू होती है। अतः स्वतंत्रता एवं समानता अपने पूर्ण रूप में एक साथ नहीं हो सकते।

**निष्कर्ष (Conclusion)** — उपर्युक्त आलोचना के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मौलिक अधिकारों का सिद्धान्त उचित नहीं है क्योंकि इससे राज्यों को इतनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बिल्कुल दुर्बल हो जाएगी।

**4. सहमति का सिद्धान्त (The Theory of Consent)** — सहमति के सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्म विभिन्न राष्ट्रों की परस्पर स्वीकृति के आधार पर हुआ है। अन्य शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन राज्य इसलिए करते हैं क्योंकि उन्होंने सहमति प्रदान की है। राष्ट्र अपनी सहमति दो प्रकार से प्रदान करते हैं—

**(i) स्पष्ट सहमति (Express Consent)** — स्पष्ट सहमति राज्य संधियों के द्वारा प्रदान की जाती है। राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न होते हैं। संधियाँ करते समय हस्ताक्षर—कर्त्ता राज्य आचरण के नियमों तथा सिद्धान्तों के प्रति वचनबद्धता प्रकट करते हैं। अन्य शब्दों में संधियाँ सहमति पर आधारित होती है तथा इनके द्वारा निर्मित आचरण के नियमों की बाध्यकारी प्रकृति होती है।

**(ii) परिलक्षित सहमति (Implied Consent)** — राज्यों के द्वारा स्वीकृति लिखित रूप में न देकर आचरण द्वारा प्रदान की जाती है। इस प्रकार की सहमति को 'परिलक्षित सहमति' (Implied Consent) भी कहते हैं। परिलक्षित सहमति का प्रमुख उदाहरण राजदूतों के विशेषाधिकार का है। सहमति के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने एक निर्णय में कहा कि, "अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वतंत्र राष्ट्रों के बीच संबंधों को संचालित करती है। विधि के नियम राज्यों पर बाधित हैं इसलिए उनकी अपनी स्वतंत्र इच्छा ही अभिसमयों में प्रकट होती है अथवा साधारणतः स्वीकृत रूढ़ियाँ ही विधि के नियम हैं जोकि सह—अस्तित्व रखने वाले स्वतंत्र समाजों के संबंधों को क्रियाशील रखने के लिए निर्मित हैं जिनका उद्देश्य समान उद्देश्यों की प्राप्ति है।"

संक्षेप में राज्यों की सामान्य सहमति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार है।

**मुख्य समर्थक (Main Supporters)** — इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों ऐन्जिलोटी (Anziloti), ट्रीपेल (Tripel), ओपेनहीम (Oppenheim) इत्यादि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

**आलोचना (Criticism)**— इस सिद्धान्त के मुख्य आलोचकों में स्टार्क (Starke), ब्रियर्ली (Brierly,) केल्सन (Kelson), फेनविक (Fenwick) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की है—

**(i) अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता का आधार सार्वजनिक सहमति नहीं** (General consent of the States is not the basis of International Law)— फेनविक के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि को मान्यता प्रदान करने का कारण राज्यों की सहमति नहीं है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार सहमति है और राज्य अपनी इच्छा से इसका पालन करते हैं तो राज्य अपनी इच्छा से इसका उल्लंघन भी कर सकते हैं। परन्तु वर्तमान युग में जबकि समस्त विश्व एक इकाई, एक विश्वगाँव अथवा परिवार के समान है, राष्ट्रों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करना इतना आसान कार्य नहीं है। आधुनिक युग में कोई भी राज्य आत्मनिर्भर नहीं है। यही कारण है कि वे पारस्परिक नियमों से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि उनको इन नियमों का पालन करना पड़ता है। अतः सहमति का सिद्धान्त अंन्तर्राष्ट्रीय विधि के उदय एवं विकास का आधार नहीं है।

**(ii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि सभी राज्यों पर बाध्यकारी है** (International Law is binding on all States)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि

सभी राज्यों पर बाध्यकारी है। जिस प्रकार परिवार के एक सदस्य के लिए परिवार के नियमों का पालन करना अनिवार्य है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय परिवार के सदस्यों के लिए अन्तरर्राष्ट्रीय परिवार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के नियम मानना बाध्यकारी है, चाहे उसने सहमति प्रदान की है अथवा नहीं। स्टार्क (Starke) के मतानुसार जब कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करता है तो व्यवहार में यह आवश्यक नहीं कि कोई राज्य यह सिद्ध करे कि दूसरे राज्य ने सहमति प्रदान कर रखी है।

**3. आत्मनियमन का सिद्धान्त** (Auto Limitation Theory)— इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्वतन्त्र तथा सार्वभौम इकाइयां हैं, किन्तु वे अपने ऊपर कुछ ऐच्छिक प्रतिबन्ध लगा लेते हैं, जिन्हें आत्म—नियमन अथवा आत्म परिसीमन (Auto—Limitation) कहा जाता है। राज्य अपने निरंकुश तथा स्वच्छन्द अधिकारों को स्वेच्छा से इसलिए सीमित कर लेते हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति तथा व्यवस्था बनाई रखी जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'सुरक्षा' का अर्थ है—राज्य की अपनी सुरक्षा। यही आत्म नियमन अथवा आत्म परिसीमन अन्तर्राष्ट्रीय कानून को आधार प्रदान करता है तथा इसी आधार पर राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन किया जाता है। स्वतन्त्र राज्य अपनी स्वतन्त्रता में कटौती कर देते हैं तथा अपनी इच्छा को इस विस्तार तक सीमित कर लेते हैं कि वे राज्यों के पारस्परिक आधारों के मूल तत्त्वों का स्वतः पालन करने लग जाते हैं अर्थात् उनमें यह भावना आ जाती है कि वे नियम ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका पालन उन्हें अवश्य करना चाहिए तथा ऐसे अधिकार हैं जिनकी उन्हें आपसी सम्बन्धों के मामलों में अवश्य रक्षा करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम राज्यों पर बन्धनकारी इसलिए हैं क्योंकि इन्हें राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों के बीच बन्धनकारी मानते हैं। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता ही उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करती है।

**आलोचना (Criticism)**— इस सिद्धान्त की अनेक विधिशास्त्रियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई है। इन आलोचकों में ब्रियर्ली, फ्रीडमैन आदि का नाम उल्लेखनीय है। निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

(i) काल्पनिक सिद्धान्त (Imaginary Theory)— आत्म नियमन सिद्धान्त का प्रारम्भ ही परिकल्पना पर आधारित है। वस्तुतः राज्य की इच्छा केवल उन व्यक्तियों की इच्छा होती है जिनसे राज्य बनता है।

(ii) प्रयात्मक नियमों की बाध्यकारी शक्ति का स्पष्टीकरण न होना (No Clarification of Binding Force of Customary Laws)— यह सिद्धान्त प्रथात्मक नियमों तथा प्रथात्मक अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की बाध्यकारी शक्ति का स्पष्टीकरण नहीं करता। आत्मनियमन अर्थात् स्वयं लगाया गया नियमन अथवा नियंत्रण वास्तव में कोई नियंत्रण नहीं होता। राज्य जब चाहे तब स्वयं लगाये गये नियंत्रण को ठुकरा देगा। व्यवहार में प्रायः ऐसा नहीं पाया जाता। आत्मनियमन द्वारा उत्पन्न उत्तरदायित्व की कोई निश्चितता नहीं होती। यह भ्रमात्मक है।

(iii) अस्थिरता की सम्भावना (Possibility of Instability)— आत्मनियमन सिद्धान्त के अनुसार राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के पीछे उनकी इच्छा होती है परन्तु वास्तव में राज्यों द्वारा अभिव्यक्त की गई इच्छा सत्ताधारी व्यक्तियों की इच्छा होती है। अभिजात वर्ग के परिवर्तन के कारण राज्य की इच्छा में भी परिवर्तन हो सकता है। यही नहीं वरन् परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं में परिवर्तन के कारण भी राज्य की इच्छा में परिवर्तन हो सकता है। परिणामस्वरूप राज्य की इच्छा की अस्थिरता के कारण यह सिद्धान्त अस्थिरता को जन्म देता है जो उचित नहीं है।

(iv) दायित्वों के स्पष्टीकरण का अभाव (Lack of Clarification of Obligations)—इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य अपने ऊपर स्वयं लगाये गये प्रतिबन्धों का वहन कैसे करेगा। आत्मनियमन द्वारा उत्तरदायित्व की कोई निश्चितता नहीं रहती। यह भी सम्भव है कि राज्य स्वयं इस चात से इनकार कर दे कि उसने कभी कुछ दायित्वों का निर्वाह करने का वचन दिया था। अतः आत्मनियमन का सिद्धान्त भ्रमात्मक है, असंगतिपूर्ण है।

**निष्कर्ष** (Conclusion)— आत्मनियमन के सिद्धान्त की विधिशास्त्रियों द्वारा कटु आलोचना की गई है, परन्तु आलोचना के कारण यह कहना अनुचित होगा कि इस सिद्धान्त की कोई उपयोगिता नहीं है। कानून के पीछे मान्यता सदैव दण्ड की नहीं होती। राज्य जब स्वयं अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाता है तो उससे यह अपेक्षा भी की जाती है कि जिन सिद्धान्तों तथा आदर्शों को उसने स्वीकार किया है, राज्य उनका पालन भी करेगा।

**4. सन्धि के सद्भाव का सिद्धान्त (पैक्टा सन्ट सर्वेण्डा) (Theory of Pacta Sunt Servanda)**—सन्धि के सद्भाव के सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बाध्यकारी शक्ति एक उच्च मौलिक सिद्धान्त (Supreme Fundamental Principle) पर आधारित है। इस उच्च मौलिक सिद्धान्त को पैक्टा सन्ट सर्वेण्डा कहा जाता है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इटली के एक विद्वान एंजीलोटी ने किया था। उसका कहना था कि 'राज्य परस्पर की गई सन्धियों का पालन सद्भाव के आधार पर करेंगे।' एक बार सन्धि समझौतों की शर्तों पर परस्पर स्वीकृति हो जाने के पश्चात् सम्बन्धित पक्ष शर्तों का पालन करने के लिए सामान्यतथा बाध्य हो जाते हैं। जब राज्य इस सिद्धान्त का पालन करेंगे तो स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी पालन हो जायेगा।

पैक्टा सन्ट सर्वेण्डा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस बात से काई इनकार नहीं कर सकता कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य परस्पर की गई सन्धियों पर अमल नहीं करेंगे तो अव्यवस्था तथा असुरक्षा की स्थिति पैदा हो जायेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि राज्य कोई सन्धि करते हैं तो उसकी शर्तें उन पर बन्धनकारी होती हैं।

**आलोचना (Criticism)**— सन्धि के सद्भाव के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का पालन उच्च मौलिक सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। सन्धियों का पालन 'सद्भाव' के आधार पर किया जाता है। इस विचारधारा की विधिशास्त्रियों द्वारा कटु आलोचना की गई है, जो निम्नलिखित हैं—

**(i) प्रथात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार का स्पष्टीकरण न होना** (No Clarification of the basis of Customary International Law)—यह सिद्धान्त प्रथा सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विधिक आधार के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालता। यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बन्धनकारी शक्ति केवल 'सद्भाव' अथवा पैक्टा सन्ट सर्वेण्डा है। यह सिद्धान्त परम्परागत एवं प्रथात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का स्पष्टीकरण करने में असमर्थ है। प्रथाओं पर आधारित सन्धियाँ सन्धियों तथा समझौतों की उपज न होकर विकासजन्य हैं।

**(ii) सहमति के बिना भी कुछ सिद्धान्त बाध्यकारी** (Some Principles Binding without Consent)—यह सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि स्वाभाविक रूप से सन्धियाँ केवल पक्षकारों पर ही बन्धनकारी होंगी, जब कि कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जो गैरपक्षकारों पर भी बन्धनकारी होते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 2 (6) में यह व्यवस्था की गई है कि जो राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं वे भी शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के लिए इन सिद्धान्तों का पालन करेंगे। सन्धियों की विधि पर वियना अभिसमय में भी उसी प्रकार का प्रावधान है।

**(iii) अराजकता का भय** (Fear of Anarchy)—इस सिद्धान्त की आलोचना के समय यह तर्क दिया जाता है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का पालन सद्भाव के आधार पर नहीं करते, वे अराजकता के भय के कारण करते हैं। यदि राज्य सन्धियों का पालन न करें तो विश्व में अराजकता फैल जायेगी। शान्ति तथा सद्भाव का वातावरण समाप्त हो जायेगा, इसलिए सद्भाव के आधार पर नहीं अराजकता के भय के आधार पर सन्धियों का पालन करते हैं। फेनविक के अनुसार विधि अराजकता का विकल्प है।

**(iv) अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं का महत्त्व** (Importance of International Traditions)—विश्व के सभी राज्यों में कानून के साथ—साथ कुछ प्रथाएँ भी होती हैं तथा लोग कानून की तुलना में परम्पराओं का अधिक पालन स्वाभाविक रूप से करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रथाएँ हैं जिनके पालन की अपेक्षा सभी राज्यों से की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं का विशेष महत्व है तथा पेक्टा सन्ट सर्वेण्डा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा का ही एक नियम है। यह अन्तररर्राष्ट्रीय कानून का आधार नहीं हो सकता। अलग से इस सिद्धान्त का अध्ययन भ्रामक तथा अर्थहीन है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—पैक्ट सन्ट सर्वेण्डा के सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय विधि शास्त्रियों ने कटु आलोचना की है। उपरोक्त की गई आलोचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि इस सिद्धान्त की कोई उपयोगिता नहीं है। किसी भी सन्धि अथवा समझौते की बात करें तो सन्धि का सद्भाव (Good Faith of Treaty) एक बहुत महत्त्वपूर्ण आधार होता है। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि किसी भी राज्य को शक्ति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का पालन करने के लिए विवश नहीं किया

जा सकता। अतः इस सिद्धान्त का महत्त्व है।

**5. नैतिकता विधि का आधार** (Morality as the Basis of Law)— ब्रियली का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार नैतिकता है। अन्य कानूनों की तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इस नैतिक उत्तरदायित्व पर आधारित है। कानून के पालन का उत्तरदायित्व एक नैतिक कर्त्तव्य है तथा यही उत्तरदायित्व कानून की बन्धनकारी शक्ति का आधार है।

**आलोचना (Criticism)**— इस सिद्धान्त को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार नहीं माना जा सकता। यदि कानून के अनुपालन का उत्तरदायित्व एक नैतिक कर्तव्य है तो इसका आशय यह हुआ कि कानून का प्रत्येक विशिष्ट नियम विशुद्ध रूप से नैतिक नियम होगा जबकि कानून वास्तव में नैतिकता से भिन्न होता है। कानून वास्तविकताओं पर भी आधारित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्यों का व्यवहार नैतिकता की अपेक्षा राजनीतिक यथार्थ पर आधारित होता है।

**6. सामाजिक आधार (Sociological Basis)**— कुछ विधिशास्त्रियों का मत है कि अन्य कानूनों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बन्धनकारी शक्ति का आधार भी 'सामाजिक आधार' होना चाहिए। डयूगिट (Duguit) का कहना है कि मानव अस्तित्व के लिए परस्पर आधीनता (Solidarity) एक सामान्य विधि है तथा क्योंकि मनुष्यता के मध्य परस्पर आधीनता सार्वभौमिक है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इसका विद्यमान होना आवश्यक है।

**आलोचना** (Criticism)—सामाजिक आधार को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार स्वीकार करना कठिन है। यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार केवल परस्पर आधीनता कानून के नियमों को बन्धनकारी शक्ति प्रदान कर सकती है। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कानून सामाजिक वास्तविकता का एक भाग है तथा सामाजिक दशाएँ कानून अथवा विधि को प्रभावित करती हैं।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सच्चा आधार (**True Basis of International Law) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि कोई एक ऐसा नियम नहीं है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वास्तविक तथा सच्चा आधार कहा जा सके। नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ त्रुटियाँ हैं अर्थात् कोई भी सिद्धान्त परिपूर्ण कानून के पालन का वास्तविक आधार वही हो सकता है कि राज्यों की यह भावना है कि इन कानूनों का पालन किया जाना चाहिए। कुछ विचारकों का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का राष्ट्रीय कानून से भिन्न कोई आधार तलाश करना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार राज्य का कानून केवल ऐतिहासिक विकास की एक घटना नहीं वरन् मानवीय संस्था का एक अनिवार्य तत्त्व है उसी प्रकार आधुनिक परिस्थितियों में विभिन्न राज्य सामाजिक प्राणी बन गये हैं तथा उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर रहना है। आज कोई भी राज्य एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। विज्ञान तथा तकनीकी विकास के कारण एक राज्य की घटना का प्रभाव केवल उसी राज्य पर नहीं पड़ता वरन् कम अथवा अधिक सभी राज्यों पर पड़ता है। राज्यों की यह पारस्परिक निर्भरता तथा निकटता अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करने के लिए विवश करती है।

सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अधीनता से मुक्त नहीं हो सकता। राज्यों की परस्पर निर्भरता के कारण उनके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के बीच सन्तुलन का होना अनिवार्य है तथा इस आवश्यकता की पूर्ति कानून द्वारा ही सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार 'राज्यों की परस्पर निर्भरता है।' विभिन्न राज्यों की एक—दूसरे पर निर्भरता आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का तथ्य बन गई है। राज्यों की पारस्परिक निर्भरता ने जाने—अंजाने में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को प्रेरणा दी है। ये कानून विभिन्न राज्यों के कानूनी सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। राज्यों की इस भावना ने ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक ठोस आधार प्रदान किया है। आज इसे विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों की मान्यता प्राप्त है। अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सही तथा सच्चा आधार —

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपयोगिता

2. राज्यों की भावना—ही है।

फेनविक के अनुसार अन्तरर्राष्ट्रीय कानून अपने अस्तित्व की आवश्यकता पर आधारित माना जा सकता है। आज की

परिस्थितियों में लोग एक–दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून आवश्यक है।

## अन्तर्राष्ट्रीय विधि का ऐतिहासिक विकास [HISTORICAL DEVELOPMENT OF INTERNATIONAL LAW]

**प्रश्न . अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उत्पत्ति एवं विकास का वर्णन कीजिए। (K.U.K 2007, 2008) (Describe the origin and development of International Law.)**

**अथवा**

**प्रायः यह कहा जाता है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून पश्चिमी सभ्यता की उपज है। इस कयन पर टिप्पणी कीजिए और इस पर साम्यवादी राज्यों का प्रभाव बताओ।**

**(It is generally said that the present International Law is a product of the western civilization. Comment on this statement and discuss the impact of communist states on it.)**

**अथवा**

**ह्यूगो ग्रोशियस के अन्तर्राष्ट्रीय कानून को योगदान पर एक लेख लिखिए। (Write an essay on the contribution of Hugo Grotious to International Law.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में भारतीयों, यूनानियों एवं रोमन्स के योगदान का वर्णन करे। (Describe the contribution of the Indians, Greeks and Romans to the Development of International Law.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास पर एक विस्तृत नोट लिखिए।**

**(Write a detailed note on Historial developmind of International law.)**

**उत्तर– परिचय (Introduction)**– अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) शब्दावली का सर्वप्रथम प्रयोग इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विचारक जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) के द्वारा सन् 1780 में किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि 'राष्ट्रों की विधि' (Law of Nations) का पर्यायवाची है। जेरेमी बेन्थम से पूर्व भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि नाम की धारणा विद्यमान थी अर्थात् ऐसे नियम एवं रीति–रिवाज विद्यमान थे जो राज्यों के पारस्परिक आचरण को नियमित करते थे। इसके समानार्थी फ्रांसीसी भाषा में 'ड्रायर्ट–डेस–जेन्स' (Driot–des–gens– (law of Nations) का प्रयोग होता था तथा जर्मन भाषा में इसके समानार्थी 'वोतकेरेक्ट' (Volkerrecht) शब्दावली प्रचलित है। बेन्थम ने संज्ञा परिवर्तन कर दिया और इसको अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) की संज्ञा प्रदान की है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना की संगठित समाज का इतिहास है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समुचित विकास आधुनिक युग की देन है क्योंकि प्राचीन समय में 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' शब्दावली का अभाव था।

ओपेनहीम (Oppenheim) तथा अन्य यूरोपियन विद्वानों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति एवं विकास यूरोप में हुआ है। इन विद्वानों की यह धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून पश्चिमी सभ्यता की देन है परन्तु भारतीय विद्वानों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति एवं विकास प्राचीन भारत में हुआ। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में आधुनिक यूरोपियन

राज्य प्रणाली का बहुत अधिक योगदान है परंतु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में विश्व के सभी सभ्य राष्ट्र का योगदान है अर्थात् भारतीयों (Indians), यूनानियों (Greeks), रोमनी (Romans), यहूदियों (Jetos) तथा मुसलमानों (Muslims) का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में विशेष योगदान है।

अन्तरर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति एवं विकास के लिए **विधिवेत्ता ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotious)** का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। ग्रोशियस द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उत्पत्ति एवं विकास में एक नवीन दिशा तथा एक नवीन मोड़ प्रदान किया है। यही कारण है कि ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है—

**(a) ग्रोशियस से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law before Grotius)**

**(b) ग्रोशियस के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law After Grotius)**

इन दोनों कालों का वर्णन निम्नलिखित है—

**(a) ग्रोशियस से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law before Grotius)**—ग्रोशियस से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का वर्णन निम्नलिखित है—

**1. प्राचीनकाल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law in Ancient Times)** — अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास प्राचीन काल से ही है। प्राचीनकाल में छोटे—छोटे राज्य होते थे। उनमें पारस्परिक सम्मई विल्कुल कम थे। चूँकि राज्यों की उत्पत्ति एवं विकास एक साथ नहीं हुआ है। इसलिए पारस्परिक संबंधों के नियम भी प्रत्येक स्थान पर एक जैसे नहीं हैं। विश्व के अलग—अलग क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास एक समान नहीं हुआ। प्राचीन काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का वर्णन निम्नलिखित है—

**(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारत का योगदान** (Contribution of India to the Development of International Law) — अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश डॉ. नगेन्द्र सिंह, न्यायमूर्ति एस. एस. धवन तथा अन्य भारतीय विद्वानों के अनुसार अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का विकास प्राचीन भारत में हुआ है। इस तथ्य की जानकारी हमें मनुस्मृति (Manusamriti), रामायण (The Ramayana), महाभात (The Mahabharata), कौटिल्य की प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र (Arthashastra) इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी युद्ध के उपरान्त की संधियों का वर्णन मिलता है। भगवद्गीता के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि युद्धों की पूर्व घोषणा करनी चाहिए। 'रामचरितमानस में सुन्दरकाण्ड में यह प्रसंग आता है 'नीति विरोध न मारिय दूता'— अर्थात् दूत को मृत्युदण्ड देना नीति अथवा प्रथा के विरुद्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य के प्रशासनिक एवं विदेशी मामलों का वर्णन आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य के प्रशासनिक एवं विदेशी मामलों का वर्णन आता है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में शान्तिकालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law of Peace युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law of War), राजदूतों की उन्मुक्तियों एवं सुविधाओं में संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Inernational Law relating to the Immunities and Privileges of the Diplomatic Agents) इत्यादि स्पष्ट रूप से विकसित थे। प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कानून वैदिक काल ,रामायण काल, महाभारत काल तथा चन्द्रगुप्त मौर्य काल में पूर्णतथा विकसित थे , परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। **प्राचीनकाल में भारत में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का संक्षिप्त वर्णन निम्न है—**

1. मनुस्मृति के अनुसार निःशस्त्र अथवा वाहन रहित व्यक्ति का वध नहीं होना चाहिए।

2. युद्ध में अचेतन अथवा असावधान व्यक्ति का वध अपवर्जित है।

3. लोहे की नोकवाली, जहर से युक्त तथा अग्निबाणों का प्रयोग अपवर्जित है।

4. महाभारत के अनुसार संध्याकाल में युद्ध बन्द होने के पश्चात् पुनः शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए।

5. जो व्यक्ति रथ से उतर कर जमीन पर आ जाए, निःशस्त्र हो अथवा सोया हुआ हो अथवा रथ जोड़ रहा हो ऐसे व्यक्ति का वध नहीं करना चाहिए।

6. दूतों का वध अपवर्जित है। अर्थात् राजदूत को मारना लोकाचार से निन्दित है।

7. स्त्रियों, बच्चों, संधि याचना करने वालों, युद्ध में भाग न लेने वाले व्यक्तियों तथा शरणार्थियों को युद्ध में मारना पाप है।

8. भारतीय प्राचीन ग्रन्य में युद्ध का वर्गीकरण भी मिलता है—1. धर्मयुद्ध तथा 2. क्रूर युद्ध। धर्म युद्ध में नियमों का पालन करना अनिवार्य है जबकि क्रूर युद्ध (अधार्मिक युद्ध) में नियमों का पालन करना अनिवार्य नहीं है।

संक्षेप में प्राचीन भारत ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास काफी उन्नत अवस्था में था। अतः हम यूरोपियन विद्वानों के इस विचार से सहमति प्रकट नहीं करते कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास यूरोपियन देशों में हुआ है। अतः प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

**(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यहूदियों का योगदान** (Contribution of Jews to the Development of International Law)— यहूदियों के प्राचीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहूदियों की संस्कृति प्राचीन है तथा यहुदियों के दूसरे देशों से संबंध थे। यहूदियों की प्रसिद्ध पुस्तक 'डिट्रानमी' में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। यहूदियों की प्राचीन संस्कृति में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कतिपय उदाहरण निम्न हैं—

1. यहूदियों के संबंध ऐसे राष्ट्रों से होते थे जो शत्रु राष्ट्र नहीं थे। ऐसे राष्ट्रों के साथ युद्ध होने पर भी क्रूर व्यवहार वर्जित था परन्तु जिन राष्ट्रों के साथ संबंध नहीं थे उनके साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते थे। वे केवल युद्ध करने वालों को नहीं अपितु स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों को भी मार देते थे।

2. यहूदियों द्वारा संधियों का पालन विधिपूर्वक होता था तथा कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी वे शत्रु को दिए गए वचनों का पालन करने का प्रयास करते थे।

3. यहूदियों की संस्कृति में राजदूतों की हत्या करना वर्जित था अर्थात् उन्हें अवध्य माना जाता था।

4. विदेशी दासों के प्रति यहूदियों के व्यवहार के नियम बिल्कुल नरम थे। यदि किसी स्वामी के द्वारा दास की हत्या कर दी जाती थी तो उसे सजा मिलती थी।

5. यहूदियों का देशवासियों और विदेशियों के साथ एक समान व्यवहार होता था। यहूदियों का मुख्य नारा था— "अजनबी से प्रेम करो चूंकि तुम कभी अजनबी थे।" (Love the stranger; for you were strangers in the land of Egypt.") यह नारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतीक है।

6. यहूदियों के पुराने अहदनामें की पुस्तक 'डिट्रानमी' के अनुसार युद्ध में स्त्रियों एवं बच्चों को मारना वर्जित है। संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यहूदियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

**(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में यूनानियों का योगदान** (The Contribution of the Greeks to the Development of International Law) — भारतीय संस्कृति की भाँति यूनानी संस्कृति भी प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। यूनान के प्रसिद्ध चिन्तक—सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू का चिन्तन आज कुछ सीमा तक वर्तमान शताब्दी में भी मार्ग दर्शक है। यूनान में अनेक स्वतंत्रत राज्य थे तथा उनके पारस्परिक संबंध विद्यमान थे। यूनानी स्वतंत्र राज्यों के संबंध निश्चित नियमों पर आधारित थे। यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक निम्न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को विकसित किया—

1. यूनानी नगर राज्यों में पारस्परिक आचरण के नियम संधियों (Treaties) पर आधारित थे।

2. यूनानी नगर राज्यों ने युद्ध तथा शान्ति के नियमों (Law of War and Peace) को विकसित किया हुआ था।

3. यूनानी नगर राज्य पारस्परिक विवादों का समाधान विवाचन (Arbitration) के द्वारा करते थे।

4. यूनानी नगर राज्यों में पूर्व घोषणा के बिना युद्ध नहीं होता था।

5. यूनानी नगर राज्यों में युद्ध बन्दियों (Prisoners of War) के आदान—प्रदान की प्रथा विद्यमान थी।

6. धार्मिक स्थान अनुल्लंघनीय (Inviolable) थे तथा धार्मिक स्थानों में शरण लेने वालों की हत्या करने की मनाही थी।

7. युद्धभूमि में मारे गए सैनिकों का दाह—संस्कार किए जाने की प्रथा विद्यमान थी।

8. राजदूतों के साथ उचित व्यवहार की प्रथा विद्यमान थी तथा उन्हें कष्ट देने की मनाही थी।

**रोमनों का योगदान (Contribution of Romans)**—यूनान की अपेक्षा रोम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। **स्वार्लीन के अनुसार** 'इस बात का श्रेय रोमन लोगों की कानूनी बुद्धि पर है कि आजकल का अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन्हीं कानूनों पर आधारित है।' ईसा से तीसरी सदी पूर्व रोम ने दूसरे स्वतन्त्र समाजों का अस्तित्व स्वीकार किया तथा औपचारिक सन्धियों के माध्यम से उनके साथ सम्बन्ध बनाए। आरम्भ में रोम में बीस पुरोहितों की एक मण्डली होती थी, जिनको 'फैटियालस' कहा जाता था। इस मण्डली का कार्य विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना होता था। यह मण्डली उस समय नियुक्त की जाती यी जब युद्ध तथा शान्ति की स्थापना की जाती थी। अन्य शब्दों में सुरक्षा सन्धि करते समय, राजदूत भेजने तथा प्रत्यापर्ण करते समय, विदेशी राज्यों के विरुद्ध दावा दायर करते समय फैटियालस की नियुक्ति की जाती थी। रोमवासियों के समस्त धार्मिक प्रथाओं के कार्य इन पुरोहितों द्वारा सम्पन्न करवाये जाते थे।

रोम के लोगों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में जो योगदान दिया गया, वह निम्नलिखित हैं—

1. किसी राज्य से मैत्री सन्धि की स्थिति में वहाँ के नागरिकों तथा उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा। मैत्री सन्धि न होने की दशा में कोई संरक्षण नहीं। ऐसे विदेशियों को दास अथवा बन्दी बनाया जाता था।

2. यदि दास अपने देश में जाना चाहे तो उसे स्वतन्त्र नागरिक मान लिया जाता था। इस व्यवस्था को 'नस पोस्ट लिमिनाई' कहा जाता था। वर्तमान में इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहा जाता है।

3. नागरिकों तथा विदेशियों के लिए अलग—अलग कानून थे। कानूनों को लागू करने के लिए विशेष मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए जाते थे। इन विशेष मैजिस्ट्रेटों को 'प्राक्टर पैरेग्रिनस' कहा जाता था।

4. रोमन लोग दो प्रकार के युद्ध मानते थे— न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण । न्यायपूर्ण युद्ध वह होता था जो निम्नलिखित कारणों से लड़ा गया हो— (i) रोमन राज्यों की सीमाओं का उल्लंघन। (ii) राजदूतों को दी गई सुविधाओं का उल्लंघन। (iii) सन्धियों का उल्लंघन। (iv) किसी मित्र राष्ट्र द्वारा युद्ध के समय शत्रु की सहायता करना।

इन कारणों से युद्ध तभी किया जाता था जब फैटियाल पुरोहित देवताओं को साक्षी बनाकर युद्ध की घोषणा करें।

5. रोमन कानून के अनुसार युद्ध की समाप्ति तीन प्रकार से होती थी— सन्धि द्वारा, आत्मसमर्पण द्वारा,

शत्रु देश की विजय द्वारा ।

6. रोम के लोगों ने सन्धि के सम्बन्ध में भी विचार दिए हैं। **रोमन कानून के अनुसार सन्धियाँ तीन प्रकार की होती थीं—**

मित्रतापूर्ण सन्धि , सहयोग द्वारा सन्धि , आतिथ्य द्वारा सन्धि ।

सन्धियाँ करते समय धार्मिक प्रक्रिया अपनाई जाती थी तथा यह समझा जाता था कि सन्धियाँ पवित्र होती हैं।

7. राजदूतों का वध न करने का सिद्धान्त रोम में माना जाता था।

8. युद्ध तथा शान्ति के बारे में भी कानून प्रचलित थे। युद्ध को एक कानूनी संस्था माना जाता था।

ऊपरवर्णित तथ्यों से स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में रोम के लोगों ने महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है। ओपेनहीम के अनुसार, "रोमन नियों की तुलना आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से तो नहीं कर सकते तथापि भविष्य में होने वाले राष्ट्रों के नियमों के लिए हम उन्हें मार्ग दर्शन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।" ब्रियली के अनुसार, "16वीं सदी में यूरोप में रोमन कानून की स्थिति ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भ पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।"

### मध्य युग में अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law in the Middle Ages)

रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् यूरोप का इतिहास तमोयुग के नाम से जाना जाता है। उस समय चारों ओर अव्यवस्था का साम्राज्य था। न्याय तथा कानून का अस्तित्व नगन्य था। यह अव्यवस्था अधिक समय तक नहीं रही। धीरे—धीरे इस अव्यवस्था में सुधार होने लगा। पोप की शक्ति बढ़ी। धर्म तथा राजनीति के मेल से उदण्डता पर कुछ नियंत्रण लगाने में सफलता हुई। परन्तु यह व्यवस्था भी अधिक समय तक नहीं रही। जर्मन तथा इटली छोटे—छोटे राज्यों में बंट गया। स्पेन बहुत बलवान तथा शक्तिशाली हो गया। छोटे—छोटे राज्य में अनेक छोटे—बड़े सामन्त (जागीरदार) पैदा हो गए। वे शाही ठाठ की जिन्दगी बिताने लगे। उनमें आपस में ईर्ष्या बढ़ी परिणामस्वरूप उनमें युद्ध होने लगे। किसानों की दुर्दशा बढ़ी, स्त्रियों पर अत्याचार बढ़े। इस अव्यवस्था में यदि किसी की कोई मान्यता थी तो वह पोप था। किन्तु मार्टिन लूथर के धर्म सुधार आन्दोलन के कारण पोप के सम्मान को ठेस पहुँची। मार्टिन लूथर द्वारा प्रचारित प्रौटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के पोप के साथ झगड़े बढ़ते चले गए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभाव था और कोई ऐसी केन्द्रित शक्ति नहीं थी जो नैतिक तथा अलिखित कानूनों का पालन करवा सके। रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विचार मन्द पड़ गया था। अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का विकास रुक गया था। इस अशान्ति तथा अव्यवस्था के युग को 'अन्धकार का युग' कहा जाता था और ऐसा कहना अनुचित नहीं है।

### 15वीं और 16वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (International Law in 15th and 16th Centuries)

मध्य युग में राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान के पश्चात् इस विचारधारा ने पुनः जोर पकड़ा। मध्य युग में उपनिवेशवादी प्रशासन की रोमन व्यवस्था के स्थान पर सामन्तथादी व्यवस्था स्थापित हो गई थी। इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अत्यन्त सीमित रूप में विकास हो सका।

राष्ट्रों के कानून की आवश्यकता उस समय तक नहीं पड़ी जब तक कि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अनेक राज्य स्थापित नहीं हुए। स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों के विकास की प्रक्रिया वर्दून की सन्धि 843 ई. (The Treaty of Verdun, 843 A.D.) से प्रारम्भ हुई तथा 15वीं सदी के अन्त तक अर्थात् जर्मनी के शासक फ्रेडरिक तृतीय के समय सन् 1440 से 1493 तक अपनी चरम शिखर तक पहुँच गई। फ्रेडरिक तृतीय पोप द्वारा बनाया गया अन्तिम सम्राट था। वास्तव में उस समय यूरोप अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था तथा इनके आपसी सम्बन्धों पर विचार करने के लिए कानून की आवश्यकता थी। इस समय ओपेनहीम के अनुसार सात महत्त्वपूर्ण तत्त्वों द्वारा आधारभूमि तैयार की गई।

**ये निम्न प्रकार थे—**

**1. नागरिक तथा कैननवादी विवाद** (Civilian and Cannonist Controversy)—नागरिकों तथा कैननवादियों में विवाद रोमन कानून तथा ईसाई धर्म के कानून की सर्वोच्चता को लेकर था। इरनेरियस ने 12वीं सदी में बोलोन में रोमन विधि की शिक्षा दी तथा इसी समय में इसका पश्चिम में प्रचार आरम्भ हुआ। इरनेरियस तथा उसके अनुयायियों ने यह धारणा पुष्ट की कि रोमन विधि सभ्य संसार की विधि है।

वस्तुतः ये धार्मिक लोग थे। इन्होंने नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से युद्ध सम्बन्धी ऐसे अनेक प्रश्नों पर विचार किया जो भावी युद्ध सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पूर्व रूप हुए। परन्तु इरेनिरयस तथा उसके अनुयायियों के विचारों के विपरीत कैननवादियों

ने इस बात का प्रतिपादन किया कि ईसाई धर्म के कानून राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सर्वोच्च हैं।

**2. समुद्री कानून (Laws of Sea)**— रोमन साम्राज्य के पतन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जो अन्त हो गया था। उसका हवीं शताब्दी के आरम्भ में पुनः उत्थान होने लगा। समुद्री व्यापार की विशेष रूप से वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप सामुद्रिक व्यापार सम्बन्धी नियमों का विकास हुआ। समुद्री कानूनों के संग्रह ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के कारण महासमुद्रों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न हुए। इसने अप्रत्यक्ष रूप से अन्तरर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावित किया।

15वीं तथा 16वीं सदी तक समुद्री व्यापार के सम्बन्ध में अनेक कानूनों का विकास हुआ। अनेक नियमों तथा प्रथाओं का संहिताकरण (Codification) हुआ।

**3. व्यापारिक नगरों के संघों की स्थापना (Establishment of League of Trade Cities)**—एक तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व अनेक व्यापारिक नगरों के संघ का अभ्युदय होना है। अपने व्यापार की रक्षा के लिए ऐसे संगठन अस्तित्व में आए। इन संघों में हेसियाटिक लीग, सबसे महत्त्वपूर्ण संघ है। 'इन संघों ने अपने सदस्य नगरों के बीच विवादों के समय पंच निर्णयों को प्रोत्साहित किया। पंच निर्णयों का अन्तरर्राष्ट्रीय कानून में बहुत महत्त्व है। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने के लिए पंच निर्णयों का विशेष तथा सम्मानजनक स्थान है।

**4. राजदूतों का विनिमय (Exchange of Ambassadors)**— मध्य युग में केवल पोप के ही राजदूत राजाओं की राजधानी में रहते थे। बाद में इटली के प्रजातंत्र राज्य वेनिस, फलोरेन्श आदि ने राजदूत भेजने की प्रणाली आरम्भ की। 15वीं सदी के अन्त तक अनेक राज्यों ने राजदूतों को भेजने की परम्परा आरम्भ की। परिणामस्वरूप विदेशों में राजदूत के अधिकार, स्वतन्त्रता तथा अपने दूतावासों के भीतर अधिकार सम्बन्धी नियमों का निर्माण धीरे—धीरे होता गया। राजदूतों के सम्बन्ध में व्यवस्था अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्वपूर्ण आधार तथा अंग है।

**5. स्थायी सेना की स्थापना** (Establishment of Permanent Army)—15वीं सदी के आस—पास बड़े राज्यों ने स्थायी सेना रखने की परम्परा का आरम्भ किया। सेना में एक ही ढंग के कड़े अनुशासन ने युद्ध के सामान्य नियमों तथा व्यवहारों को जन्म दिया। इससे पूर्व सामन्तों के युग में अस्थायी सेना होती थी। युद्ध के पश्चात् इनकी छुट्टी कर दी जाती थी। परन्तु स्थायी सेना के कारण आचरण के सामान्य नियमों का विकास हुआ।

**6. पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार** (Renaissance and Religious Reforms)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान पुनर्जागरण तथा धर्म सुधारों का था। विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में जो नए विकास हुए उनके परिणामस्वरूप यूनानी जीवन के दार्शनिक तथा सौन्दर्यात्मक आदर्श आधुनिक जीवन में बदल गए। धार्मिक सुधार आन्दोलन वास्तव में सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन था। प्रोटैस्टैन्ट आन्दोलन के कारण पोप की सत्ता का अन्त हो गया। मार्टिन लूथर प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन के कारण पोप के प्रभाव तथा सत्ता की भावना ने राष्ट्रीय राज्य की भावना को विकसित किया। राष्ट्रीयता के विचार के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवधारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया.।

**7. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के कार्यक्रम** (Programmes of International Peace) — यूरोप में शान्ति की स्थापना के लिए 14 वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक निम्नलिखित कार्यक्रमों तथा योजनाओं का निर्माण किया गया—

(i) प्रथम योजना फ्रांसीसी विधि विशेषज्ञ पियरे दूबोइस (Prere Dubois) ने अपनी पुस्तक 'डेलि पटेसनी टोरी सानेटी' में कलमबद्ध की। इस योजना के अनुसार यूरोप के समस्त राज्य इस्लाम के विरुद्ध आपस में संधि द्वारा संगठित हो जाए ताकि यूरोप में शांति की स्थापना हो सके तथा पारस्परिक विवादों के समाधान के लिए स्वायी न्यायालय (Permanent Court) की स्थापना की जाए।

(ii) सन् 1461 में बोहेमियों के सम्राट् ने अपने प्रधानमन्त्री आत्यामेरिनी के परामर्शानुसार यूरोपियन ईसाई राज्यों का संघ बनाने का प्रयाए किया।

(iii) सन् 1603 में फ्रांस के सम्राट् हैनरी चतुर्थ (Henry IV) ने अपने मन्त्री सली के द्वारा तैयार की गई योजना को स्वीकार किया। इस योजना के अनुसार समस्त यूरोप को 15 राज्यों में विभाजित धार्मिक सुधार आंदोलन से आधुनिक काल तक

**धार्मिक सुधार आंदोलन से आधुनिक काल तक अंतरराष्ट्रीय कानून का विकास**

मध्य युग में अन्तरर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अभिव्यक्त किए गए विचारों का दृष्टिकोण मूलतः ईसाई धर्म से प्रभावित था जबकि आधुनिक युग की प्रवृत्तियाँ अधिकतर धर्म निरपेक्ष रहीं। यूरोप में उत्पन्न अराजकता तथा उथल—पुथल ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभाव एवं आवश्यकता अनुभव की गई। अमेरिका में विभिन्न प्रदेशों से स्वामित्व के अनेक प्रश्न उठे तथा जिसके कारण विवादों का जन्म हुआ।

पोप तथा पवित्र रोम साम्राज्य की सत्ता का अन्त तथा राष्ट्रीय राज्यों का विकास हुआ। प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ।

इन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विभिन्न समस्याओं का जन्म हुआ तथा अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार रखे। 15वीं सदी से लेकर 17वीं सदी के प्रथम दशक तक ग्रोशियस से पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। अनेक विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में अपने विचार रखे। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

**1. फ्रांसिस्को विटेरिया (1480 से 1546)**— विटेरिया स्पेन के सालमाका विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। विटेरिया ने इस बात पर जोर दिया कि गैर—ईसाई राज्य तथा राजा भी अस्तित्व का अधिकार रखते हैं। उनके विरुद्ध केवल न्यायपूर्ण कारणों से ही युद्ध छेड़ा जा सकता है। उसने स्वतन्त्र व्यापार का भी समर्थन किया।

**2. फ्रांसिस्को सुआरेज (1548 से 1617)**—फ्रांसिस्को सुआरेज ने जस जैन्शियम तथा प्राकृतिक कानून की व्याख्या की तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून से उनके सम्बन्धों का उल्लेख किया। यद्यपि सभी राष्ट्र स्वतन्त्र हैं फिर भी वे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में परस्पर निर्भर तथा एक कानून के अधीन हैं।

**3. पेरिनोवेली (1502 से 1575)**—वैली ने युद्ध तथा सैनिक विषयों पर विचार किया। उसने युद्ध बन्दियों के साथ क्रूर व्यवहार का विरोध किया तथा शत्रु के अधिकृत प्रदेश के निवासियों के साथ अच्छे व्यवहार करने की बात कही। यदि कोई शासक पंच निर्णय को स्वीकार करता तो उत्तके विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही नहीं है की जानी चाहिए।

**4. जैन्टिली (1552 से 1608)**—जैन्टिली ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कानून का प्राध्यापक था। उसने युद्ध के कारणों, युद्ध के स्वरूप तथा शान्ति सन्धियों के बारे में विस्तार से विवेचन किया। सन्धियों का पालन तत्कालिक शासकों द्वारा ही नहीं उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी किया जाना चाहिए। उसने धर्म को कानून से अलग करने का समर्थन किया। समुद्रों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को जैन्टिली ने अनेक प्रतिबन्धों के साथ स्वीकार किया। समुद्री डाकुओं का कड़ा विरोध किया। उसके विचारों की सबसे बड़ी कमी है कि वह नैतिकता को कोई महत्त्व नहीं देता। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर नैतिकता के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता।

**ग्रोशियस : आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जनक के रूप में** (Grotius: As the Father of Modern International Law) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में ग्रोशियस (1583—1645) का अभूतपूर्व योगदान है। ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में Man है। के action to Dutch Jurisprudence (16324)इयादि ग्रन्थ), De Jure Belli Ac Pacis अर्थात् The Laws of War and Peace (1623—24) इत्यादि उल्लेखनीय है। ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में निम्नलिखित योगदान हैं—

(1) ग्रोशियस ने जस जैसियम (Jus Gentium)— रीति—रिवाजों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा जस नेचर (Jus Nature)— राष्ट्रों के प्राकृतिक कानून (Natural Law of Nations) को बिल्कुल पृथक माना है तथा जस नेचर (Jus Nature) को अधिक महत्त्व दिया है।

(ii) ग्रोशियस ने धार्मिक सहिष्णुता और धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कैथोलिकों (Cathalics), मुसलमानों (Muslims) तथा अन्य विधर्मियों के विरुद्ध पक्षपात करने का विरोध करते हुए उनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ करने का समर्थन किया है।

(iii) ग्रोशियस ने अपनी पुस्तक (Mare Liberium) (खुला समुद्र) में समुद्र में स्वतंत्रतापूर्वक जहाज ले जाने के अधिकार का समर्थन किया है।

(iv) ग्रोशियस ने राजदूतों को दूसरे राज्यों के कानूनी नियंत्रण से मुक्ति का समर्थन करते हुए उनकी सुविधाओं तथा उन्मुक्तियों पर बल दिया है। राजदूतों पर फौजदारी मुकदमा चलाने तथा उनकी सम्पत्ति को जब्त करने का विरोध किया है।

(v) ग्रोशियस संधियों (Treaties) के साधारण अनुबन्धों (Contracts) में पृथक्करण करने वाला प्रथम विद्वान् था। वह अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की पवित्रता को स्वीकार करता है तथा संधियों को कर्ताओं एवं उनके उत्तराधिकारियों के लिए बाध्यकारी मानता है।

(vi) ग्रोशियस प्रथम विद्वान् या जिसने अपराधों पर नियंत्रण करने के लिए अपराधियों के प्रत्यार्पण (Extradition) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(vii) ग्रोशियस से पूर्ववर्ती विद्वानों ने तटस्थता (Neutrality) के सिद्धान्त तथा व्यवहार का बित्कुल सीमित वर्णन किया था। परन्तु ग्रोशियस प्रथम विद्वान् है जिसने युद्ध के समय तटस्थ राज्य के कानूनी स्तर, अधिकारों तथा विशेषाधिकारों एवं कर्तव्यों का व्यापक वर्णन किया है।

(viii) ग्रोशियस के द्वारा विनिषद्ध (Contraband) वस्तुओं का वर्गीकरण किया है।

उपरोक्त विचारों से प्रकट होता है कि ग्रोशियस आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक एवं संस्थापक था।

**(b) ग्रोशियस के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law After Grotius)**

**1. 18वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास (Development of International Law in 18th Century)** — ग्रोशियस के पश्चात् 18वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के संबंध में निम्नलिखित तीन सम्प्रदायों (विचारधाराओं) का उदय हुआ—

(i) प्रकृतिवादी सम्प्रदाय (Naturalists School)

(ii) अस्तित्ववादी सम्प्रदाय (Positivists School)

(iii) ग्रोशियनवादी सम्प्रदाय (Grotianists School)

इन तीनों सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

**1. प्रकृतिवादी सम्प्रदाय (Naturalist School)**— प्रकृतिवादी विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्राकृतिक कानून (Natural Law) का एक भाग माना है। प्रकृतिवादी सम्प्रदाय के समर्थक अन्तर्राष्ट्रीय रीति—रिवाजों और संधियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत नहीं मानते। इस विद्वानों के अनुसार अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत प्राकृतिक कानून है। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण का निर्धारण रीति—रिवाजों तथा संधियों की अपेक्षा वृद्धि के द्वारा किया जाता है। प्रकृतिवादी सम्प्रदाय के मुख्य समर्थकों में सेमुअल प्यूफेन्डार्फ, थामस हॉब्स, क्रिश्चियन थोमासियस, फ्रांसिस हुचीसन, थामस रूदरफोर्ड, जीन बारबेरे फ्रांसीसी इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

**2. अस्तित्वादी सम्प्रदाय (Positivists School)**— अस्तित्वादी सम्प्रदाय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य स्रोत

अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ तथा रीति—रिवाज हैं। अस्तित्वादी प्रकृतिवादी सम्प्रदाय के बिल्कुत विपरीत हैं। अन्य शब्दों में अस्तित्वादी प्राकृतिक विधि के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। इस सम्प्रदाय का श्रीगणेश रिचर्ड जूसे (Richard Zouche) ने किया। अस्तित्ववादी सम्प्रदाय के मुख्य समर्थकों में बिंकरशॉक (Bynkershock), जॉन जेकॉव मोसर, जार्ज फ्रीडरिख वॉन मोरटेस इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

**3. ग्रोशियस सम्प्रदाय (Grotius School)** — ग्रोशियन सम्प्रदाय के समर्थकों ने प्रकृतिवादी सम्प्रदाय तथा अस्तित्ववादी सम्प्रदाय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के तालमेल स्थापित करने का प्रयास किया है। ग्रोशियन सम्प्रदाय के अनुसार के स्रोत प्राकृतिक विधि के साथ—साथ प्रथाएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ भी हैं। अर्थात् प्राकृतिक विधिओं, प्रथाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का मेल ही अन्तरर्राष्ट्रीय कानून है। ग्रोशियन सम्प्रदाय के मुख्य समर्थकों में जर्मन दार्शनिक उल्फ, वातेल, क्रिश्चियन वोल्फ इत्यादि ने किया है। इन विद्वानों के **कानून को दो भागों** में बाँटा जा सकता है—

(i) ऐच्छिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून; तथा

(ii) अनिवार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून।

ऐच्छिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि रीति—रिवाजों तथा संधियों के द्वारा निर्मित है जबकि अनिवार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक विधि पर आधारित है। अतः इस प्रकार ग्रोशियनवादी सम्प्रदाय प्राकृतिकवादी तथा अस्तित्ववादी सम्प्रदायों का सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

**19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास** (Development of International Law in the 19th Century)—19वीं शताब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के चरणों का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) वियना की कांग्रेस, 1815 (Congress of Vienna, 1815)— वियना कांग्रेस (सितम्बर 1814 से जून 1815) का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वियना कांग्रेस में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के अनेक नियम प्रतिपादित किए। इन नियमों में अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौकायन के नियमों तथा राजनैतिक प्रतिनिधियों (राजदूतों) के संबंध में नियमों का निर्धारण किया गया। इसके अतिरिक्त इस सम्मेलन में दास प्रया को समाप्त करने के लिए भी सहमति हुई।

(ii) पेरिस घोषणा, 1856 (Paris Declaration, 1856) — पेरिस घोषणा, 1856 में समुद्री युद्ध के नियमों तथा नाकेबन्दी (Blockade), विनिसिद्ध (Contraband) इत्यादि के संबंध में नियमों का निर्माण किया गया।

(iii) जेनेवा घोषणा, 1864 (Geneva Declaration, 1864)— इस घोषणा में स्थल युद्ध में घायलों तथा रोगी व्यक्तियों की स्थिति सुधारने के लिए नियमों का निर्धारण किया गया। इस घोषणा के अनुसार घायल सैनिकों को मारना निसिद्ध किया गया।

(iv) सेंट पीटर्सबर्ग घोषणा, 1864 (St. Petersburg Declaration, 1868)— इस सम्मेलन में निम्नलिखित नियमों का निर्धारण किया गया—

1. युद्ध शत्रु सैनिक बलों को निःशक्त करने अथवा मनुष्यों को सर्वाधिक संख्या में असमर्थ बनाने के अधिकार को स्वीकार किया गया;

2. ऐसे शस्त्रों का प्रयोग निषिध किया गया जिनसे असमर्थ व्यक्ति के कष्टों में निरर्थक वृद्धि हो अथवा उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाए; तथा

3. 400 ग्राम से कम भार के प्रक्षेपणों (जैसे तोप की गोलियाँ) जो धमाके के साथ फटने वाले हों अथवा फटने वाले हों अथवा जलने वाले पदाथों से युक्त हों का प्रयोग निसिद्ध करने का निर्णय लिया गया।

(v) अठारहवीं शताब्दी में आर्थिक एवं सामाजिक हितों की सुरक्षा के लिए अनेक सम्मेलन हुए। इन सम्मेलनों के परिणामस्वरूप सरकारी एवं गैर—सरकारी क्षेत्रों असंख्य संगठनों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय टेलीग्राफ ब्यूरो (1868), अन्तर्राष्ट्रीय

डाकतार संघ (1875), अन्तर्राष्ट्रीय कॉपी राइट्स संघ (1886) इत्यादि की स्थापना हुई। सन् 1914 तक इस संगठनों की संख्या लगभग 400 हो गयी। सरकारी एवं गैर—सरकारी संगठनों ने अन्तरर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को विकसित किया और ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिसके आधार राष्ट्र संघ का निर्माण हुआ।

(vi) हेग सम्मेलन, 1899 (The Hague Conference, 1899) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सन् 1899 का हेग सम्मेलन है। रूस के जार के निमन्त्रण पर 18 मई, 1899 को प्रथम हिंग सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 26 राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान, सामूहिक सुरक्षा, पंचनिर्णय तथा युद्ध के आचरण को सीमित करने के संबंध में सिफारिशें की गई।

20वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास (Development of International Law in the 20th Century)—20वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास का वर्णन निम्नलिखित है— Cenया सम्मेलन, 1906 (Geneva Conference, 1906) — इस सम्मेलन में स्थल युद्ध में घायल

सैनिकों की चिकित्सा के समान सुविधा को जल युद्धों में घायल सैनिकों के लिए लागू करने का निर्णय किया गया। 2. हेग सम्मेलन, 1907 (The Hague Conference, 1907) — सन् 1907 में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सम्मेलन हेग में हुआ। इस सम्मेलन में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में निम्नलिखित

नियमों का निर्माण किया—

1. इस सम्मेलन में बम—वर्षा निषेध संबंधित प्रतिज्ञा स्वीकार की गई।

2. आरक्षित स्थानों— बन्दरगाहों, तटीय गाँवों, नगरों, अस्पतालों इत्यादि पर बम—वर्षा का निषेध किया गया।

3. हेग सम्मेलन में विषाक्त शस्त्रों, विस्फोटक गुब्बारों, बारूदी सुरंगों का बिछाना, घायल शत्रु को मारना अथवा ऐसे शत्रु को मारना अथवा घायल करना जिसने हथियार डाल दिए हों, अथवा स्वेच्छानुसार आत्मसम्पर्ण कर दिया हो निषिध कर दिया गया।

4. इस सम्मेलन तटस्थ राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के संबंध में भी नियमों का निर्माण किया गया।

5. इस सम्मेलन में व्यापारिक जहाजों तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय के संबंध में भी नियमों के संबंध में सहमति हुई।

6. इस सम्मेलन में युद्ध विश्राम—संधि के झण्डे के संबंध में भी नियम बनाया गया।

संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में हेग सम्मेलन (1907) का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हेग सम्मेलनों के परिणामस्वरूप पंच निर्णय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। यद्यपि पंच निर्णय को बाध्यकारी नहीं माना गया इसके बावजूद भी इसने अनेक विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान करके अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान दिया।

**3. विधिवेत्ताओं का योगदान** (Contribution of Legal Experts)— इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अनेक विधिवेत्ताओं—डी. मार्टिन्स (De. Martins), पैनिंग (Manning), हेफ्टर (Heffter), फिलीमीर (Philimore), बेस्टलेक (Westlake), हॉल (Hall), हाईड (Hyde), लीवर (Liber), जेम्ज कॅट (Jame Kent), कीटन (Wheaton), जेलीनेक (fellineck), ब्लुंशली (Bluntschili), ओपेनहीम (Oppenheim), लारेंस (Lawrence) इत्यादि का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

**4. प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास—सन् 1919—1939 तक (**Development of International Law after World War Ist— from 1919—1939) — प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के निम्न चरण हैं—

**1. राष्ट्र संघ का प्रसंविदा, 1919** (The Covenant of the League of Nations, 1919)— प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् 28 जून, 1919 को वर्साय (Treaty of Versailles) की संधि पर हस्ताक्षर हुए। राष्ट्र संघ के प्रसंविदा को इस संधि का भाग बनाया गया। सन् 1920 में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। राष्ट्र संघ का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना था। सन् 1921 में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (PCIJ) की स्थापना की गई। सन् 1922 से 1939 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के द्वारा 66 विवादों पर विचार किया गया, 37 विवादों का निर्णय किया गया तथा राष्ट्र संघ की परिषद् (League Council) के अनुरोध पर 28 मामलों पर परामर्शिय मत दिया गया। स्थायी न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया है। इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए कार्बेट (Corbett) के अनुसार, "स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राधिकृत (Authoritative) कयन हैं।" राष्ट्र संघ की प्रसंविदा में विवादों के समाधान के शान्ति प्रिय तरीकों—विवाचन (Arbitration), न्यायिक समाधान (Judicial Settlement) तथा लीग परिषद् द्वारा छानबीन (Enquiry by the League Council) का वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त प्रसंविदा राज्यों पर अनेक प्रतिबंध भी लगाता है तथा इसमें आक्रामक के विरुद्ध 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) का प्रावधान भी है। संक्षेप में राष्ट्र संघ की प्रसंविदा एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने वाली 20वीं शताब्दी की प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण संधि थी। एडवर्ड कॉलिन्स (Edward Collins) के अनुसार राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (International Organisations) तथा विधि निर्माण करने वाली संधियों (Law—making Treaties) के द्वारा किया गया।

(ii) लोकोनों संधि, 1925 (Locarno Treaty, 1925)—16 नवम्बर, 1925 को लोकानों संघि पर फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी तथा बेल्जियम ने हस्ताक्षर किए। इस संधि के अनुसार जर्मनी, फ्रांस तथा बेल्जियम ने सीमा विवादों में शक्ति का प्रयोग न करने का आश्वासन दिया। इस संधि पर हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने राष्ट्र संघ के प्रसंविदा के अनुसार विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करने का आश्वासन दिया। सन् 1936 में जर्मनी ने घ को मानने से इन्कार कर दिया। इस संधि को

(iii) केलॉग—ब्रियाण्ड समझौता, 1928 (The Kellog—Briand Pact, 1928)— केलॉग—ब्रायण्ड समझौते, 1928 के द्वारा हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया। इस समझौते की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हस्ताक्षरकर्ता राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान हेतु "युद्ध का राष्ट्रीय नीति के रूप में परित्याग' (Renunciation of War as an Instrument of Foreign Policy) कर दिया। अतः इस संधि ने युद्ध का विधिक नियंत्रण (Legal Regulation over War) किया।

(iv) जेनेवा सम्मेलन, 1929 (The Geneva Conference, 1929) — सन् 1929 में जेनेवा सम्मेलन में 47 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने 'युद्ध वन्दियों के साथ व्यवहार' (Treatment of Prisoners of War) के संबंध में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए।

जेनेवा अभिसमय, 1929 के अनुसार निम्नलिखित नियम निर्धारित किए गए—

1. युद्ध बन्दियों के विरुद्ध बलपूर्वक प्रतिकार, अमानवीय व्यवहार और सामूहिक दण्ड (Reprisal against Prisoners of War, Cruel Treatment and Collective Punishment) वर्जित करना;

2. युद्ध बन्दियों एवं युद्ध में घायल व्यक्तियों को स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की गई; तथा

3. इनकी सेवा में कार्यरत व्यक्तियों एवं चिकित्सा इकाइयों (Medical Units) को अनेक उन्मुक्तियाँ भी प्रदान की गई।

**5. संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास—** सन् 1945—2000 तक (Development of International Law after the Establishment of the United Nations— From 1945—2000)— संयुक्त राष्ट्र की स्थापना 24 अक्टूबर, 1945 में हुई। 26 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्र घोषणा—पत्र (U.N. Charter) पर 51 देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए थे। इस समय इसके सदस्यों की संख्या 193 है। संयुक्त राष्ट्र के अंगों में न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) एक प्रथम अंग है तथा इसकी संविधि भी चार्टर का भाग है। सन् 1946 में

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान हेतु न्यायालय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) स्थापित किया गया। संयुक्त राष्ट्र का चार्टर स्वयं एक अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के रूप में कार्य करता है क्योंकि यह राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए मानवाधिकार आयोग (Human Rights Commission) का गठन किया गया। सन् 1948 में मानवाधिकार घोषणा (Declaration of Human Rights) को स्वीकार किया गया। चार्टर के अनुच्छेद 13 (Art. 13) के अनुसार महासभा का यह दायित्व है कि वह अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास तथा इसके संहिताकरण (Progressive Development of International Law and its Codification) को प्रोत्साहित करेगी। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा अन्तरर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) की स्थापना की गई। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के द्वारा अनेक अभिसमय एवं संधियाँ तैयार की गई जिन पर राज्यों ने हस्ताक्षर किए हैं। इन संधियों एवं अभिसमर्यो (Treaties and Conventions) के द्वारा 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्रमिक विकास एवं इसका संहिताकरण' (Progressive Development of International Law and its Codification) किया गया।

इन संधियों तथा अभिसमयों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

1. समुद्री कानून का जेनेवा अभिसमय, 1958 (Geneva Convention on the Law of Sea 1958)

2. राजनयिक संबंधों पर वियना अभिसमय, 1961 (Vienna Convention on Diplomatie Relations, 1961)

3. संधियों के कानून पर वियना अभिसमय, 1969 (Vienna Convention on the Law of Treaties 1969)

4. संधियों के संबंध में राज्यों के उत्तराधिकार पर वियना अभिसमय, 1978

5. महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव को हटाने के लिए अभिसमय, 1979

6. अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध को रोकने तथा दण्डित करने हेतु अभिसमद, 1973

7. समुद्री युद्ध पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1982 (The United Nations Convention on Lave of Maritime Warfare, 1982)

8. मानवीय पर्यायवरण पर स्टाक होम सम्मेलन, 1972 (Stockholm Conference on Human Environment, 1972) तथा इसके अतिरिक्त सन् 1975 में पर्यायवरण के संबंध में राज्यों द्वारा सात संधियों का अनुसमर्थन किया गया। पर्यावरण के संबंध में पृथ्वी शिखर सम्मेलन अथवा पर्यावरण एवं विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन, 1992 (Earth Summit or the U.N. Conference on Environment and Development, 1992) बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उपरोक्त सम्मेलनों तथा अभिसमयों एवं संधियों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में वृद्धि हुई है।

**निष्कर्ष (Conclusion)** — उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरन्तर विकास की ओर अग्रसर है। प्राचीन समय से 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अनेक चरणों से गुजरना पड़ा है। हम इस बात से सहमति प्रकट नहीं करते कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल यूरोपियन देन है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता में अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (Whole World is a Family) की भावना विद्यमान थी। विश्व की सभी सभ्यताओं में किसी—न—किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून विद्यमान था। यूरोपियन देशों के साथ—साथ तीसरी दुनिया के विकासशील राज्यों तथा भूतपूर्व सोवियत संघ सहित साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों का भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान है। परन्तु सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास एवं इसके संहिताकरण (Development and Codification of International Law) में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में ग्रोशियस का योगदान**

(Contribution of Grotius to the Development of International Law)

**प्रश्न. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में ग्रोशियस के योगदान का वर्णन करें। (Describe the Contribution of Grotius to the Development of international Law.)**

**उत्तर**— भूमिका (Introduction) अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा राष्ट्रों के कानून के विकास में ग्रोशियस का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समुचित विकास आधुनिक युग को देन है। कुछ विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून पश्चिमी सभ्यता की दन है, परन्तु भारतीय कानून विशेषज्ञ तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश डॉ. नगेन्द्र सिंह का मत है कि अन्तराष्ट्रीय कानून यूरोप की देन नहीं है वरन् भारत में रामायण तथा महाभारत काल में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा पुद्ध के विश्न विद्यमान ये। कानून विशेषज्ञ एस. एस. धवन भी इस विचार से सहमत हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में केवल यूरोपियन विद्वानों का ही नहीं वरन् भारतीयों, यूनानियों, यहूदियों, रोमनों तथा मुसलमान विद्वानों का योगदान भी है।

**ग्रोशियस का परिचय (Life Sketch of Grotius)**— ग्रोशियस का पूरा नाम गावान (Hugo Van Groot) था। उसका जन्म 1583 में हॉलैंड के एक उच्च परिवार में हुआ था। बचपन से बुद्धि का धनी था। 11 वर्ष की छोटी—सी आयु में उसने लीडन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया गया आयु में डॉक्टर ऑफ लॉ की उपाधि प्राप्त की। युवा अवस्था में ही एक ग्रन्थकार विधिकेलता रूप में प्रसिद्ध हो गए। 16 वर्ष की अवस्था में वकालत आरम्भ की तथा 20 वर्षो वह कुशाग्र 15 वर्ष की तथा कवि के हॉलैंड का इतिहास लेखक नियुक्त किया गया। उस समय हॉलैंड में धार्मिक तथा राजनीतिक विवाद पता था। ग्रोशियस के इन विवादों में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसे बन्दी बना लिया गया तथा न्यायालय ने उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया। 1621 में पुस्तकों के एक जेल से भाग कर फ्रांस पहुँच गया। 1634 में स्वीडन की राजनयिक से के दूत के रूप में पेरिस में हुई। 1645 में उसका देहावसान हो गया। होकर वह

**ग्रोशियस की रचनाएँ** (Main Books of Grotius)—युद्ध तथा शान्ति की विधि' (De—Jure Billeac Pacis) है। इससे पूर्व उसने 'On the Law of Spoils' नामक पुस्तक तैयार की। इसके अतिरिक्त समुद्र की स्वतन्त्रता (Mare Liberum) to Dutch Jurisprudence) आदि उसकी महान है।

**रचनाओं पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव** (Effect of Contemporary Circumstances on Books)—ग्रोशियस की रचनाओं पर उस समय की परिस्थितियों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। 17वीं सदी में यूरोप में अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों के अनेक पारस्परिक हितों और उद्देश्यों ने इनको राज्यों के समाज में संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इन्हीं परिस्थितियों के कारण ग्रोशियस अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में लिखने को विवश हुआ। इस समय हॉलैंड तथा स्पेन का युद्ध चल रहा था। हॉलैंड के बेड़े ने पुर्तगाल का एक जहाज पकड़ लिया। पुर्तगाल उस समय स्पेन के अधीन था। इस जहाज को एवं माल को हॉलैंड में बेच दिया गया। पुर्तगाल ने इस पर आपत्ति उठाई। इस पर ग्रोशियस से परामर्श माँगा गया। उसने पूरे मामले का अध्ययन करके 1609 में Mere Liberum नामक पुस्तक में समुद्र की स्वतन्त्रता (Freedom of Sea) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् उसकी कलम जीवन पर्यन्त चलती रही।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान** (Contribution of Grotius to the Development of International Law)

ग्रोशियस की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'युद्ध तथा शान्ति विधि' (The Laws of War and Peace—De—Jure Belliac Pacis Lebri) थी। इस पुस्तक के सम्बन्ध में जी—वी—ग्लान का कहना है कि यह फ्रांस में सकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम व्यवस्थित प्रयास था। **ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में निम्नलिखित योगदान है—**

**1. प्राकृतिक विधि (Natural Law)**—ग्रोशियस इस सिद्धान्त का समर्थन करता है। उसका मत है कि प्रत्येक सभ्य मनुष्य के हृदय में एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह निर्णय कर सकता है कि क्या उचित है तथा क्या अनुचित है। इस विवेक तथा तर्क की शक्ति द्वारा जो नियम सिद्ध होते हैं उनको प्राकृतिक कानून कहा जाता है। सभी राष्ट्रों का परस्पर व्यवहार इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार होना चाहिए।

**2. राज्यों की सहमति पर आधारित** (Based on the Consent of the States)— ग्रोशियस के मतानुसार अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का आधार राज्यों की सहमति है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, प्रथाओं, अभिसमयों आदि का अनुसरण सभ्य राज्य अपनी प्रकट अथवा अप्रकट सहमति से करते हैं, इसीलिए ग्रोशियस ने इन्हें ऐच्छिक विधि का नाम दिया है।

**3. प्राकृतिक तथा ऐच्छिक विधि में अन्तर** (Difference between Voluntary Law and Natural Law)—यदि प्रथाएँ, सन्धियों, अभिसमय सहमति पर आधारित ऐच्छिक अन्तरर्राष्ट्रीय कानून सद्बुद्धि के अनुसार हैं तो वे भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राकृतिक कानून का भाग बन जाते हैं। ग्रोशियस ने इस बात पर बल दिया है कि विवाद की स्थिति में प्राकृतिक कानून को प्राथमिकता दी जायेगी तथा राष्ट्रों के पारस्परिक आचरण के तथ्य द्वारा भी प्राकृतिक कानून को चुनौती नहीं दी जा सकती।

**4. प्रथागत अथवा परम्परागत विधि** (Customary Law)— रीति—रिवाजों तथा प्रथाओं पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रथागत अथवा परम्परागत कानून कहा जाता है। ग्रोशियस परम्परागत कानून को जस जेंसियम (Jus Jentium) कहता है। जस जेंसियम मानवीय तथा इच्छापूर्ण नियमों का प्रतिनिधित्व करता है। यह परम्परागत नियमों का संग्रह है। जस जेन्सियम तथा जस नेचर (Jus Nature) पृथक—पृथक विधियाँ हैं। दोनों में गतिरोध की दशा में जस नेचर को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

**5. धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त** (Theory of Religious Tolerance and Secularism)—ग्रोशियस के समय ईसाइयों तथा गैर—ईसाइयों (मुसलमानों) के मध्य भेदभाव का आचरण विद्यमान था। ईसाई धर्म को मानने वाले देश मुस्लिम तथा अन्य धर्मों के अनुयायी वाले देशों के साथ सन्धियों करना अनुचित तथा अपवित्र मानते थे। ग्रोशियस ने धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा उनके मध्य भेदभाव का विरोध किया। उसने ईसाइयों तथा गैर—ईसाइयों के मध्य पारस्परिक सन्धियाँ करने का प्रबल समर्थन किया।

**6. महासमुद्रों की स्वतन्त्रता** (Freedom of High Seas)— ग्रोशियस ने महासमुद्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। ग्रोशियस से पूर्व तटस्या का प्रायः सीमित क्षेत्र था। इसके विश्लेषण में पहली बार तटस्थ राज्य के कानूनी स्तर, अधिकारों तथा विशेष अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान होता है। उसने विनिषद्ध (Contraband) वस्तुओं का वर्गीकरण भी किया। प्रत्येक राष्ट्र को खुले समुद्र तथा महासमुद्रों में स्वतन्त्रतापूर्वक जहाजरानी का अधिकार है।

**7. कूटनीति सम्बन्धी विचार** (Views Regarding Diplomacy)—ग्रोशियस का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान कूटनीति के नियमों की दृष्टि से यह था कि उसने कूटनीतिज्ञों को उस देश के क्षेत्राधिकार से अलग माना जहाँ उनको भेजा गया है। वह राजदूत को राज्य के फौजदारी कानून के क्षेत्राधिकार से बिल्कुल बाहर समझता था। गम्भीर अपराध का दोषी होने पर दण्डित करने के लिए राजदूत को स्वदेश वापस लौटा देना चाहिए।

**8. युद्ध के सम्बन्ध में विचार** (Views Regarding War)— ग्रोशियस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युद्ध तथा शान्ति की विधि' (The Law of War and Peace) में युद्ध सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जब ग्रोशियस ने युद्ध के नियम के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त किये थे, तो उसके चिन्तन पर तत्कालीन युद्ध की परिस्थितियों का गहरा प्रभाव था। ग्रोशियस के विचारों से पूर्व 30 वर्षों से यूरोप में युद्ध चल रहा था। ये देश छोटी—छोटी बातों अथवा विना किसी कारण हिंसक जंगली व्यक्तियों की तरह युद्ध के लिए तत्पर रहते थे। ग्रोशियस इस स्थिति को समाप्त करना चाहता था इसीलिए उसने 'युद्ध तथा शान्ति' के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यवस्थित रूप दिया, जिससे अराजकता को समाप्त किया जा सके तथा एक व्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना की जा सके।

ग्रोशियस के युद्ध सम्बन्धी विचारों का सार इस प्रकार है—

1. यदि युद्ध की वैधता के बारे में सन्देह हो तो युद्ध को टालना चाहिए।

2. विवादास्पद समस्याओं का समाधान सन्धि चर्चा द्वारा किया जाना चाहिए।

3. युद्ध में निर्दयतापूर्वक कार्य नहीं किए जाने चाहिए। युद्ध के समय पराजित व्यक्तियों तथा युद्ध बन्दियों के साथ निर्दयता का

व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए।

4. सैनिक आवश्यकता होने पर ही शत्रु की सम्पत्ति को नष्ट करना चाहिए।

5. जिन प्रदेशों को युद्ध में जीत लिया जाता है वहाँ अन्तः आत्मा तथा धर्म की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए।

6. ग्रोशियस के समय ईसाइयों तथा गैर–ईसाइयों में भेद–भाव बरता जाता था। मुसलमानों के साथ सन्धि करना अनुचित माना जाता था। ग्रोशियस ने इसका विरोध किया।

**9. तटस्थता का कानून (Law of Neutrality)–** ग्रोशियस पहला विधिवेत्ता था जिसने तटस्थता के कानून का प्रतिपादन किया। युद्ध की स्थिति में जो राष्ट्र तटस्थ रहते हैं अर्थात् किसी पक्ष में शामिल नहीं होते उन राष्ट्रों के विधिक स्तर अधिकारों तथा विशेषाधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया। ग्रोशियस से पूर्व विद्वानों ने तटस्थता तथा व्यवहार का बहुत सीमित वर्णन किया था।

**10. विनिषिद्ध वस्तुओं का वर्गीकरण (**Classification of Contraband Products)–ग्रोशियस ने विनिषिद्ध (Contraband) वस्तुओं का वर्गीकरण भी किया। उसने उन वस्तुओं को तीन भागों में बाँटा–

(i) सैनिक दृष्टि से उपयोगी वस्तुएँ,

(ii) युद्ध की दृष्टि से अनुपयोगी वस्तुएँ,

(iii) युद्ध तथा शान्ति में उपयोगी वस्तुएँ।

ग्रोशियस के मतानुसार सैनिक दृष्टि से उपयोगी वस्तुएँ भेजने वाला तटस्थ देश शत्रु राज्य का पक्षपाती बन जाता है। ऐसी वस्तुओं को यह विनिषिद्ध मानता है। इसके विपरीत युद्ध में अनुपयोगी वस्तुओं का व्यापार विनिषिद्ध नहीं माना जाता। युद्ध तथा शान्ति दोनों स्थिति में उपयोगी वस्तुओं के व्यापार पर प्रतिबन्ध युद्धमान राज्यों के द्वारा युद्धकालीन परिस्थितियों के आधार पर लगाया जा सकता है।

**11. प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में विचार** (Views regarding Extradition)–ग्रोशियस से पूर्व प्रत्यर्पण पर किसी विद्वान् ने विचार नहीं किया था। यह अपराधों के नियंत्रण के लिए अपराधियों के प्रत्यर्पण के पक्ष में था।

**12. सन्धियों के सम्बन्ध में विचार (**Views Regarding Treaties)–सन्धियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए ग्रोशियस ने इनको साधारण समझौतों से भिन्न बताया। उसके मतानुसार सन्धियाँ केवल कर्त्ता पर ही नहीं, वरन् उसके उत्तराधिकारियों पर भी लागू होंगी। उसने अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की पवित्रता में विश्वास अभिव्यक्त किया। उसने इस बात को अस्वीकार किया कि परिस्थितियों के परिवर्तन होने से सन्धियों को अस्वीकार किया जा सकता है। परन्तु उसे इस बात का ज्ञान या कि परिस्थितियों बदलने से सन्धियों टूट जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसने एक समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया तथा कहा कि जो सन्धियों जिन परिस्थितियों में की जायें वे उन्हीं परिस्थितियों में लागू होनी चाहिएं।

**आलोचना (Criticism)**–ग्रोशियस की तर्क प्रणाली तथा विश्लेषण का मूल्यांकन करते हुए कुछ विचारकों ने इसे अत्यन्त दोषपूर्ण पाया है। नसबीम के अनुसार, ग्रोशियस के ग्रन्थों में पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक है तथा उसकी तर्क प्रणाली अति भार पूर्ण है। ग्रोशियस की रचनाओं में प्रायः सभी उदाहरण प्राचीन साहित्य तथा इतिहास से लिये गए हैं। इसमें अनेक निरर्थक तथा प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त हैं। उसकी यह अवधारणा कि जनता को अत्याचारी राजा का विरोध करने का अधिकार नहीं है, उचित नहीं है। सुजारिया, पियरिनो, जेन्टिली, जोशे, विटोरिया आदि पूर्ववर्ती विद्वानों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह कहना गलत नहीं होगा कि उसने अपने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा तैयार की गई मित्ति पर नये तरीके से रंग भरने, अस्पष्ट तस्वीरों को उभारने व प्रखर बनाने का कार्य किया है। ग्रोशियरा के विचारों में सन्तुलन तथा व्यवहारिकता का अभाव है।

**ग्रोशियस का योगदान (Contribution of Grotius)**

कुछ त्रुटियों के होते हुए भी ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नई दिशा का सूत्रपात किया। स्टार्क, ओपेनहीम, फेनविक आदि विद्वानों ने ग्रोशियस के योगदान का निम्नलिखित जाधारों पर वर्णन किया है—

1. **अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र को नई दिशा** (New Direction to the Scope of International Law)—ग्रोशियस से पूर्व किसी विचारक ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समग्र रूप से विश्लेषण नहीं किया। विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में उसके ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। उसके ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'युद्ध तथा शान्ति की विधि' (डी—ज्यूरे बिले एक पेरिस लीव्री) है। यह पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक युगान्तकारी परिवर्तन लाने में सिद्ध हुई। इस पुस्तक में वर्णित अनेक नियमों तथा सिद्धान्तों का अनुसरण अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा समझौतों में किया जाने लगा।

2. **अन्तरर्राष्ट्रीय कानून पर स्थायी प्रभाव** (Permanent Impact on International Law)—न्यायालयों के निर्णयों तथा सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं पर ग्रोशियस के शब्दों को प्रमाणिक रूप से उद्धृत किया जाता है। ओपेनहीम के अनुसार ग्रोशियस को ही प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Grotius appeared to posterity as the father of Law of Nature as the father of the Law of Nations) का जनक कहा जाना चाहिए।

3. **मौलिकता प्रदान करना (To Provide Orginality)**—ग्रोशियस ने ग्रन्थों में अनेक विषयों पर मौलिक विचार प्रकट किए हैं। ग्रोशियस से पूर्व किसी भी विद्वान् ने अपने ग्रन्थों में इन सिद्धान्तों का वर्णन नहीं किया।

ग्रोशियस ने तटस्थता, समुद्रों की स्वतन्त्रता, कूटनीतिक व्यवहार, सन्धियों, प्राकृतिक कानून, सहमति का सिद्धान्त, युद्धबन्दियों के साथ मानवीय व्यवहार आदि अनेक विषयों पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया।

**लाटर पैक्ट के मतानुसार,** "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान क्षेत्र को देखते हुए ग्रोशियस का युद्ध तथा शान्ति भले ही अधूरा हो, परन्तु इस विषय पर प्रथम विस्तृत तथा व्यवस्थित ग्रन्य था।"

**निष्कर्ष (Conclusion)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में ग्रोशियस के योगदान का अध्ययन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रोशियस पहला विद्वान था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नई दिशा प्रदान की। उसके ग्रन्थ 'युद्ध तथा शान्ति' से अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक स्वतन्त्र विषय तथा विज्ञान के रूप में प्रारम्भ होता है। किंतु उससे पूर्व भी अनेक विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अपना योगदान दिया है। उसके ग्रन्थों पर उसके पूर्ववर्ती विद्वान जेन्टिलिस का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

अतः किसी एक विद्वान् को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक मानना उचित नहीं है।

## अन्तर्राष्ट्रीय विधि : भारतीय परिप्रेक्ष्य (International Law: Indian Perspective)

**प्रश्न— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारत के योगदान का वर्णन करें।**

(Describe the Indian view in the Development of International Law.)

**उत्तर—भूमिका (Introduction)—**

वर्तमान अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का उद्भव तथा विकास 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यूरोप की देन माना जाता है, इसलिए अन्तरर्राष्ट्रीय कानून पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के हितों की रक्षा के लिए अस्तित्त्व में आया। प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्यायपूर्ण, असमान तथा शोषण और शोषित सम्बन्धों पर आधारित था। यह यूरोपियन राज्यों के राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक हितों की रक्षा करता है। यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण तथा विकास में तीसरी दुनिया अथवा नवोदित राष्ट्रों का कोई योगदान नहीं है इसलिए यह सार्वभौमिक विधि नहीं है। परन्तु

तीसरी दुनिया के देशों की अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण तथा विकास में कोई भूमिका नहीं है, यह अवधारणा स्वीकार्य नहीं है।

भारत तीसरी दुनिया का एक महत्त्वपूर्ण तथा अग्रणी देश है। स्वतन्त्र भारत के विधिवेत्ताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं किया तथा न ही अस्वीकार किया है। अपने हितों को ध्यान में रखते हुए बहुत से कानूनों को स्वीकार तथा अस्वीकार किया है। भारत ने उन सभी कानूनों का विरोध किया जो उपनिवेशवाद, जातिवाद, साम्राज्यवाद का समर्थन करते हैं तथा उन कानूनों का समर्थन किया है जो शान्तिपूर्ण— सहअस्तित्व, निःशस्त्रीकरण, विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान आदि व्यवस्था पर आधारित हैं।

भारतीय विद्वान डॉ. श्याम किशोर कपूर ने अपने ग्रन्थ 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' में बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति भारत का दृष्टिकोण क्या है? इस सम्बन्ध में कपूर का कहना है कि दूसरे नवोदित राष्ट्रों की भान्ति भारत ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ स्वीकृत नियमों तथा सिद्धान्तों को स्वीकार किया है तथा उनमें संशोधन का प्रयास किया है। भारत ने पूर्ण रूप से किसी भी अन्तरर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं किया है। भारत ने पश्चिम में विकसित अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के कुछ सिद्धान्तों के प्रति अपनी असहमति अवश्य प्रकट की है। इसका अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि भारत के मन में अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के प्रति कोई सम्मान नहीं है अथवा कम सम्मान है। भारत की चुनौती सोवियत चुनौती के समान नहीं है। भारत सोवियत संघ की अवधारणा के विपरीत पश्चिमी अवधारणा से अधिक प्रभावित है। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सदैव महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण, उपनिवेशवाद के अन्त, शान्तिपूर्ण सह—अस्तित्व तथा गुट—निरपेक्षता के क्षेत्र में अहम भूमिका निभाई है।

**भारतीय विधिवेत्ताओं का योगदान (Contribution of Indian Jurists)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारतीय विधिवेत्ताओं तथा न्याय विशेषज्ञों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश डॉ. नगेन्द्र सिंह, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय के न्यायाधीश जी. एस. पाठक, न्यायमूर्ति वी. के. कृष्णा अय्यर, डॉ. के. पी. मित्र, आर. पी. आनन्द, डॉ. हरिमोहन जैन, श्याम किशोर कपूर आदि अनेक भारतीय विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति भारत का दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। इन विद्वानों ने अपने शोध ग्रन्थों, लेखों तथा सारगर्भित टिप्पणियों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करते समय भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

**1. अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में भूमिका** (Contribution as Judge in the International Court of Justice)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारत का योगदान तो सराहनीय रहा है। भारत के योगदान के कारण भारत के कानून विशेषज्ञों को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति कितनी आस्था रखता है। भारत के डॉ. नगेन्द्र सिंह को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय में 9 वर्ष के लिए मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। न्यायाधीश के रूप में उनकी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या तथा विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

डॉ. नगेन्द्र सिंह को कई बार अन्तरर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय में नियुक्त किया गया था। 1998 में हेग में (जो अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय का कार्यालय है) डॉ. नगेन्द्र सिंह का देहान्त हुआ था। डॉ. नगेन्द्र सिंह ने अपने ग्रन्थों, शोय लेखों, व्याख्यानों तथा न्यायिक निर्णयों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

डॉ. नगेन्द्र सिंह के पश्चात् न्यायाधीश जी. एस. पाठक को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय में निर्वाचित किया गया था।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के सदस्य के रूप में भूमिका** (Contribution as a member of International Law

Commission)— संयुक्त राष्ट्र की सहायता के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपना निर्णय देता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का एक विधि आयोग (Law Commission) है। इस विधि आयोग का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास तथा संहिताकरण करना है।

1992 में पांच वर्ष के लिए भारत को इस आयोग का सदस्य नियुक्त किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपने 49 वें अधिवेशन, जुलाई 1997 में 'जोखिमपूर्ण गतिविधियों से सीमा पार की क्षतियों को रोकना'' नामक विषय पर कार्य करने के निर्णय के अन्तर्गत भारतीय विद्वान् डॉ. पी. एस. राव को विशेष वक्ता नियुक्त किया था।

**अभिसमय विकसित करने में योगदान (Contribution in Developing the Conventions)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में विचार करने के लिए समय—समय पर सम्मेलन होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास हेतु भारत ने विभिन्न कार्य दलों, संयुक्त राष्ट्र के सम्मेलनों, गुट—निरपेक्ष सम्मेलनों, सार्क सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय समितियों की बैठकों में सक्रिय योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में अनेक अभिसमयों यथा— आतंकवाद के दमन, रासायनिक अस्त्र अभिसमय, जलवायु परिवर्तन अभिसमय, जैवकीय विविधता अभिसमय, मानव अधिकार अभिसमय में भारत की विशेष भूमिका रही है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारत की भूमिका का ऊपरवर्णित वर्णन यह स्पष्ट करता है कि इस क्षेत्र में भारत का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारत का प्रभाव दिन—प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। मानव अधिकार आयोग, संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विधि आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक संगठन की कार्यकारिणी आदि अनेक संगठनों में भारत को मनोनीत अथवा निर्वाचित किया गया है। भारत का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण, उपनिवेशवाद के उन्मूलन, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन, शान्ति पूर्ण सह—अस्तित्त्व की नीति, मानवाधिकारों का सम्मान, आतंकवाद को समाप्त करना, निःशस्त्रीकरण, विवादों का शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा समाधान, अवैध व्यापार पर नियन्त्रण, महिलाओं की समानता, पर्यावरण सुरक्षा, अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा आदि अनेक क्षेत्रों में भारत का योगदान बहुत सराहनीय है।

# ( 5) अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के बीच संबंध [Relation Between International Law and Municipal Law]

**1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ बताओ। अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि के संबंध का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।**

**(Write the meaning of International Law. Briefly describe the relation between International Law and Municipal Law.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि के राष्ट्रीय विधि के साथ संबंधों का वर्णन कीजिए। (Discuss the relations of International Law with Municipal law.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि के परस्पर संबंध के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। (Examine the theories of the relationship between International Law and Municipal Law.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में क्या संबंध हैं? व्याख्या करें। (What is the relation between International Law and Municipal Law? Explain)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में क्या अन्तर है? भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में संबंध की क्या विधिक स्थिति है? (What is the distinction between International Law and Municipal Law? Discuss the relation between International Law and Municipal Law as evidenced by the legal position in India & USA.)**

**अथवा**

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राष्ट्रीय कानून के बीच अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (Discuss the relationship between International Law and National Law.)**

**उत्तर**— परिचय (Introduction)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि को समुचित ढंग से समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में क्या संबंध है। परन्तु उत्तर का सविस्तार अध्ययन करने से पूर्व हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या है तथा राष्ट्रीय विधि क्या है। इन दोनों में क्या अन्तर है? इन प्रश्नों का क्रमबद्ध वर्णन इस प्रकार है—

**(A) अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या है?** (What is Interntaional Law?)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) शब्दावली का सर्वप्रथम प्रयोग इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) के द्वारा सन् 1780 में किया गया। "अन्तर्राष्ट्रीय विधि" (International Law), "राष्ट्रों की विधि" (Law of Nations) का पर्यायवाची है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणा बेन्थम (Bentham) से पूर्व भी विद्यमान थी अर्थात् ऐसे नियम एवं रीति—रिवाज विद्यमान थे जो राष्ट्रों के आचरण को नियमित करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) के समानार्थी फ्रांसीसी भाषा में "ड्रायर—डेस—जेन्स (Driot—des—gens) तथा जर्मन भाषा में "बोल्करेक्ट" (Volkerrecth) का प्रयोग होता है। बेन्थम ने इसकी संज्ञा में परिवर्तन किया और इसको "ड्रायट—एन्ट्रे—डेस—जेन्स" (Driot—entere des—gens) अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय विधि (राष्ट्रों की विधि) की संज्ञा प्रदान की।

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषाएँ** :

1. **केल्सन के शब्दों में**, "अंतर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों के एक समूह का नाम है जिससे राज्यों के पारस्परिक संबंधों के आचरण का निर्धारण होता है।"

2. **लॉरेंस के अनुसार**, "अंतर्राष्ट्रीय कानून वे नियम हैं, जो सभ्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को निर्धारित करते हैं।"

**राष्ट्रीय विधि क्या है? (What is Municipal Law?)** — राष्ट्रीय विधि का निर्माण प्रत्येक राष्ट्र के द्वारा अपने आंतरिक विषयों अथवा मामलों को नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। इसका उद्देश्य अपने नागरिकों, संस्थाओं तथा व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों, व्यक्ति एवं सरकार के विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंधों को नियमित करके राष्ट्र में शान्ति, सुरक्षा तथा आंतरिक व्यवस्था की स्थापना करना होता है। राष्ट्रीय विधि का पालन करना बाध्यकारी है क्योंकि इसका उल्लंघन करने वाला दण्डित किया जा सकता है। हॉल (Hall) के अनुसार, "राष्ट्रीय कानून अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता रखता है, नागरिक तथा राज्यों के विभिन्न अंग न्यायालय, कार्यपालिका आदि इसका पालन करने के लिए बाध्य हैं।" संक्षेप में, केल्सन के अनुसार, “राष्ट्रीय विधि के द्वारा एक राज्य के आंतरिक विषयों पर ही नियंत्रण किया जाता है।”

**अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में अंतर** (Difference between International Law and Municipal Law)

इन दोनों में निम्नलिखित अंतर है—

**1. विषय के आधार पर अंतर** (Difference on the basis of subjects) (अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य है। जबकि राष्ट्र कानून का विषय उस राष्ट्र की सीमाओं में बसे हुए नागरिक हैं। हैन्स केल्सन के मतानुसार, "अंतर्राष्ट्रीय कानून राज्य के बाह्य संबंधों को नियमित करता है जबकि राष्ट्रीय कानून राज्य के आंतरिक संबंधों को नियमित करता है।"

**2. उत्पत्ति के आधार पर अन्तर** (Difference on the basis of Origin) — ट्रीपेल के अनुसार, "राष्ट्रीय विधि की उत्पत्ति का स्रोत राज्य की अपनी इच्छा है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत राज्यों की सामान्य इच्छा है।"

**3. बाध्यकारिता के आधार पर अन्तर** (Difference on the basis of the Binding Nature)— एन्जीलोती (Anzilloti) के अनुसार राष्ट्रीय विधि का पालन अनिवार्य रूप में किया जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनिवार्यता का अभाव है।

**4. विधि निर्माण की संस्थाओं के आधार पर अन्तर** (Difference on the basis of the Law—making Institutions) — राष्ट्रीय विधि का निर्माण करने वाली संस्था विधानपालिका होती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय का निर्माण करने कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधायिका नहीं है।

**5. शक्ति के आधार पर अन्तर** (Difference on the basis of Sanction) — राष्ट्रीय विधि के पीछे पुलिस, सेना, अर्द्ध सैन्य बल तथा न्यायपालिका की शक्ति होती है। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय कानून के पीछे ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की तुलना में कमजोर होता है।

**अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में संबंध—विभिन्न सिद्धांत** (Relationship between International Law and Municipal Law—Various Theories)— राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के मध्य मुख्य विवाद प्रायः इस प्रश्न पर रहा है कि यदि दोनों में विवाद हो जाये तो प्राथमिकता किसको दी जाए तथा विभिन्न राष्ट्रों ने किस सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय कानून अंगीकार किया है। इस प्रश्न के समाधान की दृष्टि से कुछ प्रमुख सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं —

1. द्वैतवाद अथवा द्वैतवादी सिद्धांत (Dualism or Dualistic Theory)

2. एकात्मक अथवा एकत्ववादी सिद्धांत (Monism or Monistic Theory)

3. रूपांतरवादी सिद्धांत (Transformation Theory)

4. प्रत्यायोजन अथवा समर्पणवादी सिद्धांत (Delegation Theory)

5. विशिष्ट ग्रहणीकरणवादी सिद्धांत (Specific Adoption Theory)

**1. द्वैतवाद अथवा द्वैतवादी सिद्धांत (Dualism or Dualistic Theory) —** इस सिद्धांत के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून एक—दूसरे से भिन्नता रखते हैं। दोनों के बीच यह भिन्नता तथा असमानता कई आधारों पर विश्लेषित की जाती है। दोनों विधियों अपने आप में पूर्ण हैं तथा एक विधि के नियम दूसरी विधि के द्वारा ग्रहण नहीं किए जा सकते। द्वैतवादी सिद्धांत के **मुख्य समर्थकों** में ट्रीपेल, अन्जीलोटी, ओपेनहीम, रॉस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में निम्नलिखित आधारों पर अंतर है—

**(a) विषय के आधार पर अंतर (Difference on the basis of subject—matter)**—अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय राज्य है। यह कानून राज्यों के व्यवहार को नियमित करता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून का संबंध राज्यों के पारस्परिक व्यवहार, वैदेशिक संबंध तथा अन्य विषयों से होता है। जबकि राष्ट्रीय कानून राज्य की सीमाओं के अंदर रहने वाले नागरिकों पर लागू होता है। केल्सन के शब्दों में "राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों के व्यवहार को नियमबद्ध करता है। राष्ट्रीय कानून आंतरिक संबंधों

अर्थात् राज्यों के घरेलू मामलों से संबंधित होता है।"

**(b) उत्पत्ति तथा स्त्रोतों के आधार पर अंतर** (Difference on the basis origin and sources)—दोनों प्रकार के कानून अलग—अलग स्त्रोतों से जन्म लेते हैं। प्रो. ओपेनहीम के अनुसार, "राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत संबंधित राज्य की सीमाओं के अंतर्गत विकसित परंपराएँ तथा कानून निर्मात्री सभा द्वारा बनाई गई संविधाएँ हैं।" दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत विभिन्न राज्यों के बीच विकसित परंपराएँ तथा उनके द्वारा की गई कानून—निर्माता संधियाँ हैं।

**(c) बाध्यकारिता के आधार पर अंतर (Difference on the Basis of Binding)**— राष्ट्रीय कानून राज्य के नागरिकों पर बाध्यकारी होता है। यदि कोई नागरिक उनका उल्लंघन करता है तो उसे किसी भी प्रकार का दण्ड दिया जा सकता है। राष्ट्रीय कानून अनिवार्यता के सिद्धांत पर आधारित होता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून राज्यों की सहमति पर आधारित होता है। अंतरराष्ट्रीय कानून के पालन के लिए राज्यों को बाध्य नहीं किया जा सकता है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रों के मध्य किए गए समझौतों का सम्मान तथा पालन किया जाएगा।

**(d) कानून निर्माण करने वाली संस्थाओं के आधार पर अंतर** (Difference on the basis of law making body)— राष्ट्रीय कानून राज्य की विधानपालिका द्वारा निर्मित किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय जगत में ऐसी कोई कानून निर्मात्री संस्था नहीं है, जो राष्ट्रीय कानून की तरह कानून का निर्माण कर सके।

**(e) शक्ति के आधार पर अंतर (**Difference on the basis of Power)—राष्ट्रीय कानून का विधानपालिका द्वारा निर्माण ही नहीं किया जाता बल्कि कार्यपालिका उन्हें लागू भी करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुलिस, सेना, अर्द्ध सैनिक बल होता है। अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायपालिका की व्यवस्था होती है। अंतर्राष्ट्रीय कानून के पीछे इन बाध्यकारी अभिकरणों का अभाव है, इसलिए अंतर्राष्ट्रीय कानून निर्बल कानून है।

**(f) मान्यता के आधार पर अंतर** (Difference on the basis of Recognition)—अंतर्राष्ट्रीय कानून को विश्व समुदाय के अधिकांश राष्ट्रों द्वारा मान्यता मिलने पर ही उसका महत्त्व रहता है। राष्ट्रीय कानून के संबंध में ऐसी स्थिति नहीं है। नागरिकों की मान्यता है अथवा नहीं, राष्ट्रीय कानून का पालन अनिवार्य रूप से सब नागरिकों को करना पड़ता है।

**(g) प्रकृति के आधार पर अंतर** (Difference on the basis of Nature)—**राष्ट्रीय कानून** संप्रभु का आदेश होता है। ऑस्टिन का कथन है कि "(Law is the command of Sovereign) कानून उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है। एक समय में एक ही सर्वोच्च हो सकता है और वह राज्य है।" **अंतर्राष्ट्रीय कानून** की रचना विभिन्न राज्यों के पारस्परिक समझौतों द्वारा होती है तथा उनके पीछे कोई संप्रभु नहीं होता। वह संप्रभु राज्यों के बीच का कानून है, उनके ऊपर का नहीं।

### सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Theory)

द्वैतवादी सिद्धांत की आलोचना एकलवादी सिद्धांत के समर्थकों ने की है। इन आलोचकों की मान्यता है कि दोनों कानून एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। दोनों द्वारा मिलकर ही विधिशास्त्र की रचना की जाती है। दोनों एक—दूसरे के पूरक हैं।

निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धांत की आलोचना की जा सकती है—

**(i) दोनों के विषय अलग (Different Subjects of the Both)**— राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के विषय अलग—अलग हैं। राष्ट्रीय कानून का विषय नागरिक है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय कानून का विषय संप्रभु राज्य है। यह धारणा वर्तमान संदर्भ में उचित नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय कानून का विषय केवल राज्य ही नहीं वरन् व्यक्ति भी है। व्यक्तियों से मिलकर ही राज्य बनता है। व्यक्ति राज्य का विषय है। व्यक्ति तथा राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। अतः दोनों में भिन्नता नहीं समानता है।

**(ii) उत्पत्ति से संबंधित आलोचना (Criticism Regarding Origin)**—ट्रिपेल का यह विचार कि राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत राजा की इच्छा है तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत राज्यों की सामान्य इच्छा है, उचित नहीं है। वास्तव में राज्य की इच्छा (Will of the state) कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं होती बल्कि उन लोगों की इच्छा (Will of the people) होती है जिनसे मिलकर

राज्य का निर्माण होता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून को राज्यों की सामान्य इच्छा (Common will of the states) मानना भी गलत है। राज्य की सामान्य इच्छा भी वास्तव में उन लोगों की ही इच्छा है जो राज्य में निवास करते हैं। यदि अंतर्राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत राज्यों की सहमति (Consent of the states) माना जाए तो यह नवोदित राष्ट्रों पर बंधनकारी नहीं होनी चाहिए जिसने इनको मान्यता प्रदान न की हो। अतः राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून अलग—अलग नहीं हैं। दोनों विधि शास्त्र से संबंधित (Both are the branches of Jurisprudence) हैं।

**2. एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी सिद्धान्त** (Monism or Monistic Theory)—एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी सिद्धान्तकारों के मतानुसार राष्ट्रीय विधि एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि कोई स्वतंत्र पद्धतियाँ अथवा प्रणालियाँ नहीं हैं। इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों विधि विज्ञान की शाखाएँ होने के कारण एक—दूसरे की पूरक एवं सम्पूरक हैं तथा एक ही तस्वीर अथवा सिक्के के दो पहलू हैं। यह सिद्धान्त द्वैतवादी सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत हैं।

**मुख्य समर्थक (Main Supporters)** — एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों केल्सन (Kelson), ड्यूगी (Duguit), कुंज (Kunz), क्रैब (Crabbe), दुर्खीम (Durkheim), राइट Wright), वैरड्रॉस (Verdross) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के पक्ष में निम्न तर्क हैं—

**i) दोनों का विषय व्यक्ति है** (Individual is the subject—matter of both)—अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून दोनों का विषय व्यक्ति है। राष्ट्रीय कानून सीधे व्यक्ति से संबंधित होते हैं, जबकि अंतर्राष्ट्रीय कानून राज्य के माध्यम से व्यक्ति पर लागू होते हैं। राज्य वैसे भी निराकार तथा अमूर्त हैं। राज्य व्यक्तियों से ही बनता है। राज्य के चार अनिवार्य तत्त्वों में जनसंख्या सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। राज्य के अधिकार तथा कर्तव्य वस्तुतः नागरिकों के ही अधिकार तथा कर्तव्य हैं जो राज्य में निवास करते हैं।

वेस्ट लेक के अनुसार, "राज्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य वास्तव में उन मनुष्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं जिनसे मिलकर राज्य बनता है।"

**(ii) दोनों की बाध्यकारी प्रकृति** (Binding Nature of Both)—एकत्ववादी राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून को एक मानने के पक्ष में तर्क देते हैं कि दोनों की प्रकृति बाध्यकारी है। दोनों ही अपने अधीनस्थों को आदेश देते हैं।

**(iii) विधि का विज्ञान एकीकृत ज्ञान का क्षेत्र है** (The Science of Law is a Unified Field of Knowledge)—स्टार्क के अनुसार विधि का विज्ञान एकीकृत ज्ञान का क्षेत्र है। इस सिद्धांत के समर्थक अंतर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का व्यापक रूप समझते हैं। दोनों की मूल प्रकृति एक ही है। दोनों ही कानून एक ही सिक्के के दो पहलू कहे जा सकते हैं। दोनों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है क्योंकि दोनों का प्रादुर्भाव एक ही उच्चतर कानून से होता है।

**3. रूपान्तरवादी सिद्धान्त (Transformation Theory)** — रूपान्तरवादी सिद्धान्त जैसा कि 'रूपान्तर' शब्दावली से स्पष्ट होता है, वह सिद्धान्त है जो किसी वस्तु अथवा नियम के रूप में परिवर्तन (रूप+अन्तर) पर बल देता है। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय कानून देश के नागरिकों पर उस समय लागू किया जाता है जब वहाँ की संसद अथवा विधानसभा द्वारा अपने देश के कानून में परिवर्तन कर दिये जाते हैं। जब तक इस प्रकार का रूपांतर नहीं होता तब तक अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन नहीं होगा। जब किसी अंतर्राष्ट्रीय संधि को राष्ट्रीय कानून के रूप में बदला जाता है तो यह केवल औपचारिकता मात्र नहीं होता वरन् एक वास्तविकता बन जाती है। इसके बिना कोई भी अंतर्राष्ट्रीय कानून वैध नहीं बनता तथा न ही उसका पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।)

### सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Theory)

रूपांतरवादी सिद्धांत की कुछ आलोचकों द्वारा आलोचना की गई है। निम्नलिखित आधार पर इस सिद्धांत की आलोचना की गई है।

1. राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून स्वतंत्र कानूनी प्रणालियों हैं, रूपांतरवादी विचारकों की यह अवधारणा अनुचित है।

2. रूपांतरवादी सिद्धांत राज्यों की सहमति पर आधारित है। जब तक राज्य की विधानपालिका द्वारा इसका समर्थन नहीं किया जाता, यह बन्धनकारी नहीं होता, यह अवधारणा उचित नहीं है।

3. प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय कानून को राज्यों में लागू करने से पूर्व रूपांतरण अनिवार्य है, यह विचार भी सही नहीं है। अनेक अंतर्राष्ट्रीय कानून ऐसे हैं जिन्हें बिना रूपांतरण के भी लागू किया जा सकता है।

4. अंतर्राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों पर लागू होते हैं, यह अवधारणा भी उचित नहीं है। यह सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय संधि के कार्यान्वित तथा परिवर्तन में अंतर की अवहेलना करता है। जब कोई देश किसी संधि के उपबन्धों को राष्ट्रीय विधि के रूप में अधिनियमित करता है तो वह उसका परिवर्तन नहीं करता वरन् कार्यान्वित करता है। केल्सन के अनुसार 'यदि कोई सन्धि किसी राज्य पर ऐसा दायित्व डालती है जो केवल विधायी कार्यवाही से पूर्ण हो सकता है, तो यह कार्यवाही अंतर्राष्ट्रीय कानून का परिवर्तन नहीं है, वरन् सक्षम प्राधिकारी द्वारा उस संधि को सीधा लागू करना है।'

6. राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून एक ही व्यवस्था के अंग हैं, इसलिए उनके रूपांतर का प्रश्न नहीं उठता।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—रूपांतरवादी अवधारणा के पक्ष तथा विपक्ष में विचार के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रीय विधान पालिकाएँ अंतर्राष्ट्रीय संधियों को पूर्ण रूप से स्वीकार तथा अस्वीकार कर सकती हैं, उनके स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर सकती। संधि के एक शब्द को परिवर्तित करने का अधिकार राज्य विधानपालिका को नहीं होता।

### 4. प्रत्यायोजन अथवा समर्पणवादी सिद्धांत (Delegation Theory)

प्रत्यायोजन अथवा समर्पणवादी सिद्धांत के समर्थकों का यह कहना है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य है। राज्यों को अंतर्राष्ट्रीय कानून द्वारा क्रियान्वयन के क्षेत्र में शक्ति हस्तांतरित की जाती है। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार सौंपा जाता है कि वह स्वयं निर्णय करे कि कोई संधि कब और कैसे लागू की जाएगी तथा उसे किस प्रकार राष्ट्रीय कानून का भाग बनाया जाएगा? इस तरह यह सिद्धांत राज्यों को स्वतः यह निर्धारित करने की स्वतंत्रता देता है कि वे किसी सीमा तक अंतर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को स्वीकार करें। समर्पणवादियों के अनुसार अंतरर्राष्ट्रीय संधियों का कोई रूपांतर नहीं होता तथा न ही किसी राज्य की विधानपालिका किसी नवीन का निर्माण करती हैं।

स्टार्क के मतानुसार, "राज्य कानून की संवैधानिक आवश्यकताएँ कानून निर्माण की एकात्मक कार्य विधि की केवल एक भाग होती हैं, इसलिए रूपांतरवादी तथा समर्पणवादी सिद्धांत में कोई अंतर नहीं है।"

**आलोचना (Criticism)**— समर्पणवादी सिद्धांत की व्याख्या को लेकर सभी विद्धानों में एकमत नहीं है। बहुत से विद्वान इस विचार से सहमत नहीं। इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए उनका कहना है कि—

1. यह सिद्धांत प्रतिदिन के व्यवहार की वास्तविकताओं से दूर छिटक जाता है।

2. समर्पणवादियों का यह दृष्टिकोण गलत है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

3. यह सिद्धांत इस कल्पना पर आधारित है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के कुछ संवैधानिक नियम होते हैं।

4. इस सिद्धांत ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के संबंध में कोई बात सामने नहीं रखी, इसलिए यह अधूरा सिद्धांत है।

**5. विशिष्ट ग्रहणीकरणवादी सिद्धांत (Specific Adoption Theory)**—अस्तित्ववादियों का मत है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून को प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में लागू नहीं किया जा सकता है। इसे लागू करने के लिए अनिवार्य है कि इसको विशिष्ट रूप से राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में ग्रहण किया जाए। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें राष्ट्रीय कानून अपनी विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा स्वीकृति प्रदान करे।)

### अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में संघर्ष स्थिति की स्थिति में—प्राथमिकता का प्रश्न (Conflict Between

International Law and National law—Question of Primacy) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में यदि संघर्ष उत्पन्न होता है तो प्राथमिकता कौन-सी विधि को दी जानी चाहिए? यदि हम एकतत्त्ववादी सिद्धान्त को मानते हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि अथवा राष्ट्रीय विधि किसी को दी जा सकती है। परन्तु यदि हम द्वैतवादी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं तो निश्चित रूप से प्राथमिकता राष्ट्रीय विधि को दी जानी चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का समुचित संहिताकरण होता तो वह सुनिश्चित, सुस्पष्ट, संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध होती तथा राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विरोधाभास की समस्या ही उत्पन्न नहीं होती। अतः विद्वानों ने इस संघर्ष का समाधान करने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—

**अंतर्राष्ट्रीय विधि को प्राथमिकता** (Primacy of International Law)

राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के बीच उपस्थित होने वाले संघर्ष को दूर करने तथा कानून को प्राथमिकता देने के संबंध में कुछ विचारकों का मत है कि प्राथमिकता अंतर्राष्ट्रीय कानून को दी जानी चाहिए।

उनका मत है कि—

1. राज्य को यथासंभव अपने राष्ट्रीय कानूनों में अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांतों को स्थान देना चाहिए।

2. अंतर्राष्ट्रीय संधि को सभी स्थित राष्ट्रीय कानूनों से ऊपर माना जाना चाहिए तथा विरोध उत्पन्न होने पर संधियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

3. यदि अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानूनों के बीच कोई संघर्ष उत्पन्न हो जाए तो अंतर्राष्ट्रीय कानून को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

1.यदि राष्ट्रीय कानून को श्रेष्ठ मान लिया जाये तो संयुक्त राष्ट्र के लगभग 190 सदस्यों के कानून अंतर्राष्ट्रीय कानून से श्रेष्ठ हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों तथा कानूनों की पालना नहीं वरन् अवहेलना होगी।

2. यदि अंतर्राष्ट्रीय कानून को वैधता राज्यों के संविधानानुसार प्राप्त होगी तो संविधान के संशोधन अथवा समाप्त होने पर वैधता समाप्त हो जायेगी। यह विचार तर्कसंगत नहीं है। राज्यों के संविधान में संशोधन होने अथवा उसके समाप्त होने पर अंतर्राष्ट्रीय कानून न तो समाप्त होता है तथा न ही इस पर कोई प्रभाव पड़ता है।

3. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् बहुत से नवोदित राष्ट्रों का उदय हुआ। वे पश्चिमी देशों की गुलामी से स्वतंत्र हुए। जब एक नवोदित राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बनता है, तो उस राज्य की सहमति के बिना भी उसे अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। एक राष्ट्र के संविधान के नियम अंतरर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल होने चाहिएं, प्रतिकूल नहीं।

4. वर्तमान समय में यदि विभिन्न देशों के संविधानों का अध्ययन करें तो हमें यह विदित होता है कि अधिकांश राज्यों के संविधानों अथवा मौलिक नियमों में अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को प्राथमिकता प्रदान की है। अन्य शब्दों में जब कोई राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का भाग मान लेता है तो उस कानून के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण भी राष्ट्रीय कानून का अंग बन जाता है।

**प्रश्न 3. अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून के संबंध के विषय में राज्यों के व्यवहार की व्याख्या करें। (Explain the state practices regarding the relationship between International Law and Municipal Law.)**

**उत्तर— कुछ देशों में अंतर्राष्ट्रीय कानून का व्यवहार (Practices of International Law in Some Countries)**

भूमिका (Introduction)— विश्व में अंतर्राष्ट्रीयता के प्रसार के साथ—साथ अंतर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्व भी बढ़ गया है। वर्तमान में अधिकांश सभ्य राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय कानून में इसे शामिल कर लिया है। कुछ प्रमुख देशों में अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून की स्थिति को देखकर दोनों के पारस्परिक संबंधों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

**ब्रिटेन में अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law in Great Britain)**—ग्रेट ब्रिटेन में राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय कानून को कार्यान्वित करते समय प्रथाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय संधियों के नियमों में स्पष्ट अंतर रखा गया है। इंग्लैंड में अंतर्राष्ट्रीय कानून को कार्यान्वित करने के लिए दो नियमों को अपनाया गया है।

1. अंतर्राष्ट्रीय विधि प्रथा संबंधी नियम (Customary Rules)

2. संधियों संबंधी नियम (Rules by Treaties)

**1. अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा संबंधी नियम (Customary Rules of International Law)**—ग्रेट ब्रिटेन में अंतर्राष्ट्रीय कानून के परंपरागत नियमों को राष्ट्रीय कानूनों का अंग मान लिया गया है। ये नियम सामान्य रूप से स्वीकार किए जाते हैं क्योंकि ब्रिटिश कानून का भाग बन जाने के बाद ये उसके आवश्यक अंग बन चुके हैं। ग्रेट ब्रिटेन कॉमन लॉ (Common Law) की सत्ता में विश्वास करता है, इसलिए राष्ट्रीय कानूनों में अंतरर्राष्ट्रीय कानूनों को बहुत पहले ही शामिल कर लिया गया।

ब्लैक स्टोन ने 1765 में बताया कि अंतर्राष्ट्रीय कानून को देश के कॉमन लॉ द्वारा स्वीकार कर लिया गया है और यह देश के कानून का भाग है। ब्लैक स्टोन का कहना था कि यदि राष्ट्रों के कानून के संबंध में क्षेत्राधिकार की दृष्टि से कोई प्रश्न उठे तो उसे कॉमन लॉ के अंतर्गत समझा जाना चाहिए तथा यह माना जाना चाहिए कि यह देश के कानून का ही एक हिस्सा है। इस सिद्धांत को सम्मिश्रण का सिद्धांत कहा जाता है।

1764 में ट्रिकेव बनाम बाय (Triquet Vs. Bath) मामले में लार्ड मेन्सफील्ड ने अनुमोदन सहित लार्ड टाबाट की सम्मति को इससे पूर्व के बारबूत 1735 के मामले को उद्धृत करते हुए कहा कि "राष्ट्रों की विधि पूर्णतथा इंग्लैंड की विधि का भाग है।"

इस परंपरागत दृष्टिकोण के आधार पर अनेक अभियोगों में निर्णय किए गए। इन मामलों में डाउल्डर बनाम हंटिंग फील्ड 1805 (Dolder Vs. Hanting field 1805), वुल्फ बनाम ओकम, 1817 (Wolff Vs. Oscholm 1817), आस्ट्रिया के सम्राट् बनाम डे 1861 (Emperior of Austria Vs. Day 1861) आदि मुख्य हैं।

इस परंपरागत मत को 1876 में फ्रेंकोनिया विवाद के समय अस्वीकार कर दिया गया। इसमें कहा गया या कि अंतर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इंगलिश तट से तीन मील दूर तक के प्रादेशिक समुद्र में यदि विदेशियों द्वारा अपराध किए जाते हैं तो उनकी सुनवाई का अधिकार ब्रिटिश न्यायालय को नहीं होगा। इस निर्णय के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय कानून को ब्रिटिश कानून का अंग मानने वाली धारणा समाप्त हो गई तथा एक नये सिद्धांत का आरम्भ हुआ, जिसके अनुसार अंतरर्राष्ट्रीय कानून ब्रिटिश कानून का भाग संसद द्वारा विधिवत् अंगीकृत होने के पश्चात् ही हो सकता है। संसद की स्वीकृति के बिना कोई भी अंतर्राष्ट्रीय कानून ब्रिटिश कानून का हिस्सा नहीं बन सकता। संसद ने तुरन्त ही भू—भागी जल क्षेत्र को ब्रिटिश क्षेत्राधिकार में करने के लिए एक कानून 1878 में पास कर दिया। इस अधिनियम से अंतर्राष्ट्रीय कानून को ब्रिटिश राष्ट्रीय कानून का भाग स्वीकार किया गया तथा ब्रिटिश न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय कानून को रखा गया।

इसके बाद से यह माना जाने लगा कि अंतर्राष्ट्रीय कानून यदि सभ्य समाज द्वारा स्वीकृत हो गया है तो ब्रिटिश न्यायालय भी ऐसे नियमों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

वेस्टरेण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी बनाम राजा 1905 (West Rand Central Goldmining Company Vs. King 1905) के विवाद में लार्ड एल्बर स्टोन ने पुराने परंपरागत मत की पुनः स्थापना करते हुए अपने निर्णय में लिखा था कि "जिन पर हमारे देश की सामान्य सहमति है तथा सामान्य रूप से जिन पर अन्य देशों के साथ हमारे देश ने भी सहमति दी है, इन्हें उचित रूप से अंतर्राष्ट्रीय कानून कहा जा सकता है तथा जब हमारे राष्ट्रीय न्यायालयों के सम्मुख अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न आयेंगे तो वे इस कानून को स्वीकार तथा लागू करेंगे।" इसी प्रकार च्यांग—ची—चुंग बनाम राजा (Chuanage Chichung Vs. King) के विवाद में लार्ड अटकिन ने कहा कि "न्यायालय उस नियमावली के अस्तित्व को मान्यता देते हैं जिसे राष्ट्र अपने मध्य स्वीकार करते हैं। किसी भी न्यायिक प्रश्न पर वे ये निश्चित करने का प्रयास करते हैं कि तत्संबंधी नियम क्या है? और यह नियम निश्चित करने के पश्चात् वे इसे राष्ट्रीय विधान का भाग मानते हैं। परन्तु यह नियम संसदीय कानूनों अथवा न्यायालयों द्वारा निर्धारित नियमों के प्रतिकूल नहीं होने चाहिएं।"

उपरोक्त निर्णय से स्पष्ट होता है कि इंग्लैंड में यह स्वीकार कर लिया गया है कि अंतर्राष्ट्रीय प्रवाएँ राष्ट्रीय कानून का भाग हैं। परन्तु ब्रिटिश न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय कानून की प्रथाओं को कुछ शर्तों के साथ लागू करते हैं—

1. अंतर्राष्ट्रीय प्रथा संबंधी नियमों को सभ्य राष्ट्रों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय आचरण के रूप में स्वीकृति दी जा चुकी है।

2. प्रथा संबंधी नियम संसदीय कानूनों अथवा न्यायालयों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल हों। कार्यपालिका से संबंधित जैसे युद्ध की घोषणा आदि ब्रिटिश न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर है।

3. ऐसे मामलों में ब्रिटिश न्यायालय विचार—विमर्श नहीं कर सकते। चाहे अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन ही क्यों न हो।

4. ताज के परमाधिकार (Prerogative of Crown) संबंधी विवाद भी ब्रिटिश न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर है। न्यायालय इन पर विचार नहीं कर सकते।

**2. अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित कानून** (Rules laid down by International Treaties)

अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित कानून के संबंध में अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय प्रथा संबंधी नियमों से बिल्कुल भिन्न है। इंग्लैंड में जो भी संधियों तथा समझौते किए जाते हैं ये सब ताज (Crown) द्वारा किए जाते हैं। ययपि सभी संधियों की संसद से स्वीकृति लेना अनिवार्य नहीं है परन्तु महत्त्वपूर्ण संधियों की संसद से स्वीकृति अनिवार्य है। जिन संधियों पर संसद की स्वीकृति अनिवार्य है, वे निम्नलिखित हैं—

1. नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करने वाली संधियाँ।

2. वे संधियाँ जो ब्रिटिश सामान्य विधि (Common Law) अथवा ब्रिटिश राष्ट्रीय विधियों (British Municipal Law) में संशोधन की अपेक्षा करती हों।

3. जिन संधियों से ताज की शक्तियों में अतिरिक्त वृद्धि होती हो।

4. ब्रिटिश सरकार अतिरिक्त आर्थिक बोझ अथवा दायित्व डालती हो।

**संसदीय स्वीकृति की आवश्यकता नहीं** (No need of Parliamentary Consent)—अंतर्राष्ट्रीय अनेक ऐसी संधियों हैं जिनके लिए संसद की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी संधियों निम्नलिखित है—

1. समुद्री युद्ध के बीच की गई संधियाँ जिनसे ताज के युद्ध संबंधी अधिकारों में वृद्धि होती है।

2. जिनका संबंध प्रशासनिक समझौतों से होता है।

3. मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं से संबंधित संधियों।

**प्राथमिकता का प्रश्न—राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित नियम में गतिरोध की दशा** में (A question of Primacy—In case of conflict between National Law and Rules laid down by International Treaties.)—

ग्रेट ब्रिटेन के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि जो संचियों व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करती हैं तथा सामान्यतः जिनकी क्रियान्विति के लिए देश के न्यायालयों को कार्य करने हैं उन्हें संसद के कानून द्वारा संसदीय स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय कानून का भाग होते हुए भी बाध्यकारी संधियाँ उस समय तक देश के कानून का भाग नहीं बनीं जब तक कि व्यवस्थापिका द्वारा ऐसा न किया जाए।

कोम्पेनिया नेविरा बनाम क्रिश्विना (Compania Naviera Vs. Chirstina) के मामले में लार्ड मैकमिलन ने निर्णय दिया कि

"सार्वजनिक अंतर्राष्ट्रीय कानून के किसी सिद्धांत को हमारे राष्ट्रीय कानून में अंगीकार करने की सर्वसम्मत शर्त यह है कि इसे सभ्य राष्ट्रों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय आचरण के रूप में सामान्य स्वीकृति दी जा चुकी । यह स्वीकृति संथियों, समझोतों तथा न्यायालयों

इस प्रकार अधिकांश परिस्थितियों में ग्रेट ब्रिटेन में अंतर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का भाग मान लिया है। अंतर्राष्ट्रीय कानून के नियम राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अपनी व्यवस्था के अनुसार लागू किए जाते हैं। जब संधियों को ब्रिटिश संसद द्वारा कानून का रूप दे दिया जाता है तो वे न्यायालयों द्वारा लागू होने लगती हैं।

## अमेरिका में अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law in America)

भूमिका (Introduction)— **ब्रिटेन की तरह अमेरिका में भी अंतर्राष्ट्रीय कानून को दो वर्गों में विभक्त किया गया है।**

I. अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा संबंधी नियम (Customary Rules of International Law)

II. संधियों द्वारा निर्मित नियम (Rules laid down by Treaties)

**I. अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा संबंधी नियम (Customary Rules of International Law)**—अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रथाओं से संबंधित नियमों को ग्रेट ब्रिटेन की तरह अमेरिका में भी राष्ट्रीय कानून का एक भाग माना गया है। यदि अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा संबंधी नियम संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान तथा कांग्रेस द्वारा पारित उन संविधियों के विपरीत न हों, जो अंतर्राष्ट्रीय प्रथागत विधि के नियमों के विकसित होने के उपरान्त पास किए हों। अमेरिका में अंतर्राष्ट्रीय कानून के दायित्वों का निर्वाह करने के लिए राष्ट्रीय कानून में आवश्यक समायोजन करने संबंधी पहलू अनेक न्यायिक निर्णयों में वर्णित किए गए हैं। पैक्वेट हवानावाद 1900 (The Paquete Hawana Case 1900) में न्यायाधीश ग्रे ने स्पष्टतः लिखा है कि "अंतर्राष्ट्रीय कानून हमारे कानून का भाग है, तथा इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर उपयुक्त अधिकार क्षेत्र वाले राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा इनका निर्धारण तथा प्रशासन होना चाहिए।"

हिल्टन बनाम गुयोटवाद (The Hilton Vs. Guot Case) में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने कहा, "अंतर्राष्ट्रीय कानून अपने सुविस्तृतम तथा व्यापकतम अर्थ में हमारे कानून का भाग है।"

ऑवर दी टॉप (Over the Top) के मामले में कहा गया कि "अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार उसी हद तक कानून है जहाँ तक हम इसे ग्रहण करते हैं।"

उपरोक्त वर्णित विवादों में न्यायाधीशों ने स्पष्ट कहा कि इंग्लैंड की भांति अंतर्राष्ट्रीय कानून हमारी राष्ट्रीय विधि का एक भाग है (International Law is a part of the American National Law) ।

यद्यपि अमेरिका में अंतर्राष्ट्रीय प्रथागत नियमों को इंग्लैंड की तरह मान्यता दी गई है, परन्तु अमेरिका के अभियास में यह अंतर है कि यदि अमेरिका के राष्ट्रीय कानून तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून में कोई संघर्ष होता है तो जो भी कानून बाद की तिथि का होगा उसे ही लागू किया जाएगा।

**II. अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित नियम (The Rules laid down by International Treaties)**—अंतर्राष्ट्रीय संधियों के संबंध में ब्रिटिश अभ्यास तथा अमेरिकन अभ्यास में मौलिक अंतर है।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस सिद्धांत कि "अंतर्राष्ट्रीय कानून देश के कानून का भाग है" को बिना किसी संदिग्धता के लागू किया है। सब अंतर्राष्ट्रीय विधियाँ जो अमेरिका द्वारा सत्यांकित की गई हैं अमेरिका के न्यायालयों पर बंधनकारी हैं। चाहे वे संविधियों के अनुबंधों के प्रतिकूल ही क्यों न हों।

संविधान के अनुच्छेद में यह विशेष रूप से वर्णित है कि "संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकार के अधीन की गई सब संधियाँ तथा जो भविष्य में की जाएंगी, देश की सबसे श्रेष्ठ विधि होंगी तथा प्रत्येक राज्य का न्यायाधीश उससे बाधित होगा चाहे किसी राज्य के संविधान में अथवा विधियों में उसके विरुद्ध कुछ भी हो।" अमेरिका में संधियों को दो वर्गों में बाँटा गया है—

A1 वे संधियाँ जिनको राज्य के कानून तथा कांग्रेस की स्वीकृति के बिना ही लागू किया जाता है। यदि स्वनिष्पादक वे संविधान के अनुकूल हैं।

2. दूसरी तरह की वे संधियाँ हैं जिनको लागू करने के लिए संसद द्वारा उचित विधि में बदलने की संधिया

गैर—स्वनि आवश्यकता होती है। अन्य शब्दों में इन संधियों को विधि के रूप में परिणत होने के लिए अमेरिकन सीनेट की दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। जब तक ये संधियाँ कानून के रूप में परिणत सदिया नहीं होती तब तक अमेरिकन न्यायालयों पर बाध्यकारी नहीं होती।

निःसंदेह संधियों का कानूनों की भाति संविधान के अनुकूल होना आवश्यक है। रीड बनाम कोवर्ट 1956 में यह कहा गया कि सर्वोच्च न्यायालय नियमित रूप से संघि की अपेक्षा संविधान की सर्वोपरिता मानता रहा है।

संधि के लागू होने में एक और प्रतिबन्ध है। संधि ऐसे किसी कानून के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए जो संधि होने के पश्चात् कांग्रेस द्वारा पारित किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सिद्धांत का पालन अनेक

मामलों में किया है। टेलर बनाम मार्टन, किल्टनब्रिन रोप्स बनाम क्लिंच, वर्टराम बनाम राबर्टसन जेसे अनेक मामलों में अमेरिका सर्वोच्च न्यायालय ने संधि की अपेक्षा राष्ट्रीय कानून को प्राथमिकता दी है। के

**निष्कर्ष (Conclusion)**- ऊपर वर्णित व्यवस्था के अंतर्गत संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि—

1. वे ही अंतर्राष्ट्रीय कानून के नियम न्यायालयों द्वारा लागू किए जाएँगे जो अमेरिका द्वारा स्वीकृत हों अथवा जिनके पीछे सार्वजनिक मान्यता अथवा सहमति हो।

2 दूसरे वे नियम संविधान विरोधी न हों। टैग बनाम रोजर्स में यह निर्णय दिया गया था कि न्यायालय ऐसे अंतर्राष्ट्रीय कानून को लागू नहीं करेगा जो संविधान के विरुद्ध हों।

3. तीसरे वे नियम कांग्रेस द्वारा पारित उन विधियों के प्रतिकूल न हों जो कांग्रेस ने प्रयागत अंतर्राष्ट्रीय नियम के विकसित होने के उपरान्त पास किए हों।

## भारत में अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law in India)

भारत का संविधान दिसम्बर, 1946 में बनना आरम्भ हुआ तथा 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के समय यद्यपि भारत स्वतंत्र नहीं हुआ था परन्तु भारत को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बना दिया गया था। राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले 51 सदस्यों में से भारत भी एक था।

भारत के संविधान में भारत को प्रभुसत्ता संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया। संविधान के तीसरे अध्याय में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है तो चौथे अध्याय में राज्य के नीति के निर्देशक सिद्धांतों की व्यवस्था की गई है।

शांतिपूर्ण सह—अस्तित्व तथा पंचशील के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए संविधान के अनुच्छेद 51 में व्यवस्था की गई कि अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा के संबंध में भारतीय राज्य यह प्रयास करेगा—

1. अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को प्रोत्साहन देना।

2 राष्ट्रों के मध्य न्यायपूर्ण तथा सम्मानजनक संबंध स्थापित हो।

3. अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा संधि के उत्तरदायित्वों को राज्यों के परस्पर व्यवहारों में सम्मान मिले।

4. अंतर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण साधनों से समाधान का प्रयास।

भारत के संविधान के चौथे अध्याय में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों का वर्णन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 51 में अंतर्राष्ट्रीय शांति सुरक्षा के संबंध में यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय सधियों से उत्पन्न दायित्वों के सम्मान में वृद्धि हो, यद्यपि वे सिद्धान्त न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर हैं परन्तु फिर भी राज्य के शासन संचालन में इनको मौलिक समझा जायेगा तथा राज्य कानून बनाते समय इन सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास करेगा। यद्यपि भारत के संविधान में निर्देशक सिद्धांतों का बहुत महत्त्व है परन्तु संविधान के अनुच्छेद 51 से राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून में संबंधों की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती।

संविधान के अनुच्छेद 37 में वह व्यवस्था की गई है कि निर्देशक सिद्धांतों को लागू न करने की स्थिति में न्यायालय का सहारा नहीं लिया जा सकता। इसके बावजूद भी इन सिद्धांतों की कार्यान्वित करना राज्य का मौलिक कर्तव्य है।

अंतरर्राष्ट्रीय कानून तथा संधि के दायित्वों का अनुच्छेद 51C में विशेष वर्णन किया गया है। एलेक्जेंल्ड्रोविज (Alaxandrowtiz) के विचारानुसार, 'अंतर्राष्ट्रीय विधि का अयं प्रया संबंधी अंतर्राष्ट्रीय विधि है तथा सोप के दायित्वों का अर्थ संधियों से है।'

अंतर्राष्ट्रीय कानून की मान्यता को लेकर भारत में भी दो विचार हैं—

1. अंतरर्राष्ट्रीय कानून के प्रथा संबंधी नियम (Costomary Rules of International Law)

2. अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा निर्मित नियम (Rules Laid down by International Treaties)

**1. प्रथा संबंधी नियम (Customary Rules)**—भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था, इसलिए भारत में ब्रिटिश सामान्य विधि (British Common Law) के सिद्धांत लागू थे। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के अपने संविधान के अनुच्छेद 372 में यह व्यवस्था की गई है कि यदि संविधान में संशोधन नहीं किया जाता तो पूर्व प्रचलित विधियों ही चलेंगी।

भारत में अंतर्राष्ट्रीय प्रथा संबंधी नियम राष्ट्रीय कानून के भाग हैं तथा अनुच्छेद 51 का इस सिद्धांत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परिणामस्वरूप भारत में अंतर्राष्ट्रीय प्रथा संबंधी कानून के संबंध में स्वतंत्रता से पहले जो दशा थी आज भी वही दशा है।

**2. संधियों संबंधी नियम (Rules laid down by Treaties)**—भारत के संविधान के अनुच्छेद 253 के अंतर्गत संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी संधि, समझौते अथवा किसी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संगम अथवा अन्य निकाय के निर्णय को लागू करने के लिए नियम बना सकती है तथा ऐसा कानून सारे देश में मान्य होगा। इस व्यवस्था का आंतरिक महत्त्व यह है कि राष्ट्रीय सरकार यदि संधि के द्वारा राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्र पर अतिक्रमण करती है तो ऐसा करना वैध होगा। परन्तु इस प्रावधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि संधियों केवल संसदीय कानून से ही लागू की जा सकती हैं। भारतीय संसद ने अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों को कार्यान्वित करने हेतू समय—समय पर विधियों का निर्माण भी किया है।

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में संघर्ष की स्थिति—प्राथमिकता का प्रश्न** (Conflict Between International Law and National Law—Questions of Primacy) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में यदि संघर्ष उत्पन्न होता है तो प्राथमिकता किस विधि को दी जाएगी? इस संबंध में भारतीय उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के संदर्भ के द्वारा ही स्थिति का स्पष्टीकरण सम्भव हो सकता है। भारतीय न्यायालयों में अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को पूर्ण सम्मान प्रदान किया गया है। श्री कृष्ण शर्मा बनाम प० बंगाल राज्य वाद, 1964 (The Sri Krishna Sharma Vs. West Bengal Case, 1964) में उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया, "राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करते समय तथा इसको क्रियात्मक रूप देते समय न्यायालय ऐसी व्याख्या स्वीकार करने का प्रयास करेगा जो उन अधिकारों तथा दायित्वों का विरोध न करती हो जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम से निकाले गए हो। परन्तु वे साथियों जा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भाग हैं, संसद द्वारा स्पष्ट रूप से अंगीकृत की जानी चाहिए अन्यथा राज्यों के क्षेत्राधिकार में कार्यान्वन अवैध माना जाएगा। अर्थात् वे न्यायालयों के द्वारा राज्यों के क्षेत्राधिकार में कार्यान्वित नहीं की जा सकती। यह नियम भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास बनाम सी. जी. मेनन बाद,

1954 (The Madras Vs. C. G. Menon Case, 1954) प्रतिपादित किया। इसी आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने भगनभाई ईश्वरभाई पटेल बनाम भारतीय संच, 1969 (The Maganbhai Ishwarbhai Patel Va Union of India, 1969) में निर्णय दिया।

**3. फ्रांस में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थिति** (Position of International Law in France)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध में फ्रांस का व्यवहार अथवा अभ्यास सम्मिश्रणवाद के सिद्धान्त पर आधारित हैं क्योंकि फ्रांसीसी न्यायालयों के दृष्टिकोण में एकमत अथवा एक नियम का अभाव है। फ्रांस के पाँचवें गणराज्य के संविधान, 1958 (The Constitution of the Fifth Republic of France, 1958) के अनुच्छेद 53 तथा 55 (Article 53 and 55) के अनुसार संधियों के अनुसमर्थन की व्यवस्था है। संविधान के अनुसार शान्ति व व्यापार संधियों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से समझौते, राज्य वित्त संबंधी संधियों इत्यादि के क्रियान्वयन हेतु संसद का अनुसमर्थन नितान्त अनिवार्य है अन्यथा ये वैध नहीं माने जाएँगे। परन्तु भू—भाग के अलग होने (Cession of Territory), क्षेत्रीय विनिमय (Exchange of Territory) अथवा क्षेत्रीय सम्मिलन (Addition of Territory) से संबंधित संघियाँ जनता की स्वीकृति के बिना कार्यान्वित नहीं होगी। इसके अतिरिक्त यदि संविधान परिषद् किसी संधि को अवैध घोषित कर देता है तो ऐसी संधि संविधान में संशोधन होने पर ही अनुमोदित हो सकती है। परन्तु संधियों तथा समझौते के अनुमोदन के पश्चात् अनुच्छेद 55 (Article 55) के अनुसार वे 'विधि से श्रेष्ठ प्राधिकार रखते हैं।' परन्तु फ्रांसीसी न्यायालयों के निर्णयों में विरोधाभास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कुछ एक विवादों में न्यायालयों ने अपने निर्णयों में अनुसमर्थन के पश्चात् कार्यान्वित होने वाली संधियों को राष्ट्रीय विधि से श्रेष्ठतर माना है, जबकि अनेक अन्य निर्णयों में राष्ट्रीय विधि को अन्तर्राष्ट्रीय विधि से प्रबल माना है। कुछ संधियों में संसद का अनुसमर्थन अनिवार्य नहीं है। उनको प्रकाशित होने पर मान्य माना जाता है जबकि कुछ संधियों को संसद के अनुसमर्थन तथा कुछ अन्य संधियों को कार्यान्वन हेतु जनमत संग्रह की आवश्यकता है। ऐसी संधियाँ जिनको न्यायालयों ने अवैध घोषित कर दिया हो उनके कार्यान्यन हेतु संविधान के संशोधन की आवश्यकता पड़ती है। अतः कुल मिलाकर फ्रांस में अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि के संबंधों के संबंध में सम्मिश्रणवाद के सिद्धान्त को अपनाया गया है और राष्ट्रीय विधियों की सर्वोच्चता को आधार मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि को कार्यान्वित किया जाता है। अर्थात् राष्ट्रीय विधि को अन्तररर्राष्ट्रीय विधि की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

**4. यूरोप के अन्य देशों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थिति** (Position of International Law in Other Countries of Europe) — यूरोप के अनेक देशों के संविधानों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्थान प्रदान किया गया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के महत्त्व को स्वीकृति प्रदान की गयी है। यूरोप के कुछ देशों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध में निम्न व्यवस्था है—

**(i) नार्वे का संविधान** (The Constitution of Norway) — इंग्लैण्ड की भाँति नार्वे में अन्तररर्राष्ट्रीय विधि के प्रया—संबंधित नियम (Customary Rules of International Law) राष्ट्रीय विधि का अंग हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों की नार्वे की व्यवस्थापिका परिषद् ने स्वीकृति होना अनिवार्य है। इस स्वीकृति के पश्चात् ही अन्तर्राष्ट्रीय संधि के नियम (Rules 1 zid down by International Treaties) राष्ट्रीय विधि से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं अन्यथा नहीं।

**(ii) नीदरलैंड्स (हॉलैंड) का संविधान** [The Constitution of Netherlands (Holland)]—नीदरलैंड्स (हॉलैंड) के संविधान के अनुच्छेद 63 (Article 63) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्यवस्था के विकास के लिए संविधान में संशोधन किया जा सकता है।

**(iii) स्पेन का संविधान, 1931 (The Spanish Constitution, 1931)**— स्पेन के संविधान, 1931 के अनुच्छेद 9 (Article 9) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्पेन की विधि का भाग है।

**5. भूतपूर्व सोवियत संघ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थिति** (Position of International Law in Ex—Soviet Union) — भूतपूर्व सोवियत संघ में अन्तर्राष्ट्रीय संधि तथा राष्ट्रीय विधि में संघर्ष की अवस्था में अन्तररर्राष्ट्रीय संधि को अधिक मान्यता प्रदान की गई थी। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि तथा संविधान में संघर्ष की स्थिति में संविधान को श्रेष्ठतर माना गया है। अन्तररर्राष्ट्रीय प्रथा संबधी नियमों तथा राष्ट्रीय विधि में संघर्ष की स्थिति में राष्ट्रीय विधि को अधिक मान्यता प्रदान की गई। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रया संबंधी नियमों को सोवियत संघ की सरकार द्वारा स्वीकृति अनिवार्य थी। अतः भूतपूर्व सोवियत संघ में अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा संबंधी नियमों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था। सोवियत

संघ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में सह—अस्तित्व (Co—existence) पर अधिक बल दिया गया था।

**6. चीन में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थिति** (Position of International Law in China)— चीन के अभ्यास के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में संघर्ष की स्थिति में राष्ट्रीय विधि को प्राथमिकता प्रदान की जाती है।

**निष्कर्ष (Conclusion)** — वर्तमान समय में अधिकांश देशों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रथा संबंधी नियमों को राष्ट्रीय विधि का भाग माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधि के संबंध में राज्य विधि को क्षेत्राधिकार में कार्यान्वित करने हेतु राज्यों के व्यवहार में एकरूपता का अभाव है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि में घनिष्ठ संबंध बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त उग्र—राष्ट्रवादी भावना वर्तमान समय में इतनी प्रबल नहीं है जितनी कि 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थी। प्रकार्यात्मकतावादी सिद्धान्त तथा व्यवहार के कारण राज्य के मध्य गैर—राजनीतिक क्षेत्रों में निरन्तर सहयोग बढ़ता जा रहा है तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण की भावना प्रबल होती जा रही है। परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ के अंगों, विशेषीकृत अभिकरणों तथा अनेक क्षेत्रीय संगठनों, जैसे—यूरोपियन यूनियन (European Union) इत्यादि के प्रयासों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रति सम्मान की भावना निरन्तर बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ रहा है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता, कॉपीराइट, परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग, अविकसित देशों के औद्योगीकरण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पर्यावरण, मानवाधिकार, मादक दवाइयों के अभिसमय, युद्ध अपराधियों को सजा आतंकवाद इत्यादि विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के असंख्य ऐसे नियम हैं जो व्यक्तियों से संबंधित हैं। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम राष्ट्रीय विधियों को प्रभावित कर रहे हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के व्यक्ति संबंधित नियम राष्ट्रीय विधियों में समाविष्ट होने चाहिए।

## अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय : अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति का स्थान

## (Subjects of International Law: Place of Individual in International Law)

प्रश्न 1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (पात्र) की व्याख्या करें। (Describe the subjects of International Law.)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय राज्य हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ। तर्क दें। (The subjects of International Law are states or International Institutions. Explain.)

अथवा

इस कथन की व्याख्या करें कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पात्र केवल राज्य हैं। (Explain the statement that states alone are the subjects of International Law.)

अथवा

"केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है।" क्या आप इस मत से सहमत हैं? (Individuals alone are the subjects of International Law. Do you agree with this statement?)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्ति की स्थिति की व्याख्या करें। (Discuss the position of the individual in International

Law.)

अथवा

"अन्ततः मात्र व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है"। इस कवन की विवेचना करें। (In the ultimate analysis individuals alone are the subjects of International Law. Discuss this statement.)

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)— यह एक बहुत विवाद का विषय है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के विषय (पात्र) कौन हैं? व्यक्ति अथवा राज्य। क्या व्यक्ति भी अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत आता है? क्या अंतर्राष्ट्रीय कानून का संबंध केवल राज्य से है?

सामान्यतः यह समझा जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून का संबंध राज्यों के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा हितों से है। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरी इकाइयाँ अथवा व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में नहीं आते। वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय कानून का बहुत अधिक विकास हो चुका है। अब अंतर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के साथ—साथ गैर—राजनीतिक इकाइयों, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा सबसे बढ़कर व्यक्तियों पर भी लागू होते हैं। कानून के विषय से तात्पर्य उस इकाई से है जिसके अंतर्गत —

1. अधिकार तथा कर्त्तव्य प्राप्त हों।

2. जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा अपने अधिकारों को लागू करवाने की क्षमता रखता हो।

3. जो उस कानून द्वारा मान्यता प्राप्त अन्य विषयों से सर्वाधिक अथवा अन्य संबंध स्थापित करने की क्षमता रखता हो।

4. जो अंतर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण में किसी न किसी अंश में भाग लेने की क्षमता रखता हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय के सम्बन्ध में तीन विचारधाराएं अथवा मत प्रचलित हैं—

**1. परम्परागत विचारधारा (Traditional view) में राज्य प्रमुख ।**

**2. अतिवादी विचारधारा (Extremist view) में व्यक्ति प्रमुख ।**

**3. सन्तुलित विचारधारा (Balanced view) में राज्य के साथ—साथ गैर—राजनीतिक इकाइयां, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं तथा व्यक्ति शामिल।**

**1. परम्परागत दृष्टिकोण (Traditional view)** — परम्परागत दृष्टिकोण के समर्थकों का मत है कि केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिकार क्षेत्र में आते हैं, व्यक्ति नहीं। केवल राज्य को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं तथा केवल राज्य ही कर्तव्यों का पालन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यक्ति के कुछ भी अधिकार तथा कत्र्तव्य नहीं होते। एक व्यक्ति के केवल अपने राज्य में कुछ अधिकार तथा कर्तव्य होते हैं।

इस विचारधारा के सबसे प्रमुख समर्थक ओपेनहीम हैं। ओपेनहीम के अनुसार, "क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों की सहमति पर आधारित है, अतः राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विषय हैं।"

ओपेनहीम के अतिरिक्त फ्रेडरिक स्मिथ, जे. एफ. विलियम्स आदि समर्थक हैं। फ्रेडरिक स्मिथ के मतानुसार "केवल राज्यों को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अधिकार तथा कर्तव्य प्राप्त हैं।"

सोवियत विद्वान जी. आई. दुकिन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम अन्तर—राज्य सम्बन्धों को नियमित करते हैं तथा राज्यों के हितों को हितों को प्रभावित करते हैं। राज्यों के पारस्परिक सहमति का परिणाम होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम राज्यों की स्वेच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं।"

ये विचार स्पष्ट करते हैं कि केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं जबकि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लक्ष्य (object) हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति में अन्तर्राष्ट्रीय विधिक व्यक्तित्व का अभाव होता है क्योंकि उसके अन्तर्राष्ट्रीय कानून के

अन्तर्गत किसी भी तरह के अधिकार तथा कर्त्तव्य नहीं होते। यदि उसके कुछ अधिकार तथा कर्तव्य हैं तो केवल एक राज्य के नागरिक होने के कारण हैं। उसे अधिकार तथा कर्तव्य राज्य के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष वादी तथा प्रतिवादी के रूप में केवल राज्य ही पेश होते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था संयुक्त राष्ट्र में भी राज्यों को सदस्यता दी जाती है, व्यक्तियों को नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान के अनुच्छेद 34 में भी इंगित किया गया है कि न्यायालय के समक्ष आने वाले मामलों में केवल राज्य ही वादी तथा प्रतिवादी हो सकते हैं।

इस सिद्धान्त के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

**1. राज्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य** (Rights and Duties of States)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत जो अधिकार दिए जाते हैं। तथा कर्त्तव्य निर्धारित किए जाते हैं वे नागरिकों को नहीं वरन् राज्यों को प्रदान किए जाते हैं। उदाहरण के लिए समानता, स्वतन्त्रता, आर्थिक अधिकार, अस्तित्व का अधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में शामिल होने, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता प्राप्त करना आदि सभी राज्यों के अधिकार हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत राज्यों के अधिकारों को ही व्यवस्था नहीं है वरन् उनके कर्तव्यों की बात कही गई है। कर्त्तव्यों के अन्तर्गत दूसरे राज्य के क्षेत्र पर प्रभुसत्ता का कार्य न करना, दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता को बनाये रखना, दूसरे राज्यों के आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप न करना आदि।

**2. केवल राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना** (The Establishment of International Organisations only by States)—आर्थिक, सामाजिक, कूटनीतिक, व्यापारिक आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का गठन किया जाता है। बहुत से समझौते तथा सन्धियां की जाती हैं, परन्तु ये सभी कार्य नागरिकों द्वारा नहीं वरन् राज्यों द्वारा किए जाते हैं।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को प्राप्त करना तथा खोना** (Acquisition and loss of International Personality) — अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर व्यक्तित्व प्राप्त होता है तो वह भी राज्य का तथा जो लुप्त होता है वह भी राज्य का। एक नागरिक के व्यक्तित्व का प्राप्त होना अथवा खोना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई महत्त्व नहीं रखता। ऐसा केवल राज्य में होता है। द्वितीय युद्ध के पश्चात् अमेरिका तथा सोवियत संघ ने जर्मन को बांट कर पूर्वी जर्मन तथा पश्चिमी जर्मन बना दिया। परन्तु जैसे ही उन्होंने शक्ति अर्जित की। बर्लिन की दीवार तोड़कर विलयकरण हुआ और पूर्व तथा पश्चिम जर्मन का अलग—अलग अस्तित्व समाप्त हो गया। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् सोवियत संघ ने अपना व्यक्तित्व खो दिया। द्वितीय विश्व के पश्चात् बहुत से देश स्वतन्त्र हुए तथा उन्होंने स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त किया।

**4. राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा** (Protection of National Interests)—प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों को ध्यान में रखकर पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है। राष्ट्रीय अखण्डता, स्वाधीनता, प्रतिष्ठा, जनता का भौतिक कल्याण, व्यापार तथा संस्कृति की वृद्धि आदि ऐसे आधार हैं जिनको ध्यान में रखकर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता देता है। स्टार्क के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून मूल रूप से राज्यों के अधिकारों, कर्तव्यों तथा हितों से सम्बन्धित है ।"

**5. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सहभागिता (Participation in the International Conferences)** — समय-समय पर अन्तरर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहते हैं। इन सम्मेलनों में नागरिक नहीं वरन् राज्य भाग लेते हैं। इन सम्मेलनों में जो निर्णय होते हैं वे भी राज्यों पर लागू होते हैं। जिन देशों के बीच अच्छे सम्बन्ध होते हैं वे अपने राजदूत, वाणिज्य दूत तथा विशेष प्रतिनिधियों को भेजते हैं तथा अन्य देशों के राजदूतों को स्वीकार करते हैं। ये सभी कार्य राज्य स्तर पर किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलनों में भी राष्ट्राध्यक्ष तथा शासनाध्यक्ष अपने—अपने राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य हैं, व्यक्ति नहीं।

(iii) समान प्रभुसत्ता का सिद्धान्त (Principle of Sovereign Equality)—संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अध्याय—1 के अनुसार, "यह संघ सभी सदस्यों की समान प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे महाशक्ति राज्य तथा विश्व के अत्यधिक शक्तिहीन राज्य, जैसे—पलाऊ, होंगम, किरिबाती, तुवाले, सान—मारिनो, लैती

इत्यादि एक समान हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि (Status of International Court of Justice) – अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 34 के अनुसार, "न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मामलों में केवल राज्य ही पक्ष होते हैं।"

**2. अतिवादी दृष्टिकोण (Extremist View)**—इस मत के अनुसार व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। इस मत के समर्थकों में स्टोवैल, हैफ्टर, ब्राउन और हैंस कैल्सन आदि का नाम लिया जा सकता है। इनका कहना है कि राज्य एक कल्पनात्मक वस्तु है और व्यक्तियों से अलग इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वेस्टलेक (Westlake) ने यह मत प्रकट किया था, "राष्ट्रों के कर्त्तव्य एवं अधिकार उन मनुष्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य हैं जिनसे मिलकर उसका निर्माण हुआ।"

केल्सन का कहना है कि एक तकनीकी विधि की धारणा है तथा उसमें एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों पर लागू होने वाली विधि का समिश्रण है। इनका विचार है कि राज्य के अधिकार तथा कर्तव्य वास्तव में नागरिकों के अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही व्यक्तियों पर लागू होते हैं केवल अन्तर इतना है कि राष्ट्रीय कानून सीधे नागरिकों पर लागू होते हैं, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के माध्यम से व्यक्तियों पर लागू होते हैं। राज्य का आचरण व्यक्तियों का आचरण होता है, राज्य के निर्माण में जनसंख्या सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व माना जाता है। प्रो. लाटरपैक्ट के कथनानुसार, "केवल राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय विषय मानना उस समय सही या जब व्यक्ति के हितों की वास्तविकता तथा निर्भरता राष्ट्रीय सीमाओं तक सीमित थी। आज व्यक्ति के अधिकारों का दायरा बहुत बढ़ गया है, इसलिए वह राज्य की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा है।" इससे स्पष्ट होता है कि राज्य नहीं वरन् व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। कुछ विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य के माध्यम से ही व्यक्तियों पर लागू होते हैं परन्तु ऐसा विचार उचित नहीं है। बहुत सी ऐसी व्यवस्थाएं हैं जो सीधी व्यक्ति से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए 'मानव अधिकारों के हनन' पर संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राष्ट्रों के व्यक्ति मानव अधिकार कमीशन के पास सीधे अपनी शिकायत अथवा याचिका भेज सकता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि राज्य प्रमुख रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है तथा व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं—स्टोवैल, हैफटर, वाऊन, लाटरपैक्ट, तथा कैल्सन आदि।

**3. सन्तुलित विचार**—राज्य तथा व्यक्ति के अतिरिक्त गैर राजनीति इकाइयां (Balanced view) In addition to state and Individual other Non Political Units)—तीसरी विचारधारा बड़ी सन्तुलित है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विषय हैं, परन्तु वर्तमान समय में व्यक्ति, गैर—राजनीतिक इकाईयां तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। न्यूरेम्बर्ग तथा टोकियो के न्यायालयों ने भी यह नियम प्रतिपादित किया था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्तियों का प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायित्व हो सकता है।

प्रो. फेनविक के मतानुसार "यद्यपि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य नहीं होते किन्तु उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय कहा जाता है।" यह सत्य है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय है परन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति, गैर—राजनीतिक इकाईयां तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनेक ऐसी संस्थाएं हैं जो सीधी व्यक्ति से सम्बन्धित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उल्लंघन पर सीधे व्यक्तियों को भी उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। कानून के

अन्तर्राष्ट्रीय पंच न्यायाधिकरणों में कई दफा व्यक्ति भी वादी तथा प्रतिवादी के रूप में उपस्थित हो सकते हैं। आधुनिक राज्य लोक कल्याणकारी राज्य है जिसके कारण व्यक्ति के कल्याण को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है।

लाटर पैक्ट का यह कथन बिल्कुल उचित है कि "समष्टि का कल्याण व्यष्टि के कल्याण में निहित है। केवल राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं माना जा सकता, व्यक्ति भी इसके विषय हैं।"

श्वारजन बर्गर का कहना है कि "यह बात भ्रम पैदा करने वाली प्रतीत होती है कि व्यक्ति जो राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज के आधार हैं, का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से केवल एक वस्तु के रूप में माना जाए।" वीनेन टीमस का मत है कि "ज्यों—ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय समाज की उन्नति होगी, त्यों—त्यों व्यक्तिगत हितों की उन्नति होगी।" जिसे पहले राज्य की उन्नति समझा जाता था अब उसे

राज्य के लोगों की उन्नति माना जाता है। अन्त में यह कहना उचित है कि राज्य, व्यक्ति तथा गैर—राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मानी जाने लगी हैं। इसमें कोई विवाद नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राथमिक रूप से राज्यों के सम्बन्धों को नियमित करता है तथा ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्राथमिक विषय हैं, परन्तु ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अकेले विषय नहीं हैं।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (पात्र) के सम्बन्ध में तीनों विचारधाराओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल न राज्य, न व्यक्ति बल्कि राज्य तथा व्यक्ति के साथ—साथ बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय गैर—राजनीतिक संस्थाएं भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। ओपनहीम का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून अब ऐसा कानून नहीं रह गया है जो वह एकमात्र राज्यों से सम्बन्धित है, जैसा कि वह पहले था। इसके कई नियम प्रत्यक्षतः व्यक्तियों की स्थिति तथा कार्यों को विनियमित करने से सम्बन्धित हैं तथा कई नियम अप्रत्यक्षतः उन्हें प्रभावित करते हैं।"

अन्त में यह स्पष्ट है कि वर्तमान समय में राज्यों के अतिरिक्त व्यक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं तथा कुठ गैर—राजनैतिक इकाइयां भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हो सकते हैं तथा हैं।

"समस्त कानूनों के समान अन्तररर्राष्ट्रीय कानून भी मानव व्यवहारों का नियमन करते हैं।"

### प्रश्न 2. व्यक्तियों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून में स्थान का वर्णन करें। (Describe the place of Individuals in International Law.)

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के लिए ही नहीं है, वरन व्यक्तियों के लिए भी अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित करता है तथा इस सीमा तक व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जा सकता है। अनेक राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का भाग माना जाता है तथा यह इस बात का प्रमाण है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों पर लागू हो सकता है।

वान वीनेन टीमस का मत है कि "एक बड़ी भारी बात यह है कि ज्यों—ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय समाज की उन्नति होगी, त्यों—त्यों व्यक्तिगत हितों की उन्नति होगी। पहले इस बात को राज्य की उन्नति समझा जाता था परन्तु अब इसे राज्य के लागों की उन्नति समझा जाता है।"

**1. सन्धियां (Treaties)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में सन्धियों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सन्धियों के द्वारा व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा का प्रयास किया जाता है। साधरणतथा यह देखा गया है कि राष्ट्रों के बीच व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए सन्धियां हुई हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की महत्त्वपूर्ण संधियाँ इस प्रकार हैं—

(i) सन् 1978 की बर्लिन संधि जिसके द्वारा रूमानिया, बुल्गारिया, सर्बिया तथा टर्की के निवासियों को धार्मिक स्वाधीनता देने का प्रयत्न किया गया था।

(ii) सन् 1919 में प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर चैकोस्लोवाकिया, ग्रीक, बुल्गारिया, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, टर्की और रूमानिया के मध्य एक संधि की गयी थी। इस संधि में य निर्धारित किया गया था कि रूसी राष्ट्र अल्पसंख्यकों के साथ सद्भावनापूर्ण व्यवहार करेंगे।

(iii) उपरोक्त संधियों के अतिरिक्त पेरिस संधि, 1928 में स्थायी न्यायालय द्वारा की गई घोषणा, 10 दिसम्बर, 1948 को की गई मानव अधिकारों की घोषणा द्वारा भी मानवीय अधिकारों के संरक्षण हेतु प्रयास किए गए थे।

**2. मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा** (Universal Declaration of Human Rights)—संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह भी है कि सभी व्यक्तियों के मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं में अभिवृद्धि तथा प्रोत्साहित करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में मानव अधिकारों की

सार्वभौम (Universal Declaration of Human Rights, Dec. 1948) घोषणा की।

इसकी 30 धाराओं में स्पष्ट तथा संक्षिप्त भाषा में व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अधिकारों को स्वीकार किया गया। घोषणा की प्रस्तावना "मानवीय व्यक्ति के गौरव तथा महत्त्व" पर विशेष बल देती है। बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारों का उपभोग कर सकता है। इस घोषणा से दास्ता, यातना तथा अमानुषिक दण्ड, गृह, कुटुम्ब तथा पत्र व्यवहार में अवैधानिक हस्तक्षेप को विद्रोहात्मक बताया है।

मानव अधिकारों सम्बन्धी सार्वभौमिक घोषणा के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र ने अब तक 21 दस्तावेजों को तैयार किया है। इनमें 15 समझौते (Conventions) हैं, दो प्रसंविदा (Covenants) हैं, दो विज्ञप्तियां (Protocol) तथा एक घोषणा (Declaration) है। प्रमुख समझौतों के उदाहरण हैं—

1948 का जातिनाश (Genocide), 1952 का स्त्रियों के राजनीतिक अधिकारों सम्बन्धी समझौता, 1953 का दासता सम्बन्धी समझौता, 1959 का बच्चों के अधिकार सम्बन्धी घोषणा, 1960 की उपनिवेश देशों में लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करने सम्बन्धी घोषणा।

**दो प्रसंविदा हैं**—

(1) आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा।

(2) नागरिक तथा राजनतिक अधिकारों सम्बन्धी प्रसंविदा ।

9 दिसम्बर, 1975 को महासभा ने एक घोषणा को स्वीकार करके सभी व्यक्तियों को यातना तथा अन्य प्रकार के क्रूर, अमानुषिक, अपमानजनक बर्ताव अथवा दण्ड से सुरक्षा प्रदान की। यह मानव प्रतिष्ठा के प्रति अपराध है। (An offence to human dignity).

**3. याचिका दाखिल करने का अधिकार (Right to make Petitions)**—मानवीय अधिकारों के क्षेत्र में व्यक्तियों को केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय ही नहीं माना जाता, वरन् उन्हें अपने राज्य के विरुद्ध भी कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि राज्य व्यक्ति के अधिकारों का हनन करता तो उसके विरुद्ध भी मुकदमा चलाया जा सकता है। उदाहरण के लिए नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा का ऐच्छिक न्याचार 1966 (Optional protocol to the covenent on Civil and Poltical Rights 1966) व्यक्तियों द्वारा अपने राज्य के विरुद्ध मानव अधिकार समिति (Human Rights Committee) के समक्ष याचिका दे सकता है। इसी तरह जातीय विभेद के सभी रूपों का अनुमूलन अभिसमय भी ऐसी ही व्यवस्था करता है। समिति द्वारा याचिका मिलने पर समिति सम्बन्धित राज्य के पास स्पष्टीकरण के लिए भेजता है। यदि राज्य का उत्तर सन्तोषजनक नहीं होता तो समिति अपनी संस्तुति दे सकता है। 4. मानव अधिकारों की रक्षा के लिए यूरोपीय अभिसमय (The European Convention on Human Rights) — मानव अधिकारों को विश्वव्यापी वैधानिकता का स्तर देने के लिए 4 नवम्बर, 1950 को रोम में मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए रोम में यूरोपीय सम्मेलन हुआ था। उसमें यूरोप की परिषद् के सदस्य राज्यों ने क्षेत्रीय आधार पर हस्ताक्षर किए थे। इस सम्मेलन में दो ऐच्छिक उपबन्ध और बढ़ाए गए थे—

1. प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में पहुंचने का अधिकार है।

2. एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय न्याय व्यवस्था स्थापित की जाए जो राष्ट्रीय सरकारों के निर्णयों से ऊपर हो तथा व्यक्तिगत अधिकारों का ठीक प्रकार से निर्णय करे। यद्यपि ये उपबन्ध ऐच्छिक हैं परन्तु व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए यह एक नवीन व्यवस्था है।

युद्ध पीड़ितों के संरक्षण से सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन सितम्बर, 1993 में जेनेवा में हुआ। इस सम्मेलन को स्विट्ज़रलैंड सरकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास सोसायटी ने संयुक्त रूप से प्रायोजित किया। सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि में

विश्वास की पुनः पुष्टि की गई।

**5. समझौता तथा मध्यस्वता कार्यवाही का अधिकार** (Right to Conciliation and Arbitration Proceeding)—18 मार्च, 1965 को राज्यों तथा अन्य नागरिकों के मध्य निवेश विवाद निपटाने के लिए व्यवस्था की गई। इस अभिसमय के अनुसार सहमति के आधार पर समझौता तथा मध्यस्थता की प्रक्रिया के लिए प्रावधान किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि ऐसे विदेशियों को जिन्होंने दूसरे देश में निवेश किया है, उनकी सम्पत्ति जान—माल की सुरक्षा अपने देश के नागरिकों की सुरक्षा के समान करेंगे।

**6. अटलांटिक चार्टर** (Atlantic Charter)—1939 में दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध की समाप्ति से पूर्व 1941 में ही अटलांटिक चार्टर में चार मानवीय स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया गया था, व्यथा(पीडा) से स्वतन्त्रता, आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता, भाषण की स्वतन्त्रता तथा पूजा की स्वतन्त्रता। इन स्वतन्त्रताओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वे पुरानी मान्यताएं नष्ट हो गई जिनके अनुसार केवल प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हो सकते हैं। अब व्यक्ति को भी इसका विषय समझा जाने लगा है।

**7. महिलाओं के अधिकार** (Rights of Women) संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार पत्र में कहा गया कि लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। संघ की सामाजिक तथा आर्थिक परिषद् ने महिलाओं के स्तर पर एक आयोग गठित किया था। इस आयोग को महिलाओं के राजनीतिक अधिकार, विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता, महिलाओं का कानूनी स्तर, शिक्षा के अवसर, समान वेतन आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करने का कार्यभार सौंपा गया। 1952 में महासभा ने महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों पर एक अभिसमय स्वीकार किया।

**8. संयुक्त राष्ट्र का चार्टर (Charter of United Nations)**— संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में संयुक्त राष्ट्र की जनता को युद्ध की विभीषिका से बचाने का आश्वासन दिया गया है। इसके द्वारा मूलभूत मानवीय अधिकारों में मानवीय व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्त्व में विश्वास प्रकट किया गया। संयुक्त राष्ट्र की अनेक उपसमितियां मानव कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

## व्यक्तियों का निजी अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व (Personal International Duties of Individuals)—

सामान्य रूप से व्यक्ति परोक्ष रूप से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून की इकाई बनता है, परन्तु कुछ स्थितियां ऐसी हैं जिनमें उसका अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत 'जस कूजन्स' (Jus—Cogens) के सिद्धान्त को अब मान्यता मिल गई है। इसका आधार सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। प्रथागत कानून के अनुसार डकैती को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना गया है, इसलिए अपराधी को कोई भी राज्य दण्ड दे सकता है जिसके हाथ वह डकैत आ जाए। अतः व्यक्ति के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना अनिवार्य है तथा विधि के सामान्य नियमों के विरुद्ध कार्य करने पर दण्डित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानू व्यक्तियों पर निम्नलिखित कर्तव्य अधिरोपित करता है—

**1. समुद्री डकैती (Piracy)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समुद्री डकैती को कानून द्वारा निषेध किया गया है। यदि कोई व्यक्ति समुद्री डकैती का कार्य करता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी माना जायेगा तथा उसका स्वयं का राज्य भी उसे कोई संरक्षण प्रदान नहीं करेगा। जो भी राज्य गिरफ्तार करता है वही उसे दण्ड दे सकता है।

**2. बिना अनुमति के ध्वज का प्रयोग** (Use of Flag without Permission)—जहाज द्वारा बिना अनुमति के किसी राज्य के ध्वज (झंडे) का प्रयोग करना भी अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है। झण्डे का दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति सीधे उत्तरदायी हैं। इस कार्य के लिए उनके राज्य को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता ।

**3. जासूसी (Espionage)**—जासूसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत एक अपराध है। अतः गुप्तचरों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार दण्ड दिया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जासूस की नियुक्ति करने वाला देश उसके पकड़े जाने की स्थिति में उसे कोई संरक्षण प्रदान नहीं करता। जासूस शत्रु के प्रदेश में जाकर गैरकानूनी विधियों से शत्रु को हानि पहुंचाने का प्रयास करता है। ऐसा कार्य करने वाले व्यक्ति यद्यपि सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं परन्तु पकड़े जाने की स्थिति में व्यक्तिगत रूप से ही कानून के समक्ष आते हैं। जासूसी करने वाले व्यक्तियों को युद्ध अपराधी माना जाता है तथा उसी के अनुसार उसे दण्डित किया जा सकता है। जासूसी के अपराध का सामान्य दण्ड फाँसी देना अथवा गोली से मारना है।

**4. नरसंहार का अपराध (Crime of Genocide)**— नरसंहार को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध माना जाता है। अपराधी को दण्ड देते समय यह नहीं देखा जाता कि वह राजनेता है, लोक अधिकारी है अथवा व्यक्ति है। जाति वध का अभिसमय 9 दिसम्बर, 1948 को महासभा द्वारा स्वीकार किया गया। इससे व्यक्तियों पर सीधा उत्तरदायित्व आ जाता है क्योंकि इसमें उन व्यक्तियों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई है जो नरसंहार के अपराधी ठहराये जाएंगे। अभिसमय में यह व्यवस्था की गई कि नरसंहार के कार्यों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों में दण्डित किया जा सकता है। ऐसे अपराधों के लिए व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी ठहराया जायेगा।

**5. युद्ध अपराधी (War Criminals)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत युद्ध अपराधियों को भी दण्ड दिया जा सकता है। युद्ध सम्बन्धी नियम राष्ट्र के लिए ही नहीं वरन् उसके नागरिकों तथा व्यक्तियों पर भी बाध्यकारी होंगे। 12 नवम्बर, 1945 से 30 सितम्बर, 1946 तक न्यूरेम्बर्ग में अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायालय में उन युद्ध अपराधियों के विरुद्ध मुकदमे चलाए गए, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानवता के विरुद्ध तथा युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विरुद्ध गम्भीर अपराध किए थे। इनमें घुरी राष्ट्रों के प्रमुख नाजी नेता, सेनापति तथा उच्च अधिकारी शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इन्हें अपराध के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराया था तथा उसी के अनुसार सजा दी थी।

सन् 1942 में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश स्टेन ने यह मत व्यक्त किया था कि व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून भंग करने पर दण्ड दिया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध अपराध अमूर्त सत्ताओं द्वारा नहीं किए जा सकते वरन् व्यक्तियों द्वारा ही किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उपबन्धों को तभी लागू किया जा सकता है यदि व्यक्तियों को दण्ड दिया जाए। राज्य की तरह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी व्यक्तियों के कुछ कर्तव्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों का महत्त्व राष्ट्रीय कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक है।

4 जून, 1946 से 19 नवम्बर, 1948 तक टोकियो में जापानी युद्ध के अपराधियों पर अभियोग चलाए गए। इसके लिए विशेष रूप से न्यायालय की रचना की गई। न्यायालय ने युद्ध के नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों एवं सन्धियों को उल्लंघन करने के अपराध में 28 व्यक्तियों को दण्ड दिया।

**6. वायुयान अपहरण (Aircraft Hijacking)**— अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अन्तर्गत वायुयान अपहरण के लिए भी व्यक्ति को दण्डित किया जा सकता है। नागरिक विमान की सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करने के लिए दण्ड दिया जा सकता है।

**7. मानवता विरोधी अपराध** (Crime against Humanity) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानवता विरोधी अपराधों पर रोक लगाता है, उनके सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था करता है। किसी भी व्यक्ति के जीवन तथा स्वतन्त्रता के विरुद्ध यदि कोई राज्य प्रतिबन्ध लगाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसकी रक्षा करता है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा व्यक्ति के सम्बन्धों के उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान में राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के लिए ही नहीं वरन् व्यक्तियों के लिए भी अधिकार तथा कर्त्तव्य निर्धारित करता है। अब व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन करने पर उसे भी दण्डित किया जा सकता है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों के सम्मुख अपने अधिकारों की छूट मिल गई है। वह मानव अधिकारों के यूरोपियन न्यायालय (Europeon Court of Human Rights) के सम्मुख अपनी बात कह सकता है। अन्ततः राज्य के साथ—साथ व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय है।

## अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण (Codification of International Law)

**प्रश्न 1. संहिताकरण से आपका क्या आशय है? अन्तर्राष्ट्रीय संहिताकरण के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए। (What do you mean by the term codification? State Briefly the arguments for and against codification.)**

**अथवा**

**संहिताकरण को परिभाषित कीजिए। संहिताकरण के गुण एवं दोष क्या हैं? (Define codification. What are its merits and demerits?)**

**अथवा**

**संहिताकरण का अर्थ बताओ। संहिताकरण की कठिनाइयों का भी वर्णन कीजिए। (Write the meaning of codification. Discuss the difficulties of codification)**

**उत्तर - संहिताकरण की आवश्यकता (**The Need for Codification)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि अस्पष्ट और अनिश्चित है। इसमें सुधार हेतु नवीन विधि के निर्माण की अपेक्षा असंख्य प्रचलित विधियों का सावधानीपूर्वक प्रारूप तैयार करना अति अनिवार्य है। संहिताकरण के द्वारा इन विधियों को स्पष्ट एवं निश्चित किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा—पत्र (Charter of the United Nations) के अनुच्छेद 13(a) के अनुसार महासभा 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्रमिक विकास और इसके संहिताकरण' ('Progressive Development of International Law and its Codification' — Article 13(a)/ को प्रोत्साहन देने हेतु अध्ययन की व्यवस्था करेगी तथा सिफारिश करेगी। इससे स्पष्ट होता है कि संयुक्त राष्ट्र घोषणा—पत्र के निर्माताओं की भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के संबंध विशेष रुचि थी। यही कारण है कि महासभा ने संहिताकरण का कार्य करने हेतु सन् 1947 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) की स्थापना की। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण की आवश्यकता के निम्नलिखित कारण (Reasons for the Need of Codification) — 1. संहिताकरण के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित एवं लिपिबद्ध हो जाएगी।

2. संहिताकरण अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अस्पष्टता को दूर करके स्पष्टीकरण करेगी तथा इसके प्रयोग में कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होंगी। अन्य शब्दों में इसके प्रयोग में सरलता आएगी।

3. संहिताकरण होने से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध में सदेहों का समाधान हो जाएगा।

4. संहिताकरण के द्वारा ऐसे विषयों पर नियमों का भी निर्माण किया जाएगा जिनके संबंध में अभी तक कोई नियम नहीं है।

5. संहिताकरण के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास की गति बढ़ेगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि परिवर्तनशील परिस्थितिओं के अनुकूल बन जाएगी।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों की अस्पष्टता, अनिश्चितता, अव्यवस्था तथा अक्रमबद्धता और धीमी गति से विकास के कारण संहिताकरण की आवश्यकता हुई है।

संहिताकरण का अर्थ तथा परिभाषाएँ (The Meaning and Definitions of Codification)— संहिताकरण के अर्थ के संबंध में विद्वानों एवं विधिवेत्ताओं के विचारों में एकरूपता का अभाव है क्योंकि संहिताकरण का अर्थ विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। साधारण शब्दों में, संहिताकरण का अर्थ 'विधि का एक संकलित रूप' है। ("Codification is a consolidation of the Statute law.") इसका यह तात्पर्य है कि संहिताकरण प्रचलित विधि के नियमों को क्रमबद्ध, व्यवस्थित एवं लिपिबद्ध करना है। संहिताकरण का यह अर्थ संकीर्ण एवं संकुचित है। व्यापक अर्थों में संहिताकरण केवल प्रचलित विधियों के नियमों को व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं लिपिबद्ध करना ही नहीं है अपितु समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल विवादास्पट विषयों पर युक्तिसंगत नियमों का निर्माण करना है ताकि विधि का क्रमिक विकास हो

सके।

**फेनविक** के अनुसार संहिताकरण के तीन अर्थ हैं—

1. राज्यों के बीच प्रचलित वास्तविक नियमों का क्रमबद्ध प्रतिपालन ।

2. व्यवहार में लाये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को परिस्थितियों के अनुकूल बनाना।

3. राज्यों के आचरण एवं आवश्यकताओं के अनुसार सम्पूर्ण कानून व्यवस्था का पुनर्निमाण।

**ब्रियली** के अनुसार, "संहिताकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का विषयानुसार क्रमबद्ध प्रतिपादन होगा, इसकी व्यवस्थाएँ अधिक स्पष्ट तथा सरलता से निश्चित हो सकेंगी। सन्देहों का निराकरण होगा तथा नये नियमों का निर्माण होगा।

**संहिताकरण की उपयोगिता या लाभ (Advantages of Codification)**

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण कितना उपयोगी है, वह इस बात से समझा जा सकता है कि वेस्ट फालिया सन्धियों (1648) के बाद से ही इसी दिशा में प्रयत्नों की शुरुआत हो गई थी। संहिताकरण की निम्नलिखित उपयोगिता है—

**1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सुनिश्चितता (Certainity in International Law)**—संहिताकरण से अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्पष्ट, सरल तथा सुनिश्चित बन जायेगा। उसके विभिन्न सन्देहों को दूर किया जा सकेगा। जब सम्बन्धित परिस्थिति के लिए स्पष्ट कानून मिल जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के न्यायाधीशों का कार्य सुगम बन जाता है।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून में एकरूपता** (Uniformity in International Law)—संहिताकरण द्वारा कानूनों में पाए जाने वाले विरोधों को दूर करके उनके बीच एकरूपता स्थापित की जा सकती है। विभिन्न राज्यों में अनेक प्रकार के नियमों के क्रियान्वित होने के कारण उनके बीच असंगति एवं विरोध उत्पन्न होने का भय रहता है। इन कानूनों को संहिताबद्ध कर देने पर यह अनेक रूपता तथा विरोध समाप्त हो जायेगा।

**3. वैज्ञानिक रूप विकसित होना** (Development of Scientific Nature)—विज्ञान किसी विषय का क्रमबद्ध अध्ययन होता है। सामान्यतथा विज्ञान के तीन गुण माने जाते हैं—एकरूपता (Uniformity), निश्चितता (Exactness) तथा स्पष्टता (Clarity)। यदि सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लिख दिया जाए तो ये समस्त गुण इसमें भी आ जाएंगे तथा इतकी गणना विज्ञानों में हो जायेगी।

**4. न्यायाधीशों के कार्यों में सुगमता (**Easiness in the work of Judges)— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा अन्य न्यायाधिकरणों के न्यायाधीशों को निर्णय करने में सहायता प्राप्त होगी। संहिताकरण के फलस्वरूप सम्बन्धित परिस्थिति के लिए स्पष्ट कानून उपलब्ध हो जायेगा।

**5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की लोकप्रियता में वृद्धि** (Increase in the popularity of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध बनाने से निश्चय ही उसकी लोकप्रियता बढ़ जायेगी। स्पष्टता तथा सुनिश्चितता के कारण इसका पालन अधिक से अधिक देश करने लगेंगे। अस्पष्टता के कारण अभी अधिकांश देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना उपयुक्त नहीं समझते। निःसन्देह संहिताकरण से इसकी शक्ति में अभिवृद्धि होगी।

**6. कमियों को दूर करने में सहायक** (Helpful in Removing the Draw Backs)—संहिताकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र में अनेक विषयों में अभावों को दूर किया जा सकता है। वर्तमान प्रचलित नियमों में अनेक त्रुटियाँ हैं। संहिताकरण की प्रक्रिया द्वारा इन कमियों को दूर किया जा सकता है।

**7. बन्धनकारी शक्ति में वृद्धि** (Enhancement in the Binding Force)—संहिताकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून

सुनिश्चित, स्पष्ट तथा सरल हो जाएंगे। परिणामस्वरूप इसकी क्षमता तथा वन्धनकारी शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो जायेगी।

**8. समयानुसार परिवर्तन सम्भव** (Time Changes Possible)—संहिताकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कालातीत, अन्यायपूर्ण, असमयिक, जतर्कसंगत तथा अस्पष्ट नियमों को समाप्त कर दिया जायेगा अथवा उसमें समयानुसार परिवर्तन कर दिया जायेगा। समयानुसार परिवर्तन के कारण इसका पालन अधिक होगा।

**संहिताकरण के दोष** (Disadvantages of Codification)

संहिताकरण की प्रक्रिया के साथ अनेक खतरे भी जुड़े हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के निम्नलिखित दोष है—

**1. विकासवादी सिद्धान्त के प्रतिकूल** (Opposed to Evolutionary Theory)—विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार कानून एक जीवित व्यक्ति के समान है। लिखित संहिता 'द्वारा विकास रुक जाता है तथा यह स्थिर हो जायेगा। काडौंजी के मतानुसार, "रात—भर के लिए यात्री को शरण देने वाली सराय उसकी यात्रा का अन्तिम तक्ष्य नहीं होती। यात्री की भान्ति कानून को भी कल की यात्रा के लिए तैयार रहना चाहिए। इसमें विकास का सिद्धान्त बना रहना चाहिए।" संहिताकरण इस विकास पर कुठाराघात करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सुनिश्चित नियमों का रूप प्रदान करके इसको समयानुसार बदलने का मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

**2. प्राकृतिक तथा भावी विकास के लिए घातक** (Detrimental for Natural and Future Growth)—संहिताकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया में चाधा उत्पन्न होगी। समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव नहीं होगा। इससे जड़ता उत्पन्न होगी, जो इसके प्राकृतिक तथा भावी विकासत हेतु घातक सिद्ध होगी।

**3. मौलिकता का अन्त** (End of Originality)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण करते समय कानून निर्माता नियमों की बाल की खाल निकालते हैं। कानूनी रूप से उनको परिभाषित करने की प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वाभाविक रूप को समाप्त कर देती है।

**4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का शैशव काल (**Infancy of International Law) — अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी राष्ट्रीय कानून की तरह पूर्ण विकास नहीं हुआ है। यह अभी अपनी शैशवावस्था में है। परिणामस्वरूप इसका पूर्ण संहिताकरण सम्भव नहीं है। केवल आशिक संहिताकरण ही सम्भव है। आंशिक संहिताकरण के लाभ की अपेक्षा हानियाँ अधिक हैं।

**5. राज्यों के द्वारा विरोध** (Opposition by the States)—कानूनों को संहिताबद्ध करना विभिन्न राज्यों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। वे यद्यपि संधियों में विश्वास करते हैं किन्तु उनको संहिताबद्ध करना नहीं चाहते। सम्भवतः इसका कारण यह है कि वे नई परिस्थितियों उत्पन्न होने पर व्यवहार की स्वतन्त्रता चाहते हैं तथा संहिता के नियमों को स्वीकार करके अपने हाथों को बांधना नहीं चाहते। यह स्थिति कानून के मूल उद्देश्य को ही समाप्त कर देती है।

**6. कानूनी विवादों में अनावश्यक वृद्धि** (Increase in the Legal Controversies)—जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध किया जाता है तो अनेक कानूनी विवाद उत्पन्न हो जाते हैं जिनके बीच समझौता नहीं हो पाता। 1930 में राष्ट्र संघ ने यह प्रयास किया था कि कुछ प्रचलित कानूनों को सहिताबद्ध कर ले, किन्तु वह सफल नहीं हो सका। मार्च, 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में प्रादेशिक समुद्रों की सीमा निर्धारित करने के विषय में नियम बनाने वाला सम्मेलन सर्व—सम्मति से किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका। अतः संहिताकरण सम्भव नहीं है।

**7. संहिताकरण एक बन्धन के रूप में** (Binding Force)— विश्व के बहुत से राज्य केवल सन्धियों में ही विश्वास रखते हैं। वे संहिताकरण में विश्वास नहीं रखते। संहिताकरण करके वे अपने आप को बन्धन में नहीं डालना चाहते।

## संहिताकरण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय समाज में नवीन प्रवृत्तियों के अभ्युदय से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपयोगिता बढ़ी है तथा संस्थागत रूप से इसके विकास ने इसे वाध्यकारी स्वरूप प्रदान किया है। अतः यह आसानी से कहा जा सकता है कि संहिताकरण का भविष्य काफी

उज्ज्वल है। तथापि संहिताकरण के मार्ग में निम्नलिखित कठिनाइयों अवश्य हैं—

**1. समन्वय स्थापित करने में कठिनाई** (Difficulty in Co—ordination)—संहिताकरण के मार्ग में बड़ी कठिनाई है—विरोधी दृष्टिकोणों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। संहिताकरण के विभिन्न प्रयास इसी कारण सफल नहीं हो पाए। जब ये संहिताकर्ता विभिन्न राज्यों के होते हैं तो ये हितानुकूल दृष्टिकोण अपनाये जाने पर बल देते हैं। राजनीतिक स्वार्थों की भिन्नता तथा परस्पर विरोधी प्रकृति के कारण उनके बीच समझौता प्रायः नहीं हो पाता। यदि प्रतिनिधियों के स्थान पर योग्य विधिवेत्ताओं को बुलाया जाये तो उनके निर्णयों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना राज्यों की इच्छा पर निर्भर रहेगा तथा वे निश्चय ही अपने हितों के विरुद्ध उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय विवादास्पद** (Controversial Issues of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय पर्याप्त विवादास्पद होते हैं। उनके बीच समन्वय स्थापित करके किसी सर्वसम्मत व्यवस्था का नियम बनाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ये जिस स्थिति में उपलब्ध होते हैं उससे संहिताकरण की कठिनाइयों बढ़ जाती हैं।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रथाओं पर आधारित (**International Law is based on Customs)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक प्रथाओं तथा परम्पराओं पर आधारित है। अतः इसका स्वरूप बिखरा हुआ है। ऐसी स्थिति में इसका संहिताकरण करना अत्यन्त जटिल बन जाता है। इसके अनेक पहलुओं के बारे में विभिन्न राज्यों में मतैक्य नहीं पाया जाता। उनके बीच समन्वय स्थापित करके किसी सर्वसम्मत व्यवस्था का नियम बनाना बड़ा कठिन कार्य है।

**4. राज्यों की सहमति प्राप्त करना दुष्कर कार्य** (Diffcult Task to have the Consent of States)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने में विभिन्न राज्यों की सहमति प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है। 1923 में राष्ट्र संघ (League of Nations) के तत्त्वावधान में आयोजित सम्मेलन में राष्ट्रीयता के कानून, प्रादेशिक जल तथा एक राज्य की सीमा में विदेशियों के लिए की गई हानि का दायित्व सम्बन्धी कानूनों को संहिताबद्ध करते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— संहिताकरण की कठिनाइयों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि संहिताकरण का कार्य बड़ा दुष्कर कार्य है। विभिन्न स्रोतों में बिखरे हुए नियमों में एकरूपता लाना तथा विभिन्न राज्यों के दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करना तथा राज्यों की सहमति लेना इतना सरल नहीं है। यद्यपि संहिताकरण का कार्य दुष्कर अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं है। 20वीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की लोकप्रियता तथा विकास में बहुत वृद्धि हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक पुनर्निरीक्षण तथा संशोधन परिवर्तन तथा स्थायित्व में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जड़ता नहीं आयेगी तथा यह विकास की ओर अग्रसर होता रहेगा।

**2. संहिताकरण से आप क्या समझते हैं? इस दिशा में किए गये विभिन्न प्रयासों का वर्णन कीजिए।**

अथवा

संहिताकरण को परिभाषित कीजिए। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की इस क्षेत्र में कुछ उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण क्या है, व्याख्या करें। सन् 1945 के पश्चात् संहिताकरण के विकास की विवेचना करें।

अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र संघ के योगदान की व्याख्या करें।

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के विकास का वर्णन करें। (Trace the development of the codification of

International Law.)

अथवा

संहिताकरण का अर्थ बताओ। राष्ट्र संघ के तत्त्वाधान में संहिताकरण का वर्णन करें।

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने क्या भूमिका अदा की है?

**उत्तर—संहिताकरण का इतिहास (History of Codification)**— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना की अन्तर्राष्ट्रीय विधि का इतिहास है। प्राचीनकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में भारतीय, यूनानी, रोमन, यहूदी तथा मुस्लिम विद्वानों का योगदान रहा है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों—मनुस्मृति (Manusamiriti), रामायण (The Ramayana), महाभारत (The Mahabharata), अर्थशास्त्र (Arthashastra) इत्यादि में शान्तिकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विधि, युद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राजदूतों की उन्मुक्तिर्यो तथा सुविधाओं संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वर्णन मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण संबंधी प्रयासों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

**(A) विधिवेत्ताओं के द्वारा व्यक्तिगत रूप में किया गया अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण** (Codification of International Law done by the Individual Legal Experts)

**(B) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा किया गया अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण** (Codification of International Law done by International Conferences and International Organisations)

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

**(A) विधिवेत्ताओं के द्वारा व्यक्तिगत रूप में किया गया अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण** (Codification of International Law done by the Individual Legal Experts)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण में व्यक्तिगत रूप में असंख्य विद्वानों का योगदान है। इनमें से मुख्य विद्वानों के योगदान का वर्णन निम्नलिखित है—

**1. बैन्थम से पूर्व के विधिवेत्ताओं का योगदान (C**ontribution by the Legal Experts before Bentham)—15वीं, 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों में अनेक विद्वानों—फ्रांसिस्को विटोरिया, फ्रांसिस्को सुआरेज, पैरिनोवैली, जेन्टिलिस, अयाला इत्यादि ने विधियों के प्रतिपादन में क्रमबद्धता प्रदान की।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण में 17वीं शताब्दी के विधिवेत्ता ग्रोशियस (Grotius) तथा वातेत (Vattel) का योगदान अति महत्त्वपूर्ण है। ग्रोशियस (Grotius) की पुस्तक 'ऑन दि लॉ ऑफ बार एण्ड पीस' (On the Law of War and Peace) तथा वातेल (Vattel) की पुस्तक 'ले ड्राइट जेग जोस' में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध है। इन पुस्तकों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों, नियमों एवं प्रयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का क्रमबद्ध, व्यवस्थित एवं तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के **संहिताकरण को दो भागों में विभक्त किया जा** सकता है—

**1. व्यक्तिगत रूप से विधिवेत्ताओं द्वारा संहिताकरण (Codification done by Individual Legal Experts)**

**2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा संगठनों द्वारा संहिताकरण (Codification by International Conferences and Organisations)**

**1. विधिवेत्ताओं द्वारा संहिताकरण (Codification by Jurists)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण में जिन विद्वानों ने अपना योगदान दिया है, उनकी संख्या बहुत अधिक है। हम मुख्य विद्वानों के विचारों की संकलित करने का प्रयास करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का विचार 18वीं सदी के अन्त में सबसे पहले ब्रिटिश विधिशास्त्री बैन्यम के मन में आया। फ्रांसीसी क्रान्ति के उपरान्त 1792 के राष्ट्रीय सम्मेलन में राज्यों के अधिकारों का घोषणा पत्र बनाने का निर्णय लिया गया। इसका प्रारूप तैयार करने का कार्यभार मि. एब्बे ग्रेगायर को सौंपा गया। ग्रेगायर महोदय ने 21 अनुच्छेदों का प्रारूप तैयार किया, जिसे सम्मेलन ने स्वीकार नहीं किया। बैन्थम के अतिरिक्त कितने ही विधिवेत्ताजों ने अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का प्रयास किया। इन विद्वानों के योगदान का वर्णन निम्नलिखित है—

**1. बैन्थम** ने 1780 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा राष्ट्रों का कानून (International Law or Law of Nations) के शब्द को प्रयोग किया था। बैन्यम ने एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रस्तुत की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रों के मध्य शान्ति की स्थापना करना था।

**2. एब्वे ग्रेगोयर** को राष्ट्रीय सम्मेलन में राज्यों के अधिकारों का घोषणा पत्र का प्रारूप तैयार करने का कार्यभार सौंपा गया था। 1795 में 21 अनुच्छेदों वाला प्रारूप प्रस्तुत किया, परन्तु सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया।

**3. पेट्रोशेवेज** आस्ट्रिया का विधिशास्त्री था। उसने 1916 में अपने एक ग्रन्थ में सहिताकरण की सम्भावना पर अपने विचार अभिव्यक्त किए थे।

4. ट्रांसिस लीवर जो कोलम्बिया विश्वविद्यालय में कानून के प्रोफेसर थे, उन्होंने 1863 में 'युद्ध की "विधियों का संहिताकरण' किया।

5. स्विस विधिवेत्ता ब्लुशंली ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक प्रारूप संहिता (A Draft of International Law) 1868 में प्रकाशित की। इसमें 862 अनुच्छेद थे। इस ग्रन्थ में ब्लुंशली ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में तत्कालीन विश्व में प्रचलित विचारों तथा दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया था। डेविड डडले फील्ड की पुस्तक 'ड्राफ्ट आऊट लाइन्ज ऑफ इन्टरनेशनल कोड' (Draft Outlines of International Code) 1872 में प्रकाशित हुई। इस ग्रन्य में 1008 अनुच्छेद थे।

6. पेक्सवेली फियोरे इटली का विधिवेत्ता था। 1890 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की संहिता (Code of International Law) पर उसका ग्रन्य प्रकाशित हुआ।

8. ऐपटेशियो पेसेज ब्राजील के विधिवेत्ता थे। 1910 में उनका ग्रन्थ 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिता' (Code of International Law) प्रकाशित हुआ। इन मुख्य विद्वानों के अतिरिक्त अन्य विधिवेत्ताओं ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण में अपना योगदान दिया है।

लीओन लेवी ने 1887 में इन्टरनोसिया ने 1911 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिताओं को प्रकाशित किया। ओपेनहीम, हॉल, लारेंस, किलोमीर, हाइड, ब्रियर्ती, फेनविक आदि विद्वान हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा संहिताकरण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा किया गया संहिताकरण (Codification by International Organisations)**—19वीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के प्रयास किए गए। राष्ट्र संघ की स्थापना से पूर्व समय—समय पर बहुत से सम्मेलन आयोजित किये गए, जिनमें

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के के सम्बन्ध में सुझाव दिये गए।

A अन्तराष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के सम्बन्ध में सम्मेलनों का योगदान निम्नलिखित है—

**1— पेरिस घोषणा 1856** (Paris Declaration 1856) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के सम्बन्ध में 1856 में एक

सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन क्रीमिया युद्ध (Creamean War) के पश्चात् बुलाया गया था। इस सम्मेलन में जारी घोषणा को पेरिस घोषणा कहा जाता है। इस पर इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, टर्की, प्रशिया आदि देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए थे। इस सम्मेलन में घोषणा की गई—

1. युद्ध करने वाले राष्ट्रों द्वारा निजी स्वामित्व रखने वाले युद्धपोतों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा का अन्त कर दिया जाए।

2. तटस्थ देशों के जहाज शत्रु के लिए विनिषिद्ध (Contraband) रणसामग्री के अतिरिक्त अन्य पदायों का वहन कर सकते हैं।

3. शत्रु का ध्वज फहराने वाले जहाज पर लदे हुए तटस्थ देशों के माल में से केवल विनिषिद्ध सामग्री को ही जब्त किया जा सकता है।

4. परिवेष्टन (Blockade) के वास्तविक होने के लिए उसका प्रभावशाली होना आवश्यक है। सेंट पीटर्सबर्ग घोषणा 1868 (St. Petersburg Declaration 1868)—

सेंट पीटर्सबर्ग सम्मेलन में घोषणा की गई कि—

1. इस घोषणा में युद्धरत् शत्रु के सैनिक बलों को निःशक्त करने तथा मनुष्यों को सर्वाधिक संख्या में असमर्थ बनाने के अधिकार को स्वीकार किया गया।

2 जिन शस्त्रों से असमर्थ व्यक्तियों के कष्टों में और वृद्धि हो उनका प्रयोग न किया जाए।

3. 400 ग्राम से नीचे के भार के तोप के गोलों का प्रयोग निषिद्ध किया जाये जो धमाके के साथ फटने वाले हों अथवा जलने वाले पदार्थों से युक्त हों।

ब्रुसेल्स सम्मेलन घोषणा, 1874 (Brussels Declaration, 1874)—1874 में रूस में जार एलेंग्जेंडर द्वितीय की प्रेरणा से ब्रुसेल्स में एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिता तैयार की गई। इस संहिता में 60 अनुच्छेद थे। परन्तु इन अनुच्छेदों को राष्ट्रों ने सत्यांकित नहीं किया।

3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून संस्थान (Institute of International Law)—1880 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून संस्थान ने भूमि पर युद्ध के नियमों का संग्रह प्रस्तुत किया। प्रथम हेग शान्ति सम्मेलन 1899 (First Hague Peace Conference 1899)—1899 में प्रथम शान्ति सम्मेलन हेग में रूस के सम्राट निकोलस द्वितीय के व्यक्तिगत प्रयासों के आधार पर बुलाया गया। जिसमें यह विचार अभिव्यक्त किया गया कि राष्ट्रों के कानून को संहिताबद्ध किया जा सकता है। इस शान्ति सम्मेलन में 26 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जल युद्ध के सम्बन्ध में जेनेवा अभिसमय को स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण अभिसमय स्वीकार किये गए—

1. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्वक निपटारा करने का अभिसमय (Convention for the Paccific settlement of International Disputes)

2. स्थल युद्ध की विधियों तथा प्रथाओं सम्बन्धी अभिसमय (Convention Regarding the Laws Land) and Customs of War Colnence 1906)—1906 में जेनेवा सम्मेलन का आयोजन किया राताबीया, जिसमें स्थल युद्ध में घायल सैनिकों की चिकित्सा के समान सुविधाओं को जल युद्ध में घायल सैनिकों की चिकित्सा हेतु लागू करने का निर्णय किया गया।

२. द्वितीय हेग शान्ति सम्मेलन 1907 (Second Hague Peace Conference 1907)—1907 में द्वितीय हेग शान्ति सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 15 विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय

कानून के नियमों को लिपिबद्ध किया गया। ये विषय थे—

युद्ध छेड़ना, स्थलीय एवं समुद्री युद्ध, तटस्थता के नियम, नौ सेनाओं की गोलाबारी, युद्ध छिड़ने के समय शत्रु के व्यापारी जहाजों का दर्जा, तटस्थ राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के नियम बनाना, वम वर्षा—निषेध प्रतिज्ञा की स्वीकृति, युद्ध विराम सन्धि के ध्वज के सम्बन्ध में नियम का निर्माण करना, पंच निर्णय के स्थायी न्यायालय की स्थापना सम्बन्धी निर्णय, विषाक्त शस्त्रों, विस्फोटक गुब्बारों, बारूदी सुरंगों का विछाना, घायल शत्रु को मारने, ऐसे शत्रु को मारने अथवा घायल करने जिसने हथियार डाल दिये हों आदि को निषिद्ध किया गया।

3. लन्दन घोषणा 1909 (London Declaration 1909)—सन् 1909 में लन्दन में समुद्री युद्ध के सम्बन्ध में नियम बनाने के सम्बन्ध में महाशक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें विनिषिद्ध वस्तुओं (Contraband Commodities) की सूची तैयार करने का प्रयास किया गया, किन्तु विभिन्न विरोधी स्वार्थों के कारण कोई सामंजस्य नहीं हो सका। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के कारण यह घोषणा अर्थहीन हो गई।

4. प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् संहिताकरण (Codification after First World War)—1914 में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के परिणामस्वरूप पूर्व में की गई सभी घोषणाएं निरर्थक हो गई। युद्ध में संलग्न लगभग सभी राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मुक्त रूप से तोड़ा। युद्ध के कारण विनाश को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का प्रयास आरम्भ हुआ। युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों में युद्ध की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए विभिन्न प्रयास आरम्भ हो गए।

1919 में वर्साय की सन्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप 1920 में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण हुआ, जिसे राष्ट्र संघ (League of Nations) का नाम दिया गया।

**5. राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में संहिताकरण (Codification under the Auspices of the League of Nations)**

ओपेनहीम के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण में तीव्र रुचि दिखलाई गई। 24 सितम्बर, 1924 में राष्ट्र संघ की सभा (The League Assembly) के प्रस्ताव के अनुसार लीग परिषद् (The League Council) ने 1925 में 16 विशेषज्ञों की एक समिति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण पर प्रतिवेदन करने के लिए तथा संहिताकरण के लिए परिपक्व विषयों को छांटने के लिए नियुक्त की।

सन् 1927 में अपने प्रतिवेदन में समिति ने निम्नलिखित विषयों को संहिताकरण के योग्य मान कर प्रस्तुत किया—

1. राष्ट्रीयता (Nationality)

2. प्रादेशिक समुद्र (Territorial Waters)

3. किसी राष्ट्र की उसके प्रदेश में विदेशियों के शरीर तथा सम्पत्ति को पहुंचाई गई क्षति के लिए उत्तरदायित्व (State Responsibility for the damage done in their Territory to Persons or property of foreigners)

4. राजनयिक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ (Diplomats Previleges and Immunities)

5. अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के लिए प्रक्रिया तथा सन्धियों के प्रारूप के लिए प्रक्रिया (International Conferences and Procedure for the conclusion and Drafting of Treaties)

6. समुद्री डकैती (Piracy)

7. समुद्र में उत्पन्न पदार्थों का दोहन (Exploitation of Products of the Sea)

सितम्बर, 1927 में लीग सभा ने समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन को लीग परिषद् के सामने पेश किया।

लीग परिषद् ने निम्नलिखित तीन विषयों का संहिताकरण के लिए चुनाव किया—

1. राष्ट्रीयता

2. प्रादेशिक समुद्र

3. राज्य के क्षेत्र में विदेशी व्यक्तियों को तथा उनकी सम्पत्ति का क्षति के लिए राज्य का दायित्व। विषयों पर संहिताकरण के लिए हेग में सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया।

राष्ट्र संघ ने इन तीन 13 मार्च से 12 अप्रैल, 1930 तक हेग में सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में तीनों विषयों पर विचार के लिए तीन समितियों की स्थापना की गई। प्रथम समिति द्वारा तैयार किए गए निम्नलिखित समझौते स्वीकार किए। इन समझौतों पर 31 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए।

1. राष्ट्रीय विधियों के संघर्ष सम्बन्धी कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में एक अभिसमय ।

2. दोहरी राष्ट्रीयता के कुछ मामलों में सैनिक दायित्व सम्बन्धी संधिपत्र।

3. ऐसा कोई मामला जिसमें कोई राष्ट्रीयता न हो।

4. राज्यहीनता के बारे में समझौता।

इन समझौतों को कुछ राज्यों ने अपनी सहमति प्रदान की। अन्य दो विषयों के सम्बन्ध में सम्मेलन में इतना मतभेद था कि उन पर कोई समझौता नहीं हो सका। 1930 के सम्मेलन से बड़ी आशाएं थी परन्तु राज्यों के उम्र मतभेदों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा।

प्रो. ओपेनहीम ने इस सम्मेलन से प्राप्त अनुभवों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि—

1. संहिताकरण के व्यवस्थापूर्ण रूप तथा स्वीकृत सिद्धान्तों में एकीकरण के बीच भिन्नता है। इनर की प्राप्ति के लिए अलग—अलग प्रणालियों अपनाई जानी चाहिए।

2. सर्वसम्मति का नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में प्रगति के स्थान पर शिथिलता लाने वाला है।

3. संहिताकरण सम्मेलन ऐसे विषयों पर जिन्हें अब तक सर्वसम्मत समझा जाता था, अधिक विचार—विमर्श के कारण मतभेद उत्पन्न करता है।

4. मतभेद रहित विषयों के संहिताकरण के लिए भी दीर्घकालीन तैयारी की आवश्यकता है क्योंकि ऐसे विषयों पर एक दम निर्णय लेने में कठिनाई आ सकती है।

**राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में बनाए गए अभिसमय** (Conventions under the Auspices by League of Nations)—राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में बनाए गए अभिसमय निम्नलिखित हैं—

1. 1919 में वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत 1920 में राष्ट्र संघ की स्थापना की गई थी। वर्साय की सन्धि के माध्यम से दम घोटने वाली विषैत्ल्ली तथा अन्य गैसों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा जर्मन में इनके निर्माण पर रोक लगाई गई।

2. न्यायाधीशों के एक आयोग ने वायु युद्ध सम्बन्धी नियमों का निर्माण किया।

3. 1925 में लीग की परिषद् के नियन्त्रण में अनेक राष्ट्रों का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें दम घोटने वाली विषैली गैसों की निषिद्ध करने वाले एक सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये गए।

4. 1929 में स्विट्जरलैंड की सरकार के निमन्त्रण पर 47 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने युद्ध क्षेत्र में पड़े हुए सेनाओं के बीमारों, घायलों व युद्ध वन्दियों के सम्बन्ध में संशोधित अभिसमय तैयार किया।

**6. वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा संहिताकरण** (Condification by the Scientific Associations)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण को बढ़ावा देने के प्रयास राष्ट्र संघ से बाहर अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं—अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संस्थान, अन्तर्राष्ट्रीय विधि संगठन, अन्तररर्राष्ट्रीय विधि के अनुसंधान समूह इत्यादि के द्वारा किए गए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संस्थान ने विदेशियों का स्तर (Status of the Foreigners), विदेशी राज्यों के संबंध में न्यायालयों की क्षमता (The Competence of the Courts regarding Foreign States), नीचालन (Navigation), राष्ट्रीयता (Nationality), संघियाँ (Treaties), कूटनीतिक विशेषाधिकार (Deplomatic Privilegis), तटस्यता (Neutrality) इत्यादि विषयों पर संहिताओं के प्रारूप तैयार किए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संगठन ने प्रक्रिया संबंधी विधि एवं मूल विधि के संबंध में विभाजन किया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में किए गये अनुसंधानों ने संहिताकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया।

**संयुक्त राज्य अमेरिका के अभिकरणों का योगदान** (Contribution of the Agencies of the United States of America) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के कार्यों में संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों द्वारा स्थापित अभिकरणों का भी योगदान है। उदाहरणार्थ अमेरिकन तटस्व समिति की स्थापना सन् 1939 में की गई। इस समिति को तटस्थता से संबंधित नियमों और सिद्धान्तों का प्रारूप तैयार करने का कार्य सौंपा गया। सन् 1942 में अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के पश्चात् एक अन्य समिति की स्थापना की गई। इस समिति को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का संहिताकरण करने का कार्यभार सौंपा गया। सन् 1945 में मैक्सिको के युद्ध और शान्ति की समस्याओं से संबंधित समिति का निर्माण किया गया। इस समिति को सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण का केन्द्रीय अभिकरण बनाने का सुझाव दिया गया।

**संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण** (Codification of International Law Under the Auspices of the United Nations) —

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के संबंध में संयुक्त राष्ट्र की महासभा को दायित्व सौंपा गया। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा—पत्र (Charter of the United Nations) के अनुच्छेद 13 (1) (अ) के अनुसार, "महासभा राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करने और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्रमिक विकात करने और उसको संहिताबद्ध करने को प्रोत्साहन देने के प्रयोजन हेतु अध्ययन कराएगी तथा सिफारिशें करेगी।"

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के कार्य (Functions of International Law Commission)**

आयोग के कार्य का अधिकांश भाग अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषयों पर मसीदे तैयार करना है। इनमें से कुछ नियम आयोग द्वारा चुने जाते हैं तथा अन्य का उल्लेख महासभा अथवा आर्थिक सामाजिक परिषद् द्वारा किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को कार्य करते हुए 58 वर्ष हो गए हैं। आयोग द्वारा किए गए कार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

1. 21 नवम्बर, 1947 को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को निम्नलिखित आदेश जारी किए— राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में स्वीकार किया गया।

2. उन सिद्धान्तों को लागू करना जिन्हें न्यूरेम्बर्ग न्यायालय निर्णय में मान्यता प्राप्त है तथा जिसे संयुक्त

3. राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की घोषणा का प्रारूप तैयार करना। 2

4. मानवता की शान्ति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की संहिता का प्रारूप तैयार करना।

5. नरसंहार तथा अन्य अपराधों के परीक्षण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक संस्था की स्थापना की सम्भावना पर राय देना।

**1949 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) ने निम्नलिखित** विषयों को उपयोगी माना तथा

उनके संहिताकरण के सुझाव दिए—

1. राज्यों की मान्यता ।

2. राज्यों तथा सरकार के उत्तराधिकार।

3. राज्यों तथा इनकी सम्पत्ति की क्षेत्राधिकार विषयक उन्मुक्तियाँ।

4. राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किए गए अपराधों का क्षेत्राधिकार ।

5. महासमुद्रों का क्षेत्र।

6. प्रादेशिक समुद्रों का क्षेत्र।

7. राष्ट्रीयता ।

8. पंच निर्णय की प्रक्रिया।

9. वाणिज्य के सम्पर्क तथा उन्मुक्तियाँ।

10. राज्य का उत्तरदायित्व ।

11. राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियाँ।

12. सन्धियों की विधि।

14. विदेशियों से व्यवहार।

15. आश्रय का अधिकार।

सन् 1971 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने कुछ और सुझाव दिए, जो निम्नलिखित हैं—

1. सामुद्रिक पेटी (Mari time Belt)

2. महासमुद्रों का क्षेत्र (Regime of High Seas)

3. राष्ट्रीयता (Nationality)

4. पंच निर्णय की प्रक्रिया (Arbitral Procedure)

5. वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में उन्मुक्तियों (Consular Intercourse and Immunities)

6. सन्धिनों की विधि (Law of Treaties)

7. राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियाँ (Diplomatic Relations and Immunities)

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने पिछले 55 वर्षों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विषयों पर संहिताकरण किया है।**

1. राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रारूप की घोषणा (Declaration of a Draft relating the Rights and Duties of States)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने राज्यों के चार अधिकारों को स्वीकार किया है—

1. स्वतन्त्रता का अधिकार।

2. राज्य के प्रदेश पर क्षेत्राधिकार।

3. समानता का अधिकार।

4. सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध का अधिकार।

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अधिकारों की अपेक्षा राज्यों के कर्तव्यों पर अधिक बल दिया। राज्यों के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं—**

1. अहस्तक्षेप ।

2. दूसरे राज्य में गृह युद्ध को प्रोत्साहित न करना।

3. अपने राज्य में ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न होने से रोकना जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा व्यवस्था को खतरा पहुँचाती हो।

4. युद्ध के मार्ग का अवलम्बन न करना।

5. दूसरे राज्य की प्रादेशिक स्वतन्त्रता तथा अखण्डता का सम्मान करना तथा इसके लिए खतरा पैदा करने वाली परिस्थितियों पैदा न करना।

6. अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के परम्परागत नियमों का पालन करना।

7. विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझाना।

8. अपने क्षेत्राधिकार के सभी व्यक्तियों को मानवीय अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान करना। ऐसा करते समय जाति, धर्म, भाषा आदि का कोई भेदभाव न करना तथा सभी के साथ समानता पूर्ण व्यवहार करना।

**2. न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों की रचना** (Formulation of Nuremberg Principles)

दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् मित्र देशों ने जर्मन के मुख्य युद्ध अपराधियों के विरुद्ध न्यूरेम्बर्ग में अभियोग चलाने के लिए न्यूरेम्बर्ग न्यायाधिकरण (Nuremburg Tribunal) की स्थापना की। 1950 में चलाये गये इन अभियोगों में तथा संघ के चार्टर में स्वीकार किए गए युद्ध अपराधों के लिए विधि आयोग ने कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया। इन सिद्धान्तों के आधार पर 22 नाजी नेताओं को रिहा कर दिया गया। 12 को मृत्यु दण्ड दिया गया, तीन युद्ध अपराधियों को आजीवन कारावास तथा चार को विभिन्न अवधि के लिए कारावास का दण्ड दिया।

विधि आयोग ने जो सिद्धान्त स्वीकार किए, वे निम्नलिखित हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी होगा।

2. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला देश राष्ट्रीय कानून का बहाना लेकर अन्तरर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं कर सकता।

3. अन्तरर्राष्ट्रीय कानून राज्य के अध्यक्ष पर भी समान रूप से लागू होगा। वे अपराध के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

4. किसी राज्य की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून से ऊपर नहीं है तथा इसलिए सरकारी आदेश का बहाना लेकर कोई व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के दोष से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार देता है कि वह अपने ऊपर लगाये गए दोषों की जांच करवा सके तथा कानून

और तथ्यों के माध्यम से अपनी रक्षा कर सके।

6. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से तीन प्रकार के अपराध को दण्डनीय माना गया है—युद्ध अपराध, शान्ति के विरुद्ध किए गए अपराध, मानवता के विरुद्ध किए गए अपराध।

7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उपर्युक्त अपराधों में सहयोग देना भी कानून का उल्लंघन है तथा दण्डनीय है।

**3. मानवता की शान्ति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की संहिता का प्रारूप** (The Codification of the offences against Peace and Security of Mankind)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तरर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के विरुद्ध कार्य करने को अपराध माना है।

मानवता की शान्ति तथा सुरक्षा को हानि पहुंचाने वाले कार्य हैं—

1. आक्रमण से सम्बन्धित कोई कार्य।

2. आक्रमण की धमकी देना।

3. आक्रमण के लिए सशस्त्र सेनाएं भेजने की तैयारी करना।

4. किसी अन्य राज्य में गृह युद्ध को प्रोत्साहन देना।

5. जाति वध को प्रोत्साहन देना तथा अनुचित रूप से दूसरे देश के प्रदेश को अपने प्रदेश में मिता लेना।

**4. अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय (International Cirminal Court)**

1950 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी मामलों पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना का सुझाव दिया। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का न्यायालय, ये दोनों अलग—अलग होने चाहिएं। महासभा ने अपने पांचवे अधिवेशन में अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना तथा संविधि सम्बन्धी अभिसमय का प्रारूप तैयार करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने 1951 में अन्तर्राष्ट्रीय अपराधिक न्यायालय के लिए संविधि (Statute) का प्रारूप तैयार किया। संविधि सहित समिति का प्रतिवेदन सरकारों को टिप्पणी तथा अवलोकन के लिए भेजा गया।

**5. मानव अधिकारों की सार्वभौमिक पोषणा 1948 (The Universal Declaration of Human Rights 1948)**—सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने मानव अधिकारों को सार्वभौमिक घोषणा की। सन् 1950 में मानव अधिकार आयोग ने प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार का विधि द्वारा संरक्षण तथा इसके एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय में सम्मेलन के सिद्धान्त को स्वीकार किया।

**6. अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के विवरणों का प्रकाशन** (Publication of the Documents of International Law Commission)—अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण को नई दिशा प्रदान करने के लिए सन् 1955 में महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके महासचिव से निवेदन किया कि विधि आयोग के समस्त कार्यों का विशद् रूप में प्रकाशन किया जाए।

7. महाद्वीपीय समुद्र तल अभिसमय 1958 (The Continental Shelf Convention, 1958)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप महाद्वीपीय समुद्र तल अभिसमय 1958 पर जेनेवा में हस्ताक्षर किये गए। जेनेवा के अन्तरर्राष्ट्रीय सम्मेलन में 24 फरवरी, 1958 से 28 अप्रैल, 1958 तक 85 राज्यों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में समुद्री कानून सम्बन्धी 4 अनुबन्धों पर हस्ताक्षर किए गए। 1964 तक ये चारों अनुबन्ध आवश्यक सपुष्टि पाकर लागू हो गए। इन अनुबन्धों में व्यवस्था की गई थी—

1. खुले समुद्र से सम्बन्धित अभिसमय।

2. क्षेत्रीय समुद्र तथा संस्पर्शी क्षेत्र अथवा संलग्न क्षेत्र से सम्बन्धित अभिसमय ।

3. खुले समुद्र में मछली पकड़ने तथा जीवित संसाधनों के परीक्षण से सम्बन्धित अभिसमय।

4. महाद्वीपीय जलमग्न तटभूमि विषयक सम्बन्धित अभिसमय।

इन चारों अनुबन्धों के अतिरिक्त इन सम्मेलन में अनेक विषयों पर प्रस्ताव भी स्वीकार किए गए, जिनमें—

1. नाभिकीय परीक्षण।

2. तटवर्ती मत्स्य हरण।

3. ऐतिहासिक जलाशय ।

4. रेडियो—ऐक्टिव पदाथों द्वारा महासमुद्र का प्रदूषण आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु इस सम्मेलन में भू—भागी समुद्र की बाहरी सीमा निश्चित नहीं की जा सकी।

1960 में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक—दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस जेनेवा सम्मेलन में 87 राज्यों ने भाग लिया, परन्तु भू—भागी समुद्र की सीमा निश्चित करने में यह सम्मेलन भी असफल रहा। प्रत्येक देश अपनी सुविधानुसार प्रादेशिक समुद्र की सीमा तय करना चाहता था। 3 मील से लेकर 200 मील तक की मांग विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी सुविधानुसार पेश की। हुए। समुद्री सन्धि का नया कानून 30 अप्रैल 1982 को स्वीकृत हुआ और इसके साथ चार प्रस्ताव भी स्वीकृत 10 दिसम्बर, 1982 को यह कानून जमैका में हस्ताक्षरों के लिए रखा गया। 60 राज्यों द्वारा संपुष्टि कर दिये जाने के 12 महीने पश्चात् यह सन्धि लागू हो गई।

**8. राष्ट्रीयता तथा राज्य विहीनता सम्बन्धी अधिसमय** (Convention on Nationality and Statelessness)—विधि आयोग ने राष्ट्रीयता तथा राज्यविहीनता के सम्बन्ध में उप सन्धियों का प्रारूप तैयार किया। 1961 में संयुक्त राष्ट्र संघ सम्मेलन ने नागरिक हीनता को दूर करने की परिपाटी को स्वीकृत किया। इस उपसन्धि द्वारा राज्य विहीनता को समाप्त किया गया तथा राष्ट्रीयता खोने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गई।

**9. कूटनीतिक सम्बन्धों के बारे वियना अभिसमय 1961** (The Vienna Convention of Diplomatic Relations 1961)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तथा महासभा के प्रयासों के परिणामस्वरूप 18 अप्रैल, 1961 को आस्ट्रिया की राजधानी वियाना में एक ऐसा सम्मेलन हुआ, जिसने आयोग द्वारा तैयार अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। इस अभिसयम में एक प्रस्तावना तथा 53 अनुच्छेद हैं। इसमें राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति, भंग करने की अवस्था, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ तथा सुरक्षा आदि का स्पष्ट वर्णन किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के इतिहास में यह एक महानतम उपलब्धि है।

**10. वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में अभिसमय 1963** (Convention Relating to Consuls 1963)—आस्ट्रिया की राजधानी वियाना में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में 4 मार्च से 23 अप्रैल तक एक ऐसा सम्मेलन हुआ जिसमें आयोग द्वारा वाणिज्य दूत विषयक सम्बन्धों के बारे में तैयार किये गए नियमों पर विचार—विमर्श करके कतिपय उन्मुक्तियों प्रदान की गई। इसमें वाणिज्य दूतावासों के अध्यक्षों की चार श्रेणियों मानी गई। वियना अभिसमय ने वाणिज्य दूतों को यह अधिकार प्रदान किया कि उन्हें नियुक्त करने वाले राज्य के नागरिकों तथा सरकार से सीधा पत्र व्यवहार कर सकते हैं।

ब्रियलर्ती के अनुसार, "यह अभिसमय अन्तर्राष्ट्रीय कानून में प्रगतिशील विकास के कई नए तत्त्वों का समावेश करने वाला है।"

**11. बाह्य अन्तरिक्ष सन्धि 1966 (Outer Space Treaty 1966)**

महासभा ने 19 दिसम्बर, 1966 को बाह्य अन्तरिक्ष में चन्द्रमा तथा अन्य खगोलीय पिण्डों के अनुसन्धान के सम्बन्ध में भिन्न कार्य करने के सिद्धान्तों के बारे में एक सन्धि का प्रस्ताव पास किया। सन् 1957 से 1966 तक एक दशक में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में विकास का फल यह सन्धि थी। इस सन्धि में यह व्यवस्था की गई थी कि चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों तथा उपग्रहों सहित बाह्य अन्तरिक्ष में खोज करने का तथा इनका उपयोग करने का अधिकार सभी देशों को समान रूप से होगा। किसी भी देश का प्रभुत्व अथवा स्वामित्व नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करते हुए सभी को अनुसन्धान की स्वतन्त्रता होगी।

(i) इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष में आणविक अस्त्र तथा जनसंहारक अन्य अस्त्र भी नहीं रखे जा सकेंगे।

(ii) बाह्य अन्तरिक्ष, चन्द्रमा तथा अन्य आकाशीय ग्रहों का उपयोग पूर्णतथा शान्ति के लिए किया जायेगा।

(iii) बाह्य अन्तरिक्ष में सभी गतिविधियों के लिए राज्य उत्तरदायी होगा।

12. सन्धियों के सम्बन्ध में वियना अभिसमय 1969 (Vienna Convention on the Law of Treaties 1969)—9 अप्रैल से 22 मई, 1969 की अवधि में वियाना में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें 85 अनुच्छेदों को स्वीकार किया गया। ये ऐसे विषयों से सम्बन्धित थे जिनमें सन्धियों की शक्ति में निष्कर्ष तथा प्रविष्टि, आरक्षण व्यवस्था, अवैधता तथा पर्यावसान महत्त्वपूर्ण हैं। अब एक नवीन सिद्धान्त 'अनिवार्य विधि' का प्रयोग भी होने लगा है। यह सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण तथा क्रमिक विकास के क्षेत्र में सीमा चिन्ह है। इस सन्धि के कारण अनिवार्य विधि के साथ—साथ उल्लंघनीय नियम का प्रयोग भी प्रचलित हुआ।.

13. समुद्र तल सन्धि 1970 (Sea Bed Treaty 1970)—7 दिसम्बर, 1970 को समुद्र तल में अथवा उसके नीचे सामूहिक विनाश के अणविक आयुों तथा अन्य हथियारों के रखने पर पाबन्दी लगाने वाली सन्धि को महासभा ने स्वीकार किया। इस सन्धि के अन्तर्गत समुद्र तल में किसी प्रकार के हथियारों को रखने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

14. मान्ट्रियल सन्धि 1971 (Montreal Convention 1971)—8 सितम्बर से 23 सितम्बर, 1971 तक मान्ट्रियल में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में नागरिक उड्यन की सुरक्षा के विरुद्ध किए जाने वाले विधि विरुद्ध कार्य को रोकने के लिए अभिसमय पर हस्ताक्षर हुए। यह अभिसमय हवाई अपराधों को रोकने तथा दमन करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

15. अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा प्राप्त व्यक्तियों के विरुद्ध अपराव रोकने का अभिसमय 1973 (The Convention on the Prevention and Punishment of Crimes against Internationally Protected Persons 1973)—14 दिसम्बर, 1973 को महासभा ने अभिसमय को स्वीकृति प्रदान की, जिसके अन्तर्गत राज्यों के अध्यक्षों, मन्त्रियों, प्रतिनिधियों तथा अधिकारियों को अन्य देशों में सुरक्षा प्रदान की जायेगी। इनके विरुद्ध किए गये अपराध के अपराधियों के प्रत्यापर्ण तथा दण्डित करने की व्यवस्था की गई। इस अभिसमय को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 14 दिसम्बर, 1973 को स्वीकृति प्रदान की।

16. पर्यावरण तथा आर्थिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का चार्टर 1974 (Environment and Charter of Economic Rights and Duties 1974)—12 दिसम्बर, 1974 को महासभा ने पर्यावरण तथा आर्थिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का चार्टर स्वीकार किया। चार्टर के अनुच्छेद 30 में यह व्यवस्था है कि वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के लिए पर्यावरण का बचाव, संरक्षण तथा विकास करना सभी राज्यों का उत्तरदायित्व है।

17. पर्यावरण तथा समुद्र विधि पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय 1982 (U.N. Convention on the Law of Environment and Sea 1982)—10 दिसम्बर, 1982 को मोन्टेगोबे (जमेका) में पर्यावरण तथा समुद्र विधि पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में आयोजित किया गया। इसमें 120 राष्ट्रों ने समुद्र विधि अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। 1983 तक 11 राष्ट्रों के हस्ताक्षर के पश्चात् हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों की संख्या 131 हो गई। इसमें महाद्वीपीय समुद्र तल के विदोहन, अपवर्जित आर्थिक क्षेत्र, पार्श्ववर्ती पेटी, खुले समुद्र की स्वतन्त्रता के नियम संहिताबद्ध किये गए। इसके अतिरिक्त समुद्र में प्रदूषण रोकने तथा समुद्री पर्यावरण के संरक्षण के सम्बन्ध में भी प्रावधान किए गए।

18. राज्य सम्पत्ति, पुरालेखागार तथा ऋण के सम्बन्ध में वियाना अभिसमय 1983 (Convention State Property, Archives and Debts 1983)—वियना में राज्य सम्पत्ति लेखागार तथा ऋण के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में एक मार्च से 8 मार्च, 1983 तक एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन ने एक अभिसमय में राज्य सम्पत्ति, पुरालेखागार तथा ऋण के सम्बन्ध में स्वीकृति प्रदान की।

**19. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विधि आयोग (U.N. Commission on International Trade)**

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधाओं को कम करने में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अधिक सक्रिय भूमिका निभाने की दृष्टि से महासभा ने 1966 में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कानून के संहिताकरण तथा एकीकरण की वृद्धि के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कानून का संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग' स्थापित किया। इस आयोग के 36 राष्ट्र सदस्य हैं। वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सीमा अवधि सम्बन्धी उपसन्धि आयोग द्वारा की गई प्रथम उपसन्धि थी। इसे महासभा ने 1974 में आयोजित सर्वाधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में पारित किया। 1980 में आयोजित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ठेकों से सम्बन्धित एक संयुक्त राष्ट्र उपसन्धि पारित की।

1991 में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में यातायात ट्रमिनलों के ऑपरेटरों के उत्तरदायित्व से सम्बन्धित एक उपसन्धि स्वीकार की गई।

1996 में न्यूयार्क में 8 इलेक्ट्रॉनिक आंकड़ों के आदान—प्रदान के विधिक पहलुओं पर 'आदर्श कानून के रूप में नियमों का सैट पारित किया गया।

1997 में वियना में संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विधि आयोग का 30वां वार्षिक अधिवेशन हुआ। सत्र के दौरान आयोग के समक्ष कार्यों में दिवालियेपन के एक से नियम तथा पहलुओं को अपनाने के लिए सतत् प्रयत्नों के आगे बढ़ाने का कार्य था।

**20. पृथ्वी सम्मेलन अथवा पर्यावरण तथा विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन 1992** (The Earth Summit or U.N. Conference on Environment and Development 1992)—संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में ब्राजील में 3 जून, 1992 को पृथ्वी शिखर सम्मेलन आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन में 182 देशों के बीस हजार से भी अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसके सर्वांगीण सत्र में लगभग 106 राष्ट्रों के राज्याध्यक्षों तथा शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। रियो घोषणा (सम्मेलन ब्राजील की राजधानी रिओ—डि—जेनीरो में आयोजित किया गया था) में 27 सिद्धान्त थे, जिनमें विश्व के सभी राज्यों के पर्यावरण संरक्षण के लिए अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त गरीबी, खपत के ढंग, स्वास्थ्य, मानवीय बस्तियाँ, वित्तीय द्रव्य, ऊर्जा, जलवायु आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर कार्य योजना को स्वीकार किया गया।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—संहिताकरण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् इस दिशा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। अब यह आशा की जाने लगी है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन की प्रक्रिया अनेक असंगतियों को मिटाने में समर्थ हो सकेगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि महत्त्वपूर्ण विषयों में राष्ट्रीय हितों तथा राष्ट्रीय स्वाथों से ऊपर उठकर तथा टकराव की नीति छोड़कर संहिताकरण के विकास में सहयोग दें। राज्यों के मध्य पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग होना अत्यन्त आवश्यक है। संहिताकरण एक बन्धन नहीं, अपितु आपाधापी तथा अराजकता को मिटाने का एक साधन हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा यदि राज्य संहिताकरण का सम्मान करे।

## अन्तर्राष्ट्रीय विधि : चुनौतियाँ, नवीन प्रवृत्तियाँ एवं आयाम [International Law: Challenges, New Trends and Dimensions]

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख प्रमुख चुनौतियों का वर्णन कीजिए। (Describe the main challenges before the International Law.)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नवीन उभरती हुई प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए। (Describe the new emerging trends of International Law.)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में नवीन आयामों का वर्णन कीजिए। (Describe the new dimensions in the development of International Law.)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ की विवेचना कीजिए। वर्तमान समय में किन तत्त्वों ने इसकी परिवर्तनशील प्रकृति में योगदान दिया है?

(Discuss the meaning of International Law. What factors have contributed to its changing nature in the recent times?)

अथवा

हाल के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास की चर्चा कीजिए।

(Discuss the development of International Law in recent years.)

अथवा

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक जीवन्त कानून है।" इस कथन के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उभरती हुई प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।

("International Law is a living law." On the basis of this statement, describe the emerging new trends of International Law.)

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की नवीन प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए। (Describe the new trends of International Law.)

**उत्तर**— विधि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समाज की समस्याओं का समाधान करता है। अतः विधि में समस्याओं के समाधान हेतु स्थायित्य एवं परिवर्तन (Stability and Change) दोनों का होना नितान्त अनिवार्य है। यही नियम अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर भी लागू होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन् 1945—2000 के अन्तराल में अनेक अभूतपूर्व एवं क्रांतिकारी परिवर्तन हुए जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि को • असंख्य चुनौतियों का सामना करना पड़ा और परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि में परिवर्तनों एवं संशोधन की — आवश्यकता अनुभव की गई।

**परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप** (Nature of Traditional International Law)— परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी चिन्तन पर आधारित है तथा यह ईसाई सभ्यता की विरासत मानी जाती है। उदाहरणार्थ, ओपेनहीम (Oppenheim) ने सन् 1905 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून' (International Law) में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा करते हुए लिखा है, "अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रथा संबंधी तथा संधि नियमों के उस समूह का नाम है जो सभ्य राज्यों के पारस्परिक संबंधों में विधिक रूप से बाध्यकारी है।"

**परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—**

1. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि संधियों एवं प्रथाओं का समूह है।

2. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय केवल राज्य है।

3. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को 'सभ्य राष्ट्रों' अर्थात् ईसाई सभ्यता की विरासत माना जाता है। यूरोपियन विद्वानों ने केवल ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले यूरोपियन राज्यों को सभ्य माना है। गैर—ईसाई राज्यों, विशेषतथा तीसरी दुनिया के विकासशील राज्यों को 'असभ्य' माना है।

4. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी चिन्तन की देन है।

5. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्ध एवं शक्ति के प्रयोग को उचित मानता है।

6. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग कमजोर एवं छोटे देशों के प्रयोग के लिए किया जाता है।

7. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून असमान संधियों की उपज है।

8. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि शक्तिशाली राज्यों द्वारा छोटे एवं कमजोर राज्यों के आंतरिक क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप को अनदेखा करता है।

9. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार, व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, गैर—राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इकाइयों की अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय नहीं है।

10. परम्परावादी अन्तर्राष्ट्रीय कानून 'मानव कल्याण' के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है।

**अन्तर्राष्ट्रीय विधि की नवीन प्रवृत्तियों तथा आयामों का अध्ययन निम्न दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है**—

(A) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख प्रमुख चुनौतियाँ (Main Challenges before International Law)

(B) अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नवीन प्रवृत्तियाँ तथा आयाम (New Trends and Dimensions in International Law)

इनका सविस्तार वर्णन निम्नलिखित है—

**(A) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख प्रमुख चुनौतियाँ** (Main Challenges before International Law)— डॉ. एस. के. कपूर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख मुख्य चुनौतियाँ—साम्यवादी चुनौती, बड़ी संख्या में नये राज्यों के उदीयमान की चुनौती, भारतीय चुनौती, आणविक चुनौती, वैज्ञानिक तथा तकनीकी चुनौती, प्रदूषण के परिणामस्वरूप पर्यावरणीय चुनौती, हरित गृह के प्रभाव की चुनौती आदि हैं। परन्तु सन् 1945 के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय विधि में आतंकवाद की चुनौती भी खतरनाक रूप धारण करती जा रही है। इन चुनौतियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

**1. साम्यवादी विचारधारा की चुनौती** (Challenge of Communist Ideology)—सन् 1917 में भूतपूर्व सोवियत संघ में साम्यवादी विचारधारा के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हुई। सन् 1949 में चीन में साम्यवादी व्यवस्या का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व के अनेक राज्यों—हंगरी, पॉलैंड, बुल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया, अलबानिया, उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम, पूर्वी जर्मनी, क्यूबा इत्यादि में साम्यवादी सरकारों की स्थापना हुई। यही कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व का द्वि-ध्रुवीकरण (Bi—Polarisation) हो गया। एक ध्रुव का नेतृत्व पूँजीवादी गुट संयुक्त राज्य अमेरिका ने किया तथा साम्यवादी गुट का नेतृत्व भूतपूर्व सोवियत संघ ने किया। इस ध्रुवीकरण के कारण शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि के चिंतक एवं टीकाकार भी दो खेमों में विभाजित हो गए। साम्यवादी विद्वानों, टीकाकारों एवं सिद्धान्तकारों ने परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, नव—साम्राज्यवाद एवं पूँजीवादी शोषण की पोषक माना। अन्य शब्दों में, परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्मुख साम्यवादी विचारधारा एक

जबरदस्त चुनौती थी। इसके परिणाम स्वरूप अनेक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून में परिवर्तन हुआ और साम्यवादी देशों ने इन परिवर्तनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्वीकृति प्रदान की।

**2. नये राज्यों का उदय (Arise of New States)**— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख दूसरी महत्त्वपूर्ण चुनौती असंख्य नवीन राज्यों का उदय थी। 26 जून, 1945 को संयुक्त राष्ट्र के घोषणा—पत्र (The U.N. Charter) पर 51 राज्यों (इनमें बाइलोरूस तथा यूक्रेन भूतपूर्व सोवियत संघ के भाग थे तथा भारत भी अभी तक स्वतंत्र नहीं हुआ था) ने हस्ताक्षर किए थे। जनवरी, 2001 तक संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 189 हो गई। इन राज्यों ने परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को चुनौती दी और साम्राज्यवादी शोषण का विरोध किया। केबल यही नहीं अपितु सॉन फ्रांसिस्को सम्मेलन से ही ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के जनतन्त्रीकरण पर बल देते रहे हैं। सन् 1970 के दशक से इन राज्यों ने प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को शोषण, अन्याय एवं असमानता पर आधारित माना और नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्या (NIEO), उत्तर—गक्षिण संवाद (North—South Dialogue), दक्षिण—दक्षिण संवाद (South—South Dialogue), राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार (Right to National Self—determination), तटस्यवाद (Neutralism), असंलग्नता (Non—Alignment), शान्तिपूर्ण सह—अस्तित्व (Peaceful co—existence), निःशस्त्रीकरण (Disarmament) इत्यादि का समर्थन किया तथा शस्त्रीकरण (Armament), प्रजातिवाद (Racialism) रंगभेद (Apartheid), साम्राज्यवाद (Imperialism), नव—साम्राज्यवाद (Neo—imperialism) इत्यादि का विरोध करके परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ सिद्धान्तों एवं नियमों को अस्वीकार किया। इन देशों ने सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में विकासात्मक मुद्दों पर बल दिया है तथा नवीन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण हेतु सार्वभौमिक वातावरण एवं सहमति बनाने की दिशा में उत्प्रेरक का कार्य है।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि को भारतीय चुनौती** (Indian Challenge to International Law)—डॉ. एस. के. कपूर (Dr. S. K. Kapoor) के अनुसार, "दूसरे नये राज्यों की भाँति भारत ने भी जन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ स्वीकृत नियमों तथा सिद्धान्तों को अस्वीकार करने अथवा संशोधित करने का प्रयास किया है। भारत ने भी न तो पूर्णतथा परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अस्वीकार किया है और न ही स्वीकार किया है। भारत ने पश्चिमी राष्ट्रों में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ सिद्धान्तों के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की विधिक प्रणाली के महत्त्व को न्यून करना है। इसके अतिरिक्त भारतीय चुनौती सोवियत संघ की चुनौती के समान भी है... भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्रमिक विकास में अपना योगदान दिया है। भारत का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण, उपनिवेशवाद की समाप्ति, शान्तिपूर्ण सह—अस्तित्व (Peaceful Co—existence) तथा गुट—निरपेक्षता (Non—alignment) के क्षेत्रों में विशेष उल्लेखनीय है।"

**4. अणु शक्ति की चुनौती** (Challenge of Atomic Power) — 16 जुलाई, 1945 को संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व का प्रथम सफल अणु परीक्षण करके अणु शस्त्रों की दौड़ को बढ़ावा दिया। इस सफल परमाणु परीक्षण के तीन सप्ताह के पश्चात् जापान के महानगरों—हिरोशिमा तथा नागासाकी पर क्रमशः 6 अगस्त तथा 9 अगस्त, 1945 को हाइड्रोजन बम (अणु बम) गिराए गए और कुछ ही क्षणों में 3,40,000 लोग मृत्यु के शिकार हो गए। अणु बमों के निर्माण से पूर्व मानव जाति के सम्मुख मुख्य चुनौती यह थी कि युद्ध को कैसे रोका जाए। परन्तु अणु बमों के प्रयोग के पश्चात् मुख्य चुनौती यह है कि मानवता को कैसे जीवित रखा जाए। अणु परीक्षणों और अणु बमों के निर्माण की होड़ प्रारम्भ हो गई। सन् 1949 में भूतपूर्व सोवियत संघ ने सफल परमाणु परीक्षण करके अमेरिकन एकाधिकार को समाप्त कर दिया। इसके पश्चात् इंग्लैण्ड (1952), फ्रांस (1958), चीन (1964), भारत (1974), पाकिस्तान (1998) ने सफल परमाणु परीक्षण किए। विश्व में इस समय 50,000 से 60,000 तक परमाणु शस्त्र हैं तथा विश्व के 44 राष्ट्र परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र हैं। परमाणु युद्ध विश्व को आधे घण्टे में कई बार तथाह कर सकता है। मानव जाति एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख परमाणु शक्ति सर्वाधिक खतरनाक चुनौती है। फेनविक के अनुसार, "परमाणु बम को स्वीकृत युद्ध विधि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है तथा इसकी प्रकृति ऐसी है कि इसका प्रयोग केवल विधि के उल्लंघन द्वारा ही हो सकता है।" आणविक शक्ति के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सार्थकता समाप्त हो गई। आज मानव जाति के सम्मुख मुख्य चुनौती यह है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि अणु युद्ध के विनाश से सुरक्षा करेगी?

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रकृति गतिशील है तथा इसमें समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल ढलने की क्षमता है। अणु शक्ति पर नियंत्रण करने के लिए सन् 1945 से आज तक प्रयास निरन्तर जारी हैं। आणविक शक्ति के परीक्षण एवं प्रसार की रोकने के

लिए अनेक समझौते किए गये, यथा—

(i) आंशिक आणविक परीक्षण संधि, 1963 (The Partial Test Ban Treaty, 1963)

(ii) बाहरी वायुमण्डल में आणविक शस्त्रों के प्रयोग पर निषेव से संबंधित संधि, 1967 (Outer Space Test Ban Treaty, 1967)

(iii) आणविक शस्त्रों के गैर—प्रसारण संधि, 1968 (The Treaty for the Non—Proliferation of Nuclear Weapons—NPT, 1968)

(iv) समुद्र—तल पर आणविक शस्त्रों तथा दूसरे शस्त्रों के रखने पर निषेध से संबंधित संधि, 1971 (Sea—Bed Treaty, 1971)

(v) सामरिक शस्त्रों को सीमित करने से संबंधित वार्ता, 1972 (Strategic Arms Limitation Treaty—SALT, 1972)

(vi) कीटाणुओं तथा मादक शस्त्रों के विकास, उत्पादन इत्यादि करने तथा उसके विनाश से संबंधित संधि, 1971 (Convention on the Development, Production and Stockpilling of Botonological and Toxic Weapons and on their Destruction, 1971)

vii) माध्यमिक आणविक शक्तियाँ संधि, 1987 (The Intermediate Nuclear Forces (Treaty 1.N.F Treaty, 1987)

(viii) सामरिक शस्त्रों को सीमित करने की संचि, 1991 (Strategic Arms Reduction Treaty or START, 1991)

(ix) रूस तथा अमेरिका के मध्य आणविक शस्त्रों की कटौती पर स्टार्ट—2 संधि, 1993 (Nuclear Arms Reduction Treaty—START II Between Russia and America)

(x) व्यापक परमाणु परीक्षण निषेव संधि, 1996 (Comprehensive Test Ban Treaty, CTBT, 1996) इत्यादि।

यद्यपि उपरोक्त संधियों तथा समझौतों के द्वारा आणविक शक्ति पर नियंत्रण करने का प्रयास किया गया। परन्तु परमाणु युद्ध की गम्भीर चुनौती आज भी मानवता के सम्मुख विद्यमान है।

**5. वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति की चुनौती** (Challenge of Scientific and Technological Revolution) — वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रान्ति ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मुख एक विकट चुनौती उत्पन्न की है। सूचना एवं दूर संचार तकनीकी के विकास के कारण पश्चिमी देशों का तीसरी दुनिया के राज्यों के घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic Jurisdiction) में निरन्तर हस्तक्षेप बढ़ रहा है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के साथ—साथ उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमण्डलीकरण (Liberalisation Privatisation and Globalisation—LPG) की अवधारणाओं ने राज्यों की प्रभुसत्ता, राष्ट्र, राष्ट्रीयता इत्यादि की जड़ें हिला कर रख दीं। वर्तमान समय में कोई भी राज्य परम्परागत स्वरूप में प्रभुसत्ता की सर्वोच्चता का दावा नहीं कर सकता। परन्तु वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में पश्चिमी देशों—अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली इत्यादि तथा पूर्वी देश जापान एवं भूतपूर्व सोवियत संघ के उत्तराधिकारी राज्य रूस का नियंत्रण है। इसलिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र विकासशील राज्यों पर अनेक प्रतिबन्ध तथा व्यापारिक शर्तें थोपते हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1998 में पोखरन द्वितीय (Pokhran—II) के पश्चात् अमेरिका और उसके सहयोगी उन्नत राष्ट्रों के द्वारा भारत पर आर्थिक प्रतिबन्धों को लागू किया गया। अतः परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय विधि में परिवर्तन होना चाहिए ताकि उन्नत राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों का शोषण न कर सकें।

**6. पर्यावरण प्रदूषण की चुनौती** (A Challenge of Environment Pollution)—20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में परमाणु एवं आणविक शस्त्रों की होड़, नगरीकरण की वृद्धि, जनसंख्या विस्फोट, औद्योगीकरण, यन्त्रीकरण, तकनीकी विकास इत्यादि

के परिणामस्वरूप पर्यावरण प्रदूषित होता चला गया और हरितगृह परिणाम से ओजोन की परत (Ozone layer) के हास होने की सम्भावना ने विश्व के समक्ष एक भयंकर चुनौती उत्पन्न की है। इस चुनौती का सामना करने तथा पर्यावरण की सुरक्षा हेतु अनेक कदम उठाए गए हैं। इनमें मानवीय पर्यावरण स्टाक होम सम्मेलन (1972), सन् 1974 तथा 1977 में महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव, ब्राजील की राजधानी रीओ डी जनेरीओ (Rio—de—Jenerio) में पृथ्वी शिखर सम्मेलन, 1992 (The Earth Summit, 1992) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन सम्मेलनों में पर्यावरण की सुरक्षा संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए। पर्यावरण के क्षेत्र में सन् 1975 का विशेष महत्त्व है क्योंकि इस वर्ष पर्यावरण संबंधित निम्न सात संचियों को लागू किया।

(i) संकटापन्न अथवा जोखिम में पड़े जंगली पेड़—पौधों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संबंधित अभिसमय (1973);

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की नम भूमि तथा विशेषकर पानी में रहने वाले पक्षियों के रहने के स्थान संबंधित अभिसमय (1971);

(iii) विश्व—सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक पैतृकी के संरक्षण संबंधित अभिसमय (1972)

(iv) तेल—प्रदूषण के मामलों में हस्तक्षेप संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय अभियम (1969); (

(v) तेल—प्रदूषण के नुकसान के लिए नागरिक दायित्त्व से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (1969):

(vi) जलपोतों तथा वायुयानों द्वारा ढेर से सामुद्रिक प्रदूषण को बचाने के लिए अभिसमय (1973) तथा

(vii) कूड़ा—कर्कट तथा अन्य समान ढेर करने से सामुद्रिक प्रदूषण को बचाने के लिए अभिसमय (1972)1

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा कीनिया की राजधानी नैरोबी में 5 दिसम्बर, 1980 को मानवीय पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में पर्यावरण की सुरक्षा की दिशा में ठोस प्रस्ताव पारित किए गए। इन प्रस्तावों को नैरोबी घोषणा (1980) के नाम से पुकारते हैं। ओजोन की परत में छिद्र होना मानव जाति एवं सभ्यता के अस्तित्व के लिए अति भयंकर खतरा है। ओजोन की परत को बचाने हेतु ओजोन परत संरक्षण का वियाना अभिसमय, 1985 पारित किया गया। मानवीय पर्यावरण को बचाने के लिए पृथ्वी शिखर सम्मेलन, 1992 (The Earth Summit, 1992) ब्राजील के नगर रियो डी जनेरीओ (Rio—de— Janeiro) में 3 जून से 14 जून, 1992 तक आयोजित किया गया। 20वीं शताब्दी का यह एक महान् सम्मेलन था। इस सम्मेलन में 182 राष्ट्रों के शासनाध्यक्षों अथवा प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में विकसित एवं विकासशील देशों के 30,000 व्यक्तियों ने भाग लिया। पृथ्वी शिखर सम्मेलन—1992 को यूनसेड—UNCED (United Nations Conference on Environment Development—1992) के नाम से भी पुकारा जाता है। मॉरिश जोन ने पृथ्वी शिखर सम्मेलन, 1992 को 'प्लेनेट की संसद' (Parliament of Planet) के नाम से संबोधित किया है। इस पृथ्वी शिखर सम्मेलन (1992) में 27 सिद्धान्त स्वीकार किए गए। इन सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण कानून की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। रिओ सम्मेलन में कार्यक्रम—21 (Agenda—21) तथा वायुमण्डल में बढ़ते हुए तापमान के संबंध में भी तभी राष्ट्रों में सहमति हो गई। परन्तु जैविक विविधता के संरक्षण तथा वनों की सुरक्षा से संबंधित दस्तावेजों के संबंध में विकसित तथा विकासशील राष्ट्रों के मध्य मतभेद के कारण गतिरोध विद्यमान था। इस शिखर सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसमें पारित सिद्धान्तों एवं नियमों के आधार पर पर्यावरण की सुरक्षा और विकास हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों एवं राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण किया जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा पर्यावरण से संबंधित विवादों का निर्णय करने के लिए एक सात सदस्यीय 'विशेष न्यायाधीश कक्ष' गठित करने का निर्णय भी एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

संक्षेप में, अन्तरर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी एवं गैर—सरकारी प्रयासों के कारण पर्यावरण संबंधित विधियों का निर्माण निरन्तर जारी है। पर्यावरणीय विधियों अभी अपने शैशव काल में हैं। इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण होना अभी बाकी है।

**अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की चुनौती** (Challenge of International Terrorism)—

अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तरों पर आतंकवाद मानव जाति के सम्मुख एक भयंकर चुनौती है। आतंकवादी गतिविधियों में साधारण नागरिक से लेकर शासनाध्यक्षों, राष्ट्राध्यक्षों तथा अति विशिष्ट व्यक्तियों को मारना, वायुयानों का अपहरण करना, बम विस्फोट करना, जहरीली गैस का प्रयोग करना, राजदूतों की हत्या करना, दूतावास पर कब्जा करना, विदेशी यात्रियों का अपहरण करना तथा माँगें पूरी न होने पर उन्हें मार देना, अबोध बच्चों एवं बच्चियों का अपहरण, बलात्कार करना और उन्हें मार देना, शान्ति प्रयासों को असफल करना, सैनिक एवं गैर—सैनिक दस्तों पर घात लगाकर आक्रमण करना, सीमा—पार से छाया युद्ध (Cross— Border Proxy War) इत्यादि मुख्य हैं।

विश्व में असंख्य संगठन आतंकवादी गतिविधियों में संकल्पित हैं। इन संगठनों जापान की रेड आर्मी, श्रीलंका का लिट्टे संगठन, फिलिस्तीन का हमस संगठन, भारत के सिक्ख उग्रवादी संगठन, मुस्लिम आतंकवादी संगठन, अफगानिस्तान में तालिबान, मुस्लिम राज्यों में आतंकवादी संगठन इत्यादि मुख्य हैं। 11 सितम्बर, 2001 को अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर (World Trade Centre) तथा 13 दिसम्बर, 2001 को भारतीय संसद पर आतंकवादी हमलों ने विश्व जनमत को इनके विरुद्ध लामबंद किया। आतंकवाद को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर अनेक प्रयास किए गये हैं। इन प्रयासों में द्वि—पक्षीय प्रत्यर्पण संधियाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ, दिसम्बर, 1999 तक भारत की 11 राष्ट्रों बेल्जियम, स्विट्जरलैंड, भूटान, कनाडा, हाँगकाँग, नेपाल, नीदरलैण्ड्स, रूस, संयुक्त अरब अमीरात (UAE), ब्रिटेन तथा संयुक्त पराम अमेरिका के साथ द्विपक्षीय प्रत्यार्पण संधियों ीं। प्रत्यार्पण संधियों के अतिरिक्त आतंकवाद को रोकने के लिए अनेक अभिसमय भी पारित किए गए हैं। इनमें टोकिया अभिसमय (1963), हेग अभिसमय (1970), पति द्वयल अभिसमय (1971), महासभा द्वारा पारित "राजनयिक प्रतिनिधियों सहित अन्तर्राष्ट्रीय रूप से संक्षिप्न व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध का निवारण तथा दण्ड अभिसमय" (14 दिसम्बर, 1973), "बन्धक बनाने के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय" (17 दिसम्बर, 1979) तथा "संयुक्त राष्ट्र तथा सहायता कर्मचारियों के बचाव एवं सुरक्षा को सुनिश्चित करने संबंधित अभिसमय" (9 दिसम्बर, 1994) इत्यादि मुख्य हैं। अतः इत प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद को रोकने के लिए निरन्तर प्रयास जारी हैं, परन्तु इसके बावजूद आतंकवाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर एक भयंकर चुनौती है।

**निष्कर्ष (Conclusion)** — उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक गतिशील एवं जैविक विधि है। अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के सम्मुख उत्पन्न होने वाली चुनौतियों तथा नवीन परिस्थितियों के कारण पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ अनुपयुक्त हो जाती हैं। परन्तु नवीन चुनौतियों एवं परिस्थितियों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनेक अभूतपूर्व परिवर्तन भी हुए हैं।

## राज्य का क्षेत्र (State Territory)

प्रश्न 1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राज्य क्षेत्राधिकार के आधारों की विवेचना करें। (Discuss in detail the bases of state Jurisdiction in International Law.)

अथवा

राज्य क्षेत्र की अवधारणा का वर्णन करें। प्रादेशिक अखण्डता के अपवाद बताइए। (Explain the Concept of State Territory. Describe the exceptions of Ex— clusiveness of Territory.)

अथवा

सिन्धु नदी जल विवाद सन्धि की विवेचना करें। (Explain Indus water Dispute Treaty.)

अथवा

प्रदेश की परिभाषा दीजिए तथा इसकी नदियों के बारे में वर्णन करें। (Define state territory and discuss aboutits rivers.)

अथवा

राज्य समुद्री क्षेत्र अवा सामुद्रिक पेटी से क्या अभिप्राय है? विस्तार से व्याख्या करें। (What is meant by Territorial Sea or Maritime Belt? Explain in detail.)

अथवा

राज्य क्षेत्रीय समुद्र जल पर राज्यों के अधिकारों का वर्णन करें। (Describe the Rights of states over Territorial Water.)

अथवा

वायुमण्डल के सम्बन्ध में विभिन्न अभिसमयों का वर्णन करें। (Describe the various conventions regarding Airspace.)

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)—राज्य के चार मूल तत्त्व हैं; यथा जनसंख्या, निश्चित प्रदेश, संगठित सरकार तथा आन्तरिक और बाह्य प्रभुसत्ता।

राज्य के इन चार मूल तत्त्वों में से एक निश्चित प्रदेश भी है जिसके बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य के प्रदेश को उसकी प्रादेशिक सम्पत्ति भी कहा जाता है। किसी भी राज्य के प्रदेश में उसकी भूमि, जलक्षेत्र तथा वायुक्षेत्र को शामिल किया जाता है। प्रत्येक राज्य निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत औपचारिक रूप से भूमण्डल के निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत स्थापित होता है।

प्रत्येक राज्य के प्रदेश में प्रमुख भाग भूमि का होता है। भूमि के ऊपर का वायु क्षेत्र भी राज्य के प्रदेश का भाग होता है। समुद्र तटवर्ती राज्यों का तट से समुद्र की दिशा में कुछ दूरी तक के जलक्षेत्र, उस जलक्षेत्र के ऊपर वायु के क्षेत्र तथा उसकी तलहटी पर भी प्रभुत्व है। संक्षेप में राज्य के प्रदेश को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

1. भूमि प्रदेश (Land Area)

2. जल क्षेत्र (Water Area)

3. वायु क्षेत्र (Space Area)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक निश्चित प्रदेश पर राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता को मान्यता देता है। जिस क्षेत्र पर राज्य का अनन्य नियन्त्रण होता है उसे ही राज्य का क्षेत्र कहा जाता है। यद्यपि राज्य अपने क्षेत्र पर सर्वोच्च अधिकार रखता है परन्तु उसे अपने इस अधिकार का प्रयोग इस विधि से करना चाहिए जिससे अन्य राज्यों को किसी तरह की हानि न हो। अधिकार का प्रयोग सद्भाव में, अन्तरर्राष्ट्रीय बाध्यता और साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन में किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा व्यवस्था दी गई थी कि प्रत्येक राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने क्षेत्र को प्रयोग करने की अनुमति न दे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को हानि पहुंचे।)

### राज्य क्षेत्र की अवधारणा (Conception of State Territory)

यह भू—भाग जिस पर किसी राज्य का अधिकार होता है अर्थात् जिस क्षेत्र पर राज्य को प्रभुत्व सम्पन्नता प्राप्त होती है वह राज्य का क्षेत्र कहलाता है। राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत न केवल भू—भाग ही आता है वरन् उत्तके क्षेत्र में पड़ने वाला सागर, नदियां और ऊपर वायु का क्षेत्र तथा पृथ्वी के ऊपर एवं अन्दर के समस्त पदार्थ भी आते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राज्य के क्षेत्र में शामिल व्यक्तियों तथा प्राकृतिक सम्पदा पर केवल मात्र उसी राज्य की प्रभुसत्ता हो सकती है जिसके सीमा क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत वह विद्यमान है। इस अधिकार वाले भू—भाग (प्रदेश) में सम्बद्ध राज्य अपने कानून लागू करता

है।

विभिन्न विद्वानों ने इस विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। उनके विचारों के अध्ययन से राज्य प्रदेश के सम्बन्ध में अवधारणा और भी स्पष्ट हो जाती है—

**ओपेनहीम के शब्दों में,** "जिस क्षेत्र पर राज्य की प्रभुसत्ता लागू होती है उस भाग को राज्य का क्षेत्र कहा जाता है।

**स्वालीयन के अनुसार**, "एक राज्य के प्रदेश में उसकी सीमाओं तथा क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत समस्त भूमि तथा जल की सतह, इस तह के नीचे समस्त भूमि और जल तथा इसके ऊपर स्थित समस्त वायु आती है।"

**प्रादेशिक अखण्डता के अपवाद (Exceptions of Exclusiveness of Territory)**

सिद्धान्त में एक ही प्रदेश में दो अथवा दो से अधिक पूर्ण सम्प्रभु राज्य असंभव होते हैं फिर भी व्यवहार में सम्प्रभुता का विभाजन किया जा सकता है। प्रभुसत्ता की अखण्डता अथवा अविभाज्यता के कुछ वास्तविक अथवा अवास्तविक अपवाद भी हैं।

प्रो. ओपेनहीम ने इन अपवादों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

1. राज्य की प्रादेशिक अखण्डता का प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण अपवाद सहराज्यों (Condominium) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक भूमि का प्रदेश अपनी धरती तथा जल सहित दो अथवा दो से अधिक राज्यों के संयुक्त स्वामित्व में रहता है। ये राज्य इस प्रदेश और इसमें रहने वाले व्यक्तियों पर संयुक्त रूप से सम्प्रभुता का प्रयोग करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएंगे। 1919 की शान्ति सन्धियों ने मित्र राष्ट्रों तथा सहयोगी राष्ट्रों को ऐसे प्रदेश सौंपे जिनका प्रवन्ध उन्होंने संयुक्त रूप से किया।

2. दूसरा अपवाद यह है कि जो राज्य वास्तव में सम्प्रभुता का प्रयोग करता है उसके पास यह कानूनी रूप से नहीं रहता है। कानून उस प्रदेश की सम्प्रभुता अन्य कहीं निहित रखता है। स्वामी राज्य की अनुमति से कभी—कभी एक विदेशी राज्य सत्ता उसके किसी भाग का प्रशासन करने लगती है। उदाहरण के लिए 1878 से 1908 तक बोसनिया और हर्जेगोविना के टर्की के प्रान्त आस्ट्रिया—हंगरी के प्रशासन में रहे।

3. तीसरा अपवाद विदेशी सत्ता को पट्टे पर दिए गए प्रदेश को माना जा सकता है। 1898 में चीन ने. अपने विभिन्न प्रदेश जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस को पट्टे पर दे दिए। इस प्रकार पट्टे पर दिए गए प्रदेशों के सम्बन्ध में स्वामी राज्य को अनेक रियायतें प्रदान की जाती हैं। यथार्य में ये प्रदेश पट्टाधारी राज्य की सम्पत्ति बन जाते हैं।

4. प्रादेशिक अखण्डता का अन्य अपवाद यह है कि स्वामी राज्य अपने प्रदेश के एक भाग को दूसरे राज्य को सौंप देता है अथवा इसके सम्बन्ध में वह किसी सम्प्रभु अधिकार का प्रयोग नहीं करता है। सन् 1903 में पनामा गणराज्य ने 10 मील की चौड़ी पट्टी का प्रदेश अमेरिका को सौंप दिया जिससे वह पनामा नहर की रचना, प्रशासन तथा रक्षा कर सके।

5. प्रादेशिक अखण्डता का एक और अपवाद संघ राज्य को माना जा सकता है। संघ अपने आप को एक राज्य मानता है किन्तु तथ्य रूप में उसकी विभिन्न इकाइयां सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करती हैं। सम्प्रभुता संघ राज्य एवं उसके सदस्यों के बीच विभाजित हो जाती है।

6. मण्डेट प्रदेश अथवा न्यास प्रदेश उस राज्य के भाग नहीं होते जो उन पर सम्प्रभुता का प्रयोग करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार कुछ राज्यों द्वारा संयुक्त न्यास की संभावना का उल्लेख भी किया गया है।

राज्य क्षेत्र में भू—राज्य क्षेत्र, राष्ट्रीय जल, राज्य क्षेत्रीय समुद्र, राज्य क्षेत्र के ऊपर वायुमण्डल तथा पृथ्वी के नीचे उप—भूमि शामिल रहती है। इन विभिन्न पहलुओं की विस्तार से चर्चा निम्नलिखित है—

**1. भू—राज्य क्षेत्र (Land Territory)**—राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत भूमि उस राज्य का राज्य क्षेत्र होता है। सीमा पृथ्वी की तह पर वह रेखा है जो एक राज्य के राज्य क्षेत्र को दूसरे राज्य के राज्य क्षेत्र से अलग करती है। सीमाएं दो तरह की होती हैं—

(i) प्राकृतिक सीमाएं (Natural Boundries)

(ii) कृत्रिम सीमाएं (Artificial Boundaries)

एक राज्य की प्राकृतिक सीमाएं नदियों, पर्वतों, समुद्र तटों, झीलों तथा मरूस्थल आदि प्राकृतिक साधन निर्धारित करती हैं। भारत की प्रादेशिक सीमाओं के निर्धारण में हिमालय पर्वत, हिन्दुकुश पर्वत उसका उत्तर—पश्चिमी सीमान्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। काल्पनिक तथा कृत्रिम सीमाएं मानव द्वारा निर्मित की जाती हैं। इनमें दीवारों, कांटेदार तारों, बिजली की तारों, स्तम्भों, डण्डों आदि को शामिल किया जाता है। राज्यों की सीमाओं का निर्धारण करने में अक्षांश रेखा का भी योगदान रहता है।

अमेरिका तथा कनाडा की सीमा 19वीं उत्तरी अक्षांश रेखा है। इतिहास इस बात के प्रमाण से भरा हुआ है कि राज्यों में विवाद का मुख्य स्रोत सीमा होती है। सीमाएं सदैव निश्चित होनी चाहिएं। यदि सीमाओं का निपटारा सन्धि द्वारा अथवा अधिकरणों के पंचाट द्वारा कर दिया जाता है तो सामान्य रूप में इस तथ्य की दृष्टि में इसमें व्यवधान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सीमा सन्धि सार्वभौमिक अधिकार (Right in rem) का निर्माण करती है। सीमाएं राज्यों द्वारा स्वयं निश्चित कर ली जाती हैं यदि सम्बन्धित राज्य ऐसा निर्णय करने में सफल न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं। इराक तथा कुवैत की सीमाओं का निर्धारण सुरक्षा परिषद् द्वारा 1993 में गठित इराक—कुवैत सीमांकन आयोग द्वारा किया गया था। इसी तरह भारत—पाकिस्तान सीमाओं का निर्धारण एक अंग्रेज अधिकारी रैडक्लिफ द्वारा किया गया था।

**भूमि सीमाओं का निर्धारण** (Determination of Land Boundries)

जिस प्रकार किसी नागरिक की घरेलू वास्तविक सम्पत्ति निर्धारित की जाती है उसी प्रकार निश्चित सीमा रेखाओं द्वारा एक राज्य के क्षेत्राधिकार में आने वाला प्रदेश निर्धारित होता है। भूमि से सम्बन्धित अधिकांश सीमाएं अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों अथवा शान्ति सन्धियों द्वारा की जातीं हैं। वैस्टफेलिया की सन्धि 1648, वियना कांग्रेस 1815, शान्ति सन्धियां 1919, 1947 आदि ने यूरोपीय राज्यों की सीमाओं का समग्र रूप से निर्धारण किया। व्यक्तिगत समझौतों द्वारा राज्यों की विवादपूर्ण सीमा रेखाओं का निर्धारण किया जाता है। भूमि सीमाओं का निर्धारण करने के लिए प्रमुख नियम प्रचलित हैं—

**1. ग्रोशियस वादी सिद्धान्त (Grotius Rule)**— ग्रोशियस वादी नियम के अनुसार नदी में सीमा का निर्धारण उसकी मध्य रेखा पर किया जाना चाहिए। यह नियम नौ—चालन योग्य झरनों के सम्बन्ध में अनेक अप्रत्याशित समस्याएं पैदा करता है। जल की गहराई सदेव नदी की बीच धारा में नहीं होती, इसलिए किसी भी जलपोत को उसमें से होकर गुजरते समय भिन्न—भिन्न राज्यों के प्रदेश में आना पड़ेगा।

**2. थालवेग का नियम** (Thalweg Rule)—ग्रोशियस वादी नियम में चुंगी कर की समस्याएं आती हैं। कर संग्रह का कार्य कठिन बन जाता है तथा सम्प्रभु राज्य की इच्छा के विरुद्ध प्रवेश के अवसर पैदा हो जाते हैं। इनसे बचने के लिए 19वीं सदी में यह नियम बदला गया और अब नौ—चालन योग्य नदियों की सीमा उस मुख्य धारा के मध्य में मानी जाने लगी। जो सबसे अधिक गहरी होती है तथा तकनीकी रूप से जिसे थाल येग कहा जाता है।

थालवेग का नियम विभिन्न राज्यों द्वारा नदियों की सीमाओं के निर्धारण हेतु अपनाया जाता है। एक राज्य के राजनीतिक उपखण्डों के बीच सम्भवतः घरेलू विवादों की स्थिति में भी लागू किया जाने लगा है।

**3. सेतु सीमा के मध्य का सिद्धान्त** (Principle of middle of a Bridge Boundry)—थालवेग सिद्धान्त ने यद्यपि मुख्य धारा के सम्बन्ध में परिवर्तन किया है, किन्तु इसके परिणामस्वरूप सेतुओं के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं आया। अभी भी पुल की मध्य रेखा को दो राज्यों के बीच की सीमान्त रेखा माना जाता है। नदी नी—चालन योग्य मुख्य धारा का स्थान कहीं भी हो सकता है। इस सिद्धान्त के पीछे मूल विचार यह रहा है कि एक पुल को बनाने में जो लागत आई है वह सम्बन्धित राज्यों के

बीच बराबर बाँट दी जाए।

### राज्य के प्रदेश के विभिन्न भाग (Different Parts of State Territory)

1. प्रदेश के वास्तविक भाग (Real Parts of the Territory)—प्रदेश के वास्तविक भागों में भूमि तथा जल का नाम लिया जा सकता है। सीमा में तटवर्ती राज्य की भूमि की सीमाओं से संलग्न जल को भी लिया जा सकता है। सीमावर्ती जल दो प्रकार का होता है—राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक। राष्ट्रीय जल में एक राज्य के प्रदेश की झीलें, नहरें, नदियों, खाड़ियाँ आदि आते हैं।

प्रादेशिक जल में उस जल को शामिल किया जाता है जो एक विशेष क्षेत्र अथवा पट्टी में रहता है। इसे समुद्री अथवा सीमान्त पट्टी कहा जाता है। इसमें राज्य की खाड़ियों तथा दर्द के जल का भी कुछ भाग रहता है। प्रादेशिक जल में अन्य राज्य भी अपने जहाजों के निकलने का दावा कर सकते हैं जब कि राष्ट्रीय जल में इस प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता।

2. प्रदेश के प्रकल्पनात्मक भाग (Fictional Parts of the Territory)— महासमुद्रों तथा विदेशी प्राकृतिक समुद्रों में युद्धपोत अथवा दूसरे सार्वजनिक जलपोत अपने राज्य के तैरते हुए भाग माने जाते हैं। महासमुद्रों में व्यापारियों के जहाज भी कुछ दृष्टियों से ध्वजा वाले राज्य के तैरते हुए भाग माने जाते हैं। विदेशों में स्थित एक राज्य के दूतावास उसके प्रदेश के भाग हैं।

3. प्रादेशिक अवभूमि (Territorial Subsoil)—प्रादेशिक भूमि के नीचे स्थित अवभूमि (Subsoil) और जल को तार, टेलीफोन जैसे कार्यों के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। बड़ी—बड़ी खानें राज्य की अवभूमि में स्थित होती हैं। यह प्रदेश का कोई विशेष भाग नहीं होता फिर भी अनेक बार इस पर जोर दिया जाता है।

4. भू—भाग वायुमण्डल (Territorial Atmosphere)— अवभूमि की भान्ति—भू—भागीय वायुमण्डल भी राज्य का एक विशेष भाग नहीं होता किन्तु इसका महत्त्व आजकल अधिक बढ़ गया है। राज्य के प्रदेश के विभिन्न भागों का अध्ययन करने के पश्चात् अब अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रकार के प्रदेशों पर विचार करने का प्रयास करेंगे।

### राष्ट्रीय जल (National Waters)

राष्ट्रीय जल को कभी—कभी आन्तरिक जल भी कहा जाता है। यह नदियों, नहरों, झीलों, उपसागरों तथा खाड़ियों को मिला कर बनता है।

**A. नदियों (Rivers)**—नदियों को चार वगों में विभाजित किया जाता है—

1. **पहली वे नदियां** हैं जो एक ही राज्य में उसकी सीमाओं के अन्तर्गत पूर्णतथा अर्थात् उद्गमस्थल से मुहाने तक (Source to Mouth) बहती हैं। ऐसी नदियां केवल उसी राज्य से सम्बन्धित होती हैं तथा कोई अन्य राज्य उसमें नौ परिवहन का अधिकारी नहीं होता।

2. **दूसरी वे नदियां** हैं जो भिन्न दो राज्यों को एक—दूसरे से अलग करती हैं तथा दोनों राज्यों की सीमाओं का निर्माण करती हैं।

3. **तीसरी** प्रकार की वे नदियों हैं जो कई राज्यों से होकर गुजरती हैं। ऐसी नदियों को अनेक राष्ट्रीय नदियां अथवा बहु—राष्ट्रीय नदियां भी कहा जाता है। इन पर एक से अधिक राज्यों का स्वामित्व होता है। प्रत्येक

राज्य उस नदी का स्वामी होता है जो उसके राज्य में से होकर गुजरती है।

4. **चौथी** प्रकार की वे नदियां होती हैं जो खुले समुद्र से नौ—गमीय (Navigable) होती हैं तथा उसी समय अपने उद्गम स्थल अपने मुहाने के बीच या तो कई राज्यों को पृथक् करती हैं अथवा कई राज्यों से होकर बहती हैं। यद्यपि इन नदियों का सम्बन्ध अन्य राज्यों से होता है परन्तु इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नदियां माना जाता है। क्योंकि शान्ति के समय ये सभी राज्यों के नीचालन के लिए खुली रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम है कि कोई भी राज्य नदी के प्राकृतिक प्रवाह को परिवर्तित नहीं कर सकता जो अन्य राज्यों के लिए हानिकर हो सकता है।

ओपेनहीम के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय नदी के प्रवाह को परिवर्तित करना तटवर्ती राज्यों में किसी की मनमानी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह नियम है कि कोई राज्य अपने राज्य क्षेत्र की प्राकृतिक स्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकता। यदि यह परिवर्तन पड़ोसी राज्य के राज्य क्षेत्र की प्राकृतिक स्थिति के लिए हानिकर है।" नदियों से सम्बन्धित विवादों का निपटारा तटवर्ती राज्यों द्वारा सन्धि का निर्माण करके किया जाता है।

सारांश में यह **निष्कर्ष** निकलता है कि राष्ट्रीय नदियों के बारे में सम्बन्धित राज्य को पूरा—पूरा अधिकार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय नदियों पर तटवर्ती राज्यों को स्वेच्छाचारी अधिकार प्राप्त नहीं होता। कानून का यह नियम है कि कोई भी राज्य अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों को इस प्रकार नहीं बदल सकता जिससे अन्य राज्यों को हानि उठानी पड़े। यह नियम नदियों के प्रवाह पर भी लागू होता है। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 1937 से समान बंटवारे का सिद्धान्त लागू किया है।

**सिन्धु नदी जल विवाद सन्धि** (Indus Water Dispute Treaty) 1947 में भारत का विभाजन हुआ। विभाजन के कारण जहां भूमि—क्षेत्र के विवाद हुए वहां जल विवाद होना भी स्वाभाविक है। जल विवाद में सिन्धु नदी विवाद बहुत महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। सिन्धु नदी विभाजन से पूर्व पंजाब की पांच सहायक नदियों—रावी, व्यास, सतलुज, चिनाव तथा झेलम के साथ मिलकर विश्व की एक महान नदी पद्धति तथा सिन्धु नदी के मैदान का निर्माण करती है। इन नहरों से लगभग तीन करोड़ वर्गमील भूमि की सिंचाई होती है।

देश विभाजन के कारण सिन्धु मैदान तथा नहर पद्धति दो भागों में बंट गई, जिसके कारण दोनों राज्यों में विवाद आरम्भ हो गया। यह विवाद दोनों राज्यों के बीच न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय विवाद बन गया।

सन् 1951 में निर्माण तथा विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstruc— tion and Development) के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक ने भारत तथा पाकिस्तान को इस समस्या के समाधान के लिए बैंक से आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया। समस्या के समाधान के लिए जनरल हीलर ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव रखा—

1. रावी, व्यास तथा सतलुज नदियों का पानी भारत द्वारा उपयोग किया जाएगा।

2. सिन्धु, झेलम तथा चिनाव नदियों का पानी पाकिस्तान द्वारा प्रयोग में लाया जायेगा।

3. पाकिस्तान अपनी पश्चिमी नदियों से नई नहरें निकाल कर सिंचाई करेगा।

4. भारत नई नदियों के निर्माण पर होने वाले व्यय का भुगतान पाकिस्तान को करेगा।

आरम्भ में दोनों देशों ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण दोनों देशों के बीच अगस्त, 1959 में एक सन्धि हुई। सन्धि को दोनों देशों ने स्वीकार किया कि—

1. जब तक पाकिस्तान नई नहरों का निर्माण नहीं कर लेता तब तक भारत पाकिस्तान को निर्धारित मात्रा में पानी देगा।

2. नहर निर्माण का कार्य अधिक से अधिक दस वर्षों तक चलेगा। परन्तु विशेष परिस्थितियों में तीन वर्ष तक कार्यकाल बढ़ाया जा सकता है।

3. यदि पाकिस्तान 10 वर्षों के अन्दर निर्माण कार्य पूरा नहीं करता तो उसके पश्चात् भारत अपने पानी का पूरा प्रयोग करेगा।

4. भारत पाकिस्तान को निर्माण कार्य के लिए 17 करोड़ 40 लाख डॉलर 10 समान किस्तों में देगा।

5. यदि पाकिस्तान निश्चित अवधि में कार्य पूरा करने में सफल नहीं होता तो भारत 5%, 10% तथा 16% के हिसाब से पानी कम करता चला जायेगा।

6. पाकिस्तान अपनी तीन नदियों के पानी का प्रयोग करेगा। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान रावी, व्यास तथा सतलुज नदियों के

पानी का प्रयोग विद्युत उत्पादन करने के कार्य में कर सकेगा। इसके साथ वह 88 लाख 50 हजार एकड़ फुट पानी का संग्रह विभिन्न कार्यों के लिए करेगा।

7. अनुमान के अनुसार नहरों के निर्माण तथा अन्य आवश्यक कार्यों पर 90 करोड़ डॉलर व्यय होंगे। इस राशि में 64 करोड़ डॉलर अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड वहन करेंगे। भारत 17 करोड़ 40 लाख तथा पाकिस्तान 8 करोड़ विश्व बैंक से ऋण ले कर देगा।

9. दोनों देशों की सरकारों द्वारा दो सदस्यीय आयोग की नियुक्ति की जाएगी, जो सन्धि की व्यवस्थापक क्रियाओं पर नियन्त्रण रखेगा।

10. सन्धि विषयक विवादों का समाधान करने में यदि आयोग सफल नहीं होता तो एक तटस्थ विशेषज्ञ एवं न्यायालय की नियुक्ति की जाएगी।

### 2. B नहरें (Canals)

नहरें कृत्रिम रूप से बनाई जाती हैं और ऐसी दशा में उस देश का भाग है जिनके क्षेत्र में वे स्थित हैं। नहरों को कभी—कभी तटस्थ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया जाता है, जबकि सामुद्रिक शक्तियां उन जल भागों के भीतर सामुद्रिक शत्रुता न करने के लिए सहमत हो जाते हैं। स्वेज, कील, पनामा, दार्दने लीज, बोसर्फीम ऐसी नदियों के उदाहरण हैं जिनको समय—समय पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्रदान किया गया।

स्वेज नहर (Suez Canal) स्वेज नहर भूमध्य सागर तथा लाल सागर को आपस में मिलाती है। यह नहर संयुक्त अरब गणराज्य के प्रदेश में है। इसका प्रशासन एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी के हाथ में था तथा इस कम्पनी में ब्रिटिश सरकार प्रमुख भागीदार थी। स्वेज नहर के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का अन्दाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि काला सागर से केप ऑफ गुड होप होकर भारत तक 11,000 मील लम्बर रास्ता स्वेज नहर में से होकर आने पर 6,000 मील रह जाता है। ब्रिटिश सरकार अपने पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए इस नहर को बहुत महत्त्व देती थी। आरंभ में इस नहर की सुरक्षा का भार मिस्र तथा टर्की पर था। 1919 की सन्धि के अन्तर्गत टर्की का स्थान ग्रेट ब्रिटेन ने ग्रहण कर लिया। मिस्र 1914 में ब्रिटिश संरक्षण में आ गया था और 1922 में स्वतन्त्र होने पर भी नहर की सुरक्षा का भार ब्रिटेन पर बना रहा। 1936 की एंग्लो—मिस्र सन्धि के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई—

1. स्वेज नहर मिस्र का अभिन्न अंग है।

2. ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों के मध्य संचार का मुख्य तथा आवश्यक साधन है। 3. स्वेज नहर की सुरक्षा का भार संयुक्त रूप से ब्रिटेन तथा मिस्र की सेनाओं का होगा। 1954 के एक समझौते के अन्तर्गत ब्रिटिश सेनाएं स्वेज क्षेत्र से हटा ली गई, परन्तु कुछ परिस्थितियों में मिस्र उसे अधिक सुविधाएं प्रदान करेगा।

1955 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया तथा 1954 के समझौते को निरस्त करने की घोषणा की। स्वेज नहर के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के पश्चात् भी इसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। यह स्थिति सर्वप्रथम 1968 की कॉन्सटेण्टिनोपल कन्वेंशन द्वारा निश्चित की गई थी।

इसकी मूल व्यवस्थाएं इस प्रकार थी—

(i) यह नहर युद्ध तथा शान्ति काल में सब राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों तथा युद्धपोतों के लिए बराबर खुली रहेगी। इसकी नाकेबन्दी नहीं की जाएगी।

(ii) युद्धकाल में नहर के अन्दर तथा इसकी बन्दरगाहों से तीन मील तक कोई युद्धकारी कार्य करने की अनुमति किसी को नहीं होगी।

(iii) युद्धरत राज्यों के युद्धपोतों को अविलम्ब नहर से गुजरना होगा तथा वे पोर्टसइद और स्वेज बन्दरगाहों में 24 घण्टे से अधिक नहीं ठहर सकेंगे।

(iv) नहर में युद्धपोत खड़े करने की अनुमति किसी को नहीं दी जायेगी।

अक्तूबर, 1956 में फ्रांस, इंग्लैंड तथा इजरायल ने मिलकर मिस्र पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ, अमेरिका तथा सोवियत संघ के दबाव के कारण यह आक्रमणात्मक कार्यवाही रोक दी गई। मिस्र ने सभी व्यवस्थाओं का पालन किया, परन्तु इजरायली जलपोतों तथा इजरायल को माल ले जाने वाले जहाजों को नहर से गुजरने पर प्रतिबन्ध लगाया। 1975 के समझौते से यह प्रतिबन्ध भी समाप्त कर दिया गया।

**पनामा नहर (Panama Canal)**—यह नहर पनामा गणराज्य से सम्बन्धित है। यह एटलाण्टिक तथा प्रशान्त सागर को आपस में मिलाती है। इसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ब्रिटेन तथा अमेरिका के बीच 1901 में हुई सन्धि द्वारा निर्धारित की गई। इस सन्धि के अनुसार पंनामा नहर सब राष्ट्रों के व्यापारी जहाजों तथा युद्धपोतों के लिए समान रूप से खुली रहेगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पनामा के मध्य 1903 में एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा नहर का नियन्त्रण अमेरिका के हाथ में आ गया। नहर के नियन्त्रण के बदले अमेरिका पनामा को एक करोड़ डॉलर की प्रारम्भिक नकदी अदायगी तथा नियत वार्षिकी प्राप्त करना था। कुछ समय के पश्चात् नहर दोनों राज्यों के मध्य विवाद का विषय बन गई। इस मामले पर 1973 में सुरक्षा परिषद् में विचार—विमर्श किया गया, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा निषेधाधिकार के मत के प्रयोग के कारण कोई संकल्प स्वीकार नहीं किया जा सका।

अन्त में 1977 में दोनों के मध्य एक सन्धि हुई, जिसके द्वारा नहर को स्थायी तटस्था की गारण्टी दी गई। सन्धि में यह प्रावधान किया गया था कि 2000 तक पनामा नहर तथा नहरक्षेत्र पर पनामा गणराज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जायेगा।

**कील नहर (Kiel Canal)**—यह नहर बाल्टिक तथा उत्तर सागर को जोड़ती है। कील नहर जर्मनी के चनाई थी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इसमें नौ—परिवहन एवं नियमन करने का जर्मनी को पूर्ण अधिकार था। वर्साय सन्धि 1919 ने इस नहर पर भी स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय नौ परिवहन का सिद्धान्त लागू करके यह व्यवस्या की कि कील नहर का स्वतन्त्रता पूर्वक और समान रूप से अपने व्यापारी जहाज तथा युद्धपोत भेजने के लिए वे सब राज्य प्रयोग कर सकेंगे जो जर्मनी से युद्धरत न हों। सन् 1923 में बिबिलडन के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि वर्साय सन्धि के फलस्वरूप कील नहर एक प्रादेशिक जल क्षेत्र नहीं रही है। इसमें अन्य देशों के नौ परिवहन पर जर्मनी रोक नहीं लगा सकता। हिटलर ने वर्साय सन्धि की कील नहर पर की गई घाराओं को खण्डित करने की घोषणा कर दी। सन्धिकर्ता राज्यों ने हिटलर की इस घोषणा का स्पष्ट रूप से विरोध नहीं किया। 16 जनवरी, 1937 को एक घोषणा के अनुसार जर्मनी ने यह जरूरी कर दिया कि प्रत्येक राज्य के जहाज

नहर में प्रवेश करने से पूर्व जर्मनी की अनुमति लें। 1939 में दूसरा युद्ध जारम्भ हो गया। दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सभी राष्ट्रों को समान रूप से नौ-चालन की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।

**(C) जलडमरूमध्य (Straits)**—सब जलडमरूमध्य जो 6 मील से चौड़े नहीं हैं, प्रादेशिक समुद्र के अन्तर्गत आहे हैं। परन्तु यदि यह चौड़ाई 6 मील से अधिक हो तो क्या नियम होगा। इस विषय में कुछ जलडमरूमध्य प्रादेशिक समुद्र माने गये हैं तथा कुछ का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया है जिनमें समस्त राष्ट्रों के जहाज गुजर सकते हैं। जिन जलडमरूमध्य द्वारा दो राज्यों के प्रदेशों को विभाजित किया जाता है वे दोनों राज्यों के प्रदेश का भाग होते हैं। यदि इस सम्बन्ध में कोई विवाद अथवा सन्देह होता है तो मध्य रेखा द्वारा उन्हें विभाजित कर दिया जाता है।

वर्तमान में जलडमरूमध्य से सम्बन्धित विधि को संयुक्त राष्ट्र संघ समुद्र विधि अभिसमय 1982 द्वारा संहिताबद्ध कर दिया है। अभिसमय में व्यवस्था की गई कि इस भाग में प्रतिपादित नौका चालन के लिए प्रयुक्त जलडमरूमध्य से यात्रा नियम (Regime of Passage) अन्य सम्बन्धों में ऐसे जलडमरूमध्य को गठित करने वाले जल की विधिक प्रस्थिति तथा जलडमरूमध्य के तटवर्ती राज्यों द्वारा ऐसे जल तथा उनके वायुमण्डल, तत्त (Bed) अथवा उपभूमि (Sub—soil) पर उनकी प्रभुत्व सम्पन्नता अथवा अधिकारिता के प्रयोग को प्रभावित नहीं करेगा। जलडमरूमध्य के तटवर्ती राज्यों की प्रभुत्व सम्पन्नता

अथवा अधिकारिता का प्रयोग इस भाग तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य नियमों के अधीन किया जाता है।

**खाड़ियां और अखात (Bays and Gulfs)**—खाड़ियों तथा अखातों के कारण राज्य की सीमा का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। ग्रेट ब्रिटेन की परंपरा तथा समुद्री लीग (Marine Lague) के नियमानुसार जिन खाड़ियों तथा अखातों का समुद्र से प्रदेश 6 मील से अधिक चौड़ा नहीं है, वे आन्तरिक अथवा क्षेत्रीय हैं। यदि यह आर—पार 6 मील से अधिक है तो दोनों ओर के 3—3 मील भाग क्षेत्रीय अधिकारी की सम्पत्ति होते हैं तथा बीच का जल मार्ग किसी राज्य की सम्पत्ति न होकर सभी के समान रूप से उपयोग के लिए होता है। छोटी तथा बड़ी खाड़ियों पर एंग्लोनार्वेजियन फिशरीज 1951 (Anglo—Norwegian Fisheries 1951) विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कुछ नवीन नियम निर्धारित किए। जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

1. जब कुछ छोटी एवं बड़ी खाड़ियों के जल को बहुत काल से तटवर्ती राज्य अपना आन्तरिक जल समझते हैं तथा अन्य राज्यों द्वारा इस अधिकार का समर्थन न हो तो यह बात अन्य राज्यों द्वारा मान्य समझी जानी चाहिए।

2. यदि ऐसी प्रथा न हो तो भी तटवर्ती राज्य आर्थिक आवश्यकता अथवा खाड़ी के साथ प्राचीन सम्बन्ध के आधार पर खाड़ी के जल को अपने क्षेत्रीय समुद्र में सम्मिलित करने का अधिकार रखता है।

3. तट की बनावट तथा कटाव के अनुसार क्षेत्रीय समुद्र को निर्धारित करने वाली आधार रेखाएं तट की सामान्य दिशा के अनुसार खींची जानी चाहिएं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने यह सुझाव दिया कि खाड़ी के केवल उसी भाग को क्षेत्रीय समझा जाना चाहिए जिसका मुहाना 15 मील से अधिक चौड़ा न हो। सन् 1960 के समुद्री कानून सम्मेलन में यह सीमा 34 मील कर दी गई।

**झीलों तथा भूमि से घिरे हुए समुद्र (Lakes and Land Locked Seas)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्त तथा व्यवहार में यह माना जाता है कि झीलें तथा एक ही राज्य से घिरे समुद्र सम्बन्धित राज्य के प्रदेश के भाग हैं। जो झीलें अथवा भूमि से घिरे समुद्र कुछ राज्यों के प्रदेश से लगे हुए हैं उनके सम्बन्ध में कोई एकरूपता नहीं मिलती। कुछ विचारक इन्हें महासमुद्रों की भान्ति सभी राज्यों के लिए खुला मानते हैं, जबकि अन्य के अनुसार ये सम्बन्धित राज्य के भाग हैं।

उदाहरण के लिए जेनेवा झील स्विट्जरलैंड तथा फ्रांस से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कान्स टेन्स झील जर्मनी, आस्ट्रिया तथा स्विट्जरलैंड से घिरी हुई है। इसी प्रकार की झीलों को अन्तर्राष्ट्रीय कहा जा सकता है, इसलिए इन पर अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के सिद्धान्तों को लागू किया जाना चाहिए। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में इस सिद्धान्त को मान्यता दी जाएगी तथा सभी अन्तर्राष्ट्रीय झीलों को सभी व्यापारिक जहाजों के लिये खोल दिया जायेगा।

**3. राज्य क्षेत्रीय समुद्र अथवा सामुद्रिक पेटी (Territorial Sea or Maritime Belt)**—समुद्र का वह भाग जिस पर तटवर्ती राज्य क्षेत्रीय सम्प्रभुता का प्रयोग करता है और जिसे उस राज्य के भू क्षेत्र का भाग माना जाता है, राज्य क्षेत्रीय समुद्र, सामुद्रिक पेटी, समुद्री क्षेत्र अथवा क्षेत्रीय समुद्र कहलाता है। क्षेत्रीय समुद्र प्रायः तीन मील तक विस्तृत माना जाता है। अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि समुद्री क्षेत्र को समुद्र के पानी के निचले निशान से सीधी रेखा में मापा जाना चाहिए। वर्तमान समय में प्रादेशिक समुद्री सीमा का निर्धारण एक जटिल प्रश्न बन गया है।

सन् 1966 तक भारत तीन मील के सिद्धान्त को स्वीकार करता रहा किन्तु 1967 में भारत ने अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा 12 मील तक बढ़ाने की घोषणा कर दी। अब प्रादेशिक समुद्र की सीमा 12 मील तक मानने का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला है। इस सीमा में निर्दोष यात्रा का अधिकार भी लगभग सभी देश स्वीकार करते हैं। लेकिन इस सीमा में जानबूझ कर वातावरण प्रदूषण के कार्य नहीं किए जा सकते। इसके साथ—साथ किसी देश की पनडुब्बियां तटवर्ती राज्य की अनुमति न होने की दशा में समुद्र के ऊपरी तल पर अपने देश के ध्वज के साथ ही यात्रा कर सकती हैं।

इस सिद्धान्त को 1818 की ऐंग्लो अमेरिकन फिशिंग सन्धि द्वारा भी स्वीकार किया गया। राज्य क्षेत्रीय समुद्र अथवा सामुद्रिक पेटी अथवा प्रादेशिक समुद्र को उस भाग के रूप में परिभाषित किया जाता है जो किसी राज्य के तट से संलग्न है तथा जिस पर तटवर्ती राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता होती है। अन्य सभी राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल नौ—चालन के लिए निर्दोष

यात्रा (Innocent Passage) के सामान्य अधिकार की अनुमति देता है। यह इस अर्थ में आन्तरिक जल से भिन्न है क्योंकि आन्तरिक जल राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत स्थित होता है तथा इनका प्रयोग स्वयं राज्यों द्वारा किया जाता है। आन्तरिक जल के सम्बन्ध में दूसरे राज्य को निर्देष यात्रा का अधिकार उपलब्ध नहीं रहता। यह खुले समुद्र से भी भिन्न है, जो सभी राज्यों को नौका चालन तथा वाणिज्य का अधिकार देता है। राज्य क्षेत्रीय समुद्र तथा संलग्न क्षेत्र जेनेवा अभिसमय 1958 (Geneva Convention on Territorial Sea and Contiguous Zone 1958) में अभिव्यक्त रूप से अनुच्छेद एक के अधीन "राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता इसके भू—राज्य क्षेत्र तथा इसके आन्तरिक जल के परे इसके तट से संलग्न समुद्र की पेटी तक विस्तृत है, जिसे राज्य क्षेत्रीय समुद्र कहा जाता है। इस प्रभुत्व सम्पन्नता का प्रयोग अभिसमय के अनुच्छेदों के प्रावधानों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य नियमों के अन्तर्गत किया जाता है।

सन् 1958 के जेनेवा सम्मेलन में प्रादेशिक समुद्र की सीमा अथवा चौड़ाई के बारे में कोई निर्णय नहीं लिया जा सका तथापि सम्मेलन में कुछ अन्य प्रश्नों पर एक समझौता तैयार किया गया। इस सम्मेलन की प्रमुख व्यवस्थाएं निम्न प्रकार की हैं— इस प्रादेशिक समुद्र का स्वरूप तथा लक्षण—समझीते की धारा एक तथा दो में कहा गया कि एक राज्य की प्रभुसत्ता उसके स्थलीय प्रदेश से परे उसके समुद्र के साथ लगी हुई समुद्री मेखला अथवा प्रादेशिक समुद्र के ऊपर के आकाश और इसके तल पर तथा अधोभूमि पर भी विस्तीर्ण होती है। धारा तीन में कहा गया कि प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई समुद्री तट के साथ निम्नतम जल सतह से नापी जाती है।

घारा 6 में कहा गया कि वे ही खाड़ियां किसी देश का आन्तरिक समुद्र मानी जाएंगी जिनका मुहाना 24 मील से अधिक चौड़ा न हो। जिन खाड़ियों का मुहाना 24 मील से अधिक चौड़ा होगा, उन खाड़ियों में राज्य का अधिकार केवल 24 भील की चौड़ाई तक स्वीकार किया जाएगा।

**2. निर्दोष गमन का अधिकार**—समझौते की धारा 14 में निर्दोष गमन अथवा निर्दोष मार्ग के अधिकार (Rights of Innocent Passage) के बारे में व्यवस्था की गई। जैसे कि डॉक्टर कपूर ने लिखा है कि "सभी राज्यों को किसी राज्य की सामुद्रिक पेटी में निर्दोष मार्ग का अधिकार प्राप्त है।" मार्ग से सामान्तथा तात्पर्य आन्तरिक पानी में बिना प्रवेश करे सामुद्रिक पेटी से गुजरना है तथा इसमें उक्त क्षेत्र में रुकना तथा लंगर डालना भी शामिल होता है।

मार्ग तब तक निर्दोष समझा जाता है जब तक कि वह सामुद्रिक पेटी वाले राज्य के हितों के विरुद्ध नहीं होता है। व्यापारिक तथा युद्धपोत दोनों को ही यह अधिकार प्राप्त होता है। अनुच्छेद 16 के अनुसार सामुद्रिक पेटी वाले राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि किसी पोत का मार्ग निर्दोष नहीं है तो वह आवश्यक कार्यवाही करे। आणविक हथियारों से लैस पोत के बारे में स्थिति स्पष्ट नहीं है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि भारतीय संसद द्वारा पारित सन् 1976 के अधिनियम में यह प्रावधान कि "युद्धपोतों के अतिरिक्त, सभी विदेशी जहाजों को सामुद्रिक पेटी से होकर गुजरने के लिए निर्दोष मार्ग प्राप्त होगा परन्तु मार्ग तभी तक निर्दोष समझा जायेगा जब तक कि वह शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के विरुद्ध न हो। विदेशी युद्धपोत सामुद्रिक पेटी में पूर्व सूचना देकर प्रवेश कर सकते हैं अथवा उससे गुजर सकते हैं। यदि शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो तो केन्द्रीय सरकार विज्ञप्ति द्वारा पूर्ण रूप से अथवा कुछ अपवादों के अधीन सभी अथवा किसी विशेष वर्ग के जहाजों के सामुद्रिक पेटी पर प्रवेश को निलम्बित कर सकता है।"

**3. संस्पर्शी क्षेत्र—**समझौते की धारा 24 के अनुसार महासमुद्रों के संस्पर्शी क्षेत्र (Contiguous Zone) की सीमा तट की आधार रेखा से 12 मील तक निश्चित की गई है। इस क्षेत्र में तटवर्ती राज्य को अधिकार है कि वह अपने प्रदेश एवं प्रादेशिक समुद्र में होने वाली चुंगी, वित्त, आवर्जन तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन को रोक कर उल्लंघनकर्ताओं को दण्ड दे सके।

जब तटवर्ती सागर यानि प्रादेशिक समुद्र की सीमा बढ़ाई जा रही हो तथा आर्थिक क्षेत्र के बाहर गहरे समुद्र के आर्थिक उपयोग के अधिकारों के बंटवारा करने की बात हो रही हो तो उन देशों की मांग को झुठलाया नहीं जा सकता जो संयोगवश समुद्र के किनारे नहीं हैं। दुनिया में 29 देश ऐसे हैं जिनके चारों ओर भूमि ही है, जो दूसरे देशों की सीमाओं से घिरे हैं। इन देशों की मांग

है कि समुद्र में हमें भी हिस्सा मिले।

उक्त स्थिति को पुनः समुद्र विधि अभिसमय 1983 के अनुच्छेद 2, परिच्छेद एक में उन्हीं शब्दों के साथ मान्यता दी गई है, जो अधिकथित करता है कि तटवर्ती राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता इसके भू राज्य—क्षेत्र तथा आन्तरिक जल के परे इसके तट से संलग्न समुद्र की पेटी तक विस्तरित है, जिसे राज्य क्षेत्र समुद्र कहा गया है।

राज्य क्षेत्रीय समुद्र की अवधारणा में दो पहलू महत्त्वपूर्ण हैं—

1. राज्य क्षेत्रीय समुद्र की चौड़ाई (Breadth of Territorial Sea)

2. उस पर राज्यों के अधिकार (Rights of States over Territorial Water) 23(1)

**राज्य क्षेत्रीय समुद्र की चौड़ाई** (Breadth of Territorial Sea)

तटवर्ती राज्य, राज्य क्षेत्रीय समुद्र पर प्रभुत्त्व सम्पन्नता का प्रयोग करते हैं परन्तु समुद्र की चौड़ाई को लेकर राज्यों के मध्य बहुत विवाद है। । परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है। विक्शौक ने 'गोले की मार' नियम का समर्थन किया गा। यद्यपि उन दिनों गोले की मार सीमित थी फिर श्री यह माना गया कि तोप के गोले की मार तीन मील तक ही जा सकती है, इसलिए क्षेत्रीय समुद्र की चौड़ाई तीन मील निर्धारित की गई थी।

जेनेवा में 1958 में आयोजित 'अन्तरर्राष्ट्रीय समुद्र विधि सम्मेलन' (International Conference on the Law of the Sea) भी राज्यों द्वारा अपनाए गए भिन्न—भिन्न मतों के कारण सीमा को विहित नहीं कर सका। बहुत से राज्यों का मत था कि यह 6 मील होना चाहिए। इस अनिश्चितता के कारण 1960 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने दूसरा जेनेवा सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में भी कोई निर्णय नहीं हो सका। राज्यों ने अपने—अपने हितों के अन्तर्गत अपने—अपने दावे पेश किए। 12 मील से लेकर 200 मील तक के दावे पेश किए गए। ऐसी स्थिति में 1952 के अधिनियम के अनुच्छेद 3 के अधीन यह प्रावधान करके विवाद का निपटारा कर दिया गया कि प्रत्येक राज्य की आधार रेखा से मापे गए 12 मील तक अपने राज्य—क्षेत्र समुद्र की चौड़ाई को स्थापित करने का अधिकार होगा। समुद्र विधि अधिनियम 1982 के अधीन प्रावधानित अधिकार राज्यों को राज्य क्षेत्रीय समुद्र की यह चौड़ाई स्वीकार्य है। भारत समेत 128 राज्यों ने 12 मील तक राज्य क्षेत्रीय समुद्र की अधिकतम चौड़ाई को विस्तृत करने के लिए अपने राज्यों में विधान बना लिये हैं।

राज्य क्षेत्रीय समुद्र की चौड़ाई मापने के लिए सामान्य आधार रेखा, तट के साथ निम्न जल रेखा है, जो तटवर्तीय राज्यों द्वारा प्रशासकीय रूप से मान्यता प्राप्त बड़े पैमाने पर चार्ट पर अंकित है।

पुनः उन मामलों में, जहां दो राज्यों के तट एक—दूसरे के विरुद्ध हैं अथवा एक—दूसरे के संलग्न हैं, दोनों राज्यों में कोई भी अपने मध्य किसी प्रतिकूल करार के अभाव में मध्य रेखा से आगे अपने—अपने राज्य क्षेत्रीय समुद्र को विस्तारित करने का हकदार नहीं है। जिसका प्रत्येक बिन्दु उस आधार रेखा पर नजदीकी बिन्दु से समान दूरी पर है, जिससे दोनों राज्यों के क्षेत्रीय समुद्र की चौड़ाई मापी जाती है।

**(2) राज्य क्षेत्रीय समुद्र जल पर राज्यों के अधिकार (Rights of States over Territorial Water)**

यद्यपि तटवर्ती राज्यों की राज्य क्षेत्रीय समुद्र पर प्रभुत्व सम्पन्नता रहती है, फिर भी अन्य राज्यों द्वारा कुछ अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है।

तटवर्ती राज्यों तथा अन्य राज्यों के अधिकार निम्नलिखित हैं—

**1. तटवर्ती राज्यों के अधिकार (**Rights of Coastal States)—जहां तक तटवर्ती राज्यों का प्रश्न है क्षेत्रीय समुद्र पर उनका नियन्त्रण होता है। निर्दोष यात्रा को छोड़कर समुद्र के इस भाग पर उनका पूर्ण अधिराज्य होता है। प्रभुत्व सम्पन्नता के अधिकार का अर्थ है कि तटवर्ती राज्यों को क्षेत्रीय समुद्र के प्राकृतिक उत्पादनों को मछली मारने के अधिकार समेत अर्जित

करने का अधिकार होता है। उन्हें समुद्र तल तथा समुद्र भूमि के संसाधनों जैसे—हाईड्रोकार्बन, कंकड़ तथा खनिज पदार्थों पर अनन्य अधिकार प्राप्त होता है। तटवर्ती राज्य विशेष रूप से यातायात तथा नौका चालन के सम्बन्ध में कानून बना सकते हैं जिसे निर्दोष यात्रा के अधिकार का प्रयोग करने वाले विदेशी जहाजों को अनुपालन करना चाहिए। नौका चालन के लिए नौका चालन सहायता तथा सुविधा एवं अन्य सुविधाओं अथवा संसाधनों की सुरक्षा के लिए, समुद्री तारों तथा नल—तन्त्रों (Pipe Lines) की सुरक्षा के लिए, समुद्र के जीवित संसाधनों के संरक्षण के लिए, तटवर्ती राज्य के पर्यावरण के रक्षण तथा उसके प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण के लिए राज्य क्षेत्रीय समुद्र के क्षेत्र में विधि तथा नियम बना सकते हैं। निर्दोष यात्रा के सम्बन्ध में विदेशी जहाजों से नियमों के पालन की आशा की जाती है। तटवर्ती राज्य ऐसी किसी भी यात्रा को रोकने का अधिकार रखते हैं, जो निर्दोष नहीं है तथा राज्य के हित में नहीं है। वे अपने राज्य क्षेत्रीय समुद्र के विनिर्दिष्ट क्षेत्र में निर्दोष यात्रा के जहाजों की यात्रा को अस्थायी रूप से रोक सकते हैं।

यदि कोई युद्ध—पोत राज्य क्षेत्रीय समुद्र से यात्रा के सम्बन्ध में तटवर्ती राज्य के नियमों तथा कानूनों का पालन नहीं करता अथवा अनुपालन के लिए किए गए अनुरोध का निरादर करता है तो तटवर्ती राज्य उसे तुरन्त राज्य—क्षेत्रीय समुद्र को छोड़ने का आदेश दे सकता है। परन्तु तटवर्ती राज्य विदेशी राज्यों पर ऐसी आवश्यकताओं को आरोपित नहीं कर सकता जिसका व्यवहारिक प्रभाव निर्दोष यात्रा के अधिकार से इनकार करने अथवा उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का हो।

**2. अन्य राज्यों के अधिकार (Rights of other States)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम के अनुसार राज्य—क्षेत्र समुद्र नौ—परिवहन के लिए सभी राज्यों के लिए खुला है। सभी राज्यों के व्यापारिक यानों को राज्य के राज्य—क्षेत्र समुद्र में निर्दोष यात्रा का अधिकार होता है। इस अधिकार के कारण कोई राज्य अपने राज्य क्षेत्रीय समुद्र से विदेशी जलवानों से केवल यात्रा के लिए कोई कर वसूल नहीं कर सकता। यद्यपि तटवर्ती राज्य अपने राज्य—क्षेत्रीय समुद्र के अन्तर्गत सुरक्षित नौ संचालन के लिए प्रकाश गृहों के निर्माण तथा रख—रखावों एवं अन्य सुविधाएं देने के लिए धन खर्च करता है, परन्तु इस आधार पर तटवर्ती राज्य ऐसे खचों के नाम पर विदेशी जलयानों से खर्च का भुगतान नहीं करवा सकता तथा न ही किसी राज्य के जलयानों की निर्दोष यात्रा को रोक सकता है।

शान्ति काल में तटवर्ती राज्य द्वारा निर्दोष यात्रा में बाधा डालने अथवा उसे निवारित करने का प्रयास करता है तो यह कानून विरुद्ध होगा, क्योंकि यह नियम राज्य क्षेत्रीय समुद्र तथा संलग्न क्षेत्र जेनेवा अभिसमय 1958 में शामिल किया गया था।

**3. निर्दोष यात्रा (Innocent Passage)**—डाक्टर कपूर के शब्दों में सभी राज्यों को किसी राज्य की सामुद्रिक पेटी में निर्दोष मार्ग का अधिकार प्राप्त है। सभी राज्यों के जलयानों को किसी राज्य के राज्य—क्षेत्रीय समुद्र में निर्दोष यात्रा का अधिकार है। यात्रा शब्द का अर्थ है—राज्य क्षेत्रीय समुद्र के माध्यम से खुले समुद्र से खुले समुद्र तक आवागमन। किसी अन्य प्रयोजन के लिए राज्य क्षेत्रीय समुद्र में प्रवेश यात्रा नहीं है। यद्यपि यह यात्रा अवैध नहीं है परन्तु ऐसी यात्रा पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

1982 का अभिसमय अनुच्छेद 18 परिच्छेद एक में निर्दोष यात्रा की व्याख्या की गई है। इस व्याख्या के अन्तर्गत यात्रा का तात्पर्य है—

1. आन्तरिक जल में प्रवेश किये बिना अथवा आन्तरिक जल के बाहर सड़क अथवा बन्दरगाह की सुविधा मांगे बिना उस समुद्र को पार करना।

2. आन्तरिक जल को अथवा उससे प्रस्थान करने या ऐसी सड़क अथवा बन्दरगाह की सुविधा मांगने का उद्देश्य राज्य क्षेत्रीय समुद्र में नौ परिवहन से है।

अनुच्छेद 18 का ही परिच्छेद 2 वर्णन करता है कि यात्रा निरन्तर यथाशीघ्र हो, लेकिन यात्रा रुकने तथा लंगर डालने को शामिल करती है किन्तु केवल वहां तक जहां तक वह सामान्य नौ परिवहन के लिए आवश्यक है। निर्दोष यात्रा के सम्बन्ध में 1982 के अभिसमय के अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत व्याख्या की गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार यात्रा तब तक निर्दोष होगी जब तक यह तटवर्ती राज्य की शान्ति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा के अनुकूल हो। ऐसी यात्रा इस अभिसमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य

नियमों के अनुरूप होगी।

संयुक्त राष्ट्र सामुद्रिक अभिसमय 1982 के अनुच्छेद 18 के अनुसार एक विदेशी जहाज का गमन उस समय तटवर्ती राज्य की शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा के प्रतिकूल कहा जायेगा जब कि वह अपने को निम्नलिखित कार्यों में संलग्न करे—

1. तटवर्ती राज्य की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध धमकी देना, बल प्रयोग करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का उल्लंघन करना।

2. किसी भी प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग करना।

3. किसी ऐसे कार्य में संलग्न होना जिसका उद्देश्य ऐसी सूचनाएं एकत्रित करना हो जो तटवर्ती राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध हो।

4. ऐसा प्रचार करना जिसके कारण तटवर्ती राज्य की सुरक्षा प्रभावित होती हो।

5. किसी वायुयान का उड्डयन भूमि पर उतारना तथा रोकना।

6. किसी सैनिक साधन का उतारना तथा रोकना।

7. कोई ऐसी वस्तु, करेंसी अथवा व्यक्ति को लाना जो तटवर्ती राज्य के नियमों के प्रतिकूल हो।

8. कोई ऐसा कार्य करना जो जल को प्रदूषित करे तथा वर्तमान अभिसमय के प्रतिकूल हो।

9. बिना अनुमति के मछली पकड़ना।

10. कोई शोघ तथा सर्वेक्षण करना।

11. ऐसा कार्य करना जो संचार की किसी प्रणाली पर व्यवधान डालने के लिए किया गया हो। 12. कोई ऐसा कार्य करना जो शान्तिपूर्ण आवागमन को बाधित करे।

1982 के अभिसमय के अनुच्छेद 25 में व्यवस्था की गई है कि तटवर्ती राज्य राज्यक्षेत्रीय समुद्र में ऐसी किसी भी यात्रा को रोकने का अधिकार रखता है जिसमें उसके हितों की अवहेलना की संभावना हो। तटवर्ती राज्य केवल निर्दोष यात्रा को अस्थायी रूप से निलम्बित कर सकता है। ऐसा निलम्बन केवल सम्यक् रूप से प्रकाशित किए जाने के पश्चात् ही प्रभावी होगा। तटवर्ती राज्यों की राज्य क्षेत्रीय समुद्र पर प्रभुत्व सम्पन्नता रहती है। उनका समुद्र के इस भाग पर पूर्ण अधिकार होता है। विदेशी राज्यों के जलयानों पर अधिकारिता के सम्बन्ध में 1982 का अभिसमय अनुच्छेद 27 के अधीन सविस्तार प्रावधान करता है कि तटवर्ती राज्य क्षेत्रीय समुद्र से गुजरने वाले जलयान पर किए गए किसी अपराध के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार नहीं है। परन्तु विशेष स्थिति में ऐसा किया जा सकता है। यह विशेष स्थिति है— अपराध का प्रभाव तटवर्ती राज्य पर पड़ता है। अपराध तटवर्ती राज्य की शान्ति को भंग करता है। क्षेत्रीय समुद्र की व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न करता है।

अपराध के विषय में स्थानीय अधिकारियों की सहायता का अनुरोध जहाज के स्वामी द्वारा अथवा ध्वज राज्य के राजनयिक प्रतिनिधि द्वारा किया गया है।

### तटवर्ती राज्य के कर्तव्य (Duties of Coastal States)

जहां तटवर्ती राज्य के राज्य क्षेत्रीय समुद्र के सम्बन्ध में विदेशी जलयानों की यात्रा को लेकर बहुत से विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं वहां पर उनके कुछ कत्र्तव्य भी निर्धारित किए गए हैं।

तटवर्ती राज्यों का कर्त्तव्य है कि क्षेत्रीय समुद्र के भीतर विदेशी जलवानों के निर्दोष आवागमन पर प्रतिरोध खड़ा नहीं करेंगे।

तटवर्ती राज्य अभिसमय का पालन करने के नाम पर विदेशों से ऐसी वांछनीयता नहीं करेंगे जिसका व्यवहारिक प्रभाव आवागमन इनकार करने के रूप में हो अथवा निर्दोष गमन के अधिकार से वंचित करना हो। तटवर्ती राज्य अन्य राज्य के जहाज अथवा जहाजी बेड़े के आवागमन पर कोई भेद नहीं करेंगे।

तटवर्ती राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसे खतरों की समुचित सूचना दे जो कि उसकी जानकारी में क्षेत्रीय समुद्र के नौ चालन में संभाव्य हो।

**भारतीय स्थिति (Position of India)**- भारत ने विदेशी जहाजों द्वारा अपने राज्य क्षेत्रीय समुद्र के प्रयोग के सम्बन्ध में सामुद्रिक क्षेत्रीय अधिनियम 1976 की धारा 4 के अधीन अपनी स्थिति को स्पष्ट किया है। भारतीय संसद द्वारा पारित सन् 1976 के अधिनियम में इस सम्बन्ध में यह प्रावधान है कि "युद्धपोतों के अतिरिक्त सभी विदेशी जहाजों को राज्य क्षेत्रीय समुद्र में होकर जाने के लिए निदर्दोष मार्ग प्राप्त होगा, परन्तु मार्ग तभी तक निर्दोष समझा जायेगा जब तक कि वह शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के विरुद्ध न हो। विदेशी युद्ध पोत राज्य क्षेत्रीय समुद्र में बिना सूचना प्रवेश नहीं कर सकते अर्थात् पूर्व सूचना देकर प्रवेश कर सकते हैं तथा उससे गुजर सकते हैं। यदि शान्ति, अच्छी व्यवस्था तथा भारत की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो तो केन्द्रीय सरकार विज्ञप्ति द्वारा पूर्ण रूप से अथवा कुछ अपवादों के अधीन सभी अथवा किसी विशेष वर्ग के जहाजों के राज्य क्षेत्रीय समुद्र में प्रवेश को निलम्बित कर सकती है।

अन्तः समुद्री (Sub Marrines) तथा अन्य अन्तर्जलीययानों तथा विदेशी युद्धपोतों के सम्बन्ध में अधिनियम वर्णन करता है कि वे केन्द्र सरकार को पूर्व सूचना देने के पश्चात् भारतीय राज्य क्षेत्रीय समुद्र में प्रवेश कर सकते हैं अथवा उससे गुजर सकते हैं, लेकिन अन्तर्जलीय यान सतह पर समुद्र यात्रा करेंगे परन्तु यात्रा के दौरान अपने ध्वज को दर्शित करेंगे।

### 4. महाद्वीपीय समुद्र तल (Continental Shelf)

महाद्वीपों से मिला हुआ समुद्र तट ऐसा बना हुआ है कि वह महाद्वीपों का स्थलीय अंग ही माना जाता है। यह भाग काफी दूर तक धीरे—धीरे गहरा होते हुए अन्त में 600 फुट तक गहरा हो जाता है। विज्ञान की प्रगति से पहले इस क्षेत्र का कोई महत्त्व नहीं था, परन्तु आजकल वैज्ञानिकों ने अपने वैज्ञानिक साधनों द्वारा इस क्षेत्र को बड़ा लाभदायक बना दिया है। ऐसे क्षेत्रों में से कोयला, तेल तथा अन्य प्रकार की लाभदायक सामग्री निकाली जाने लगी है।। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह अपने महाद्वीपीय तल की प्राकृतिक सामग्री पर क्षेत्राधिकार तथा नियन्त्रण रखे।

समय—समय पर अमेरिका, मैक्सिको, अर्जेन्टाइना, चेली, पेरू, कोस्टारिका आदि अनेक देशों ने अपने देशों के साथ मिले हुए समुद्र के सम्बन्ध में सर्वोच्च सत्ता के दावे किए।

अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के लिए यह एक नवीन समस्या थी। लौटर पैक्ट का विचार है कि "इस प्रकार के दावे युक्तिसंगत हैं। इन्हें तल तक सीमित न रख कर सभी अयः समुद्रीय क्षेत्रों में लागू करना चाहिए।" ब्रियली ने महाद्वीपीय तल पर तटवर्ती राज्य के अधिकार को स्वीकृति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यदि ऐसा करके समुद्र तल को स्वामी रहित घोषित किया जाए तो कोई भी विदेशी राज्य इस क्षेत्र में समुद्र के भीतर से प्राकृतिक सम्पत्ति निकालने के लिए इस पर आवेशन द्वारा अपना अधिकार कर सकता है। इसलिए महाद्वीपीय जल से प्राकृतिक सम्पत्ति प्राप्त करने का एक मात्र कानूनी अधिकार तटवर्ती राज्य को ही मिलना चाहिए।

**बन्दरगाह (Ports and Harbours)**— बन्दरगाहों तथा नदियों के मुहानों का जल समुद्र पट्टी के जत्त से भिन्न होता है। नियमानुसार शान्ति काल में बन्दरगाह अन्तरर्राष्ट्रीय यातायात के लिए खुले रहते हैं। रक्षा की दृष्टि से यदि राज्य चाहे तो विदेशी जहाजों के आने पर रोक लगा सकता है। बन्दरगाह अथवा नदी के मुहाने में प्रवेश करने वाले विदेशी जहाज पर क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में सन् 1928 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि संस्थान ने यह स्वीकार किया कि बन्दरगाह वास्तविक स्वत्व वाले राज्य के अधीन होते हैं ।

**भूमि के नीचे की उपभूमि (Subsoil under Earth)**—राज्य क्षेत्रीय भूमि तथा जल के नीचे उपभूमि भी तार एवं दूरभाष तारों तथा खानों के कार्य एवं सुरंगों के निर्माण के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। ओपेनहीम का कहना है कि "असीमित गहराई

की उपभूमि उस राज्य से सम्बन्धित है जो सतह पर राज्य क्षेत्र तथा राज्यों के राज्य क्षेत्र से संलग्न राज्य क्षेत्रीय समुद्र के स्वामी होते हैं।"

**वायुमण्डल (Airspace)**—20वीं सदी के गुब्बारों, वायुयानों तथा अन्तरिक्ष यानों के आविष्कार के कारण बाह्य अन्तरिक्ष पर क्षेत्राधिकार का नया प्रश्न उपस्थित हुआ—क्या राज्य के प्रदेश में उसके ऊपर स्थित आकाश को भी शामिल किया जाए? विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा यह निश्चित किया गया कि एक राज्य के जल तथा भूमि के ऊपर स्थित आकाश पर किसका नियन्त्रण है। इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए यह माना गया है कि—

1. आकाश पूर्णतः स्वतन्त्र है।

2. समुद्री पट्टी की भांति प्रादेशिक आकाश का निम्न क्षेत्र होता है और उच्चतर असीमित क्षेत्र स्वतन्त्र आकाश है।

3. आकाश उच्चतम ऊंचाई तक पूर्णतः सम्बन्धित राज्य की सम्प्रभुत्ता का विषय है।

4. यद्यपि आकाश पर सम्बन्धित राज्य की प्रभुसत्ता है किन्तु विदेशों के नागरिक यान निर्दोष गमन का अधिकार रखते हैं।

भूमि तथा जल पर राज्य के क्षेत्राधिकार को आधार बनाकर ही वायु पर राज्य के क्षेत्राधिकार को निश्चित करने का प्रयास किया गया। ऐसा करते समय विचारकों में अनेक भिन्नताएं सामने आई। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए उनके अनुसार—

1. वायुमण्डल प्रत्येक राज्य के लिए उपलब्ध है। है तथा प्रत्येक राष्ट्र का वायुयान इस पर बिना किती बाघा के आ जा सकता है। परन्तु यह विचार उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र का उस वायुमण पर नियन्त्रण होता है। ऐसी स्थिति में दूसरे राज्य का विमान बिना अनुमति के सम्बन्धित राज्य के आकाश में प्रवेश नहीं कर सकता।

2. प्रत्येक राष्ट्र की अपने वायुमण्डल पर असीमित ऊंचाई तक प्रभुसत्ता रहती है। उसे यह अधिकार है कि वह इस विषय में पूर्ण नियन्त्रण रखे तथा विना अनुमति के विदेशी यान को अपने वायुमण्डल में प्रवेश न करने दे।

यह विचार भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि विज्ञान की उन्नति के कारण अधिकतम ऊँचाई तक यान सरलता से आ जा सकते हैं। प्रत्येक देश के लिए यह सम्भव नहीं है वह असीमित ऊँचाई तक नियन्त्रण रख सके। असीमित ऊँचाई तक प्रभुसत्ता अर्थहीन तथा प्रभावशाली है।

3. केवल वायुमण्डल के नीचे के तट पर राष्ट्रों का नियन्त्रण रहता है तथा वहीं तक उसकी प्रभुसत्ता रहती है। इस विचार में कुछ सच्चाई है क्योंकि प्रभुसत्ता तभी प्रभावशाली हो सकती है जब कि राष्ट्र उस पर अपना नियन्त्रण रख सके। परन्तु कोई भी राष्ट्र सकारात्मक रूप से इसे मानने को तैयार नहीं होता।

4. राज्य ऊपरी वायुमण्डल के सम्बन्ध में नियम बना सकता है जिससे वह अपनी सुरक्षा कर सके। विश्व में बहुत कम देशों में ऐसी क्षमता है।

5. प्रत्येक राष्ट्र का अपने वायुमण्डल पर असीमित ऊंचाई तक नियन्त्रण तथा अधिकार होता है परन्तु इसमें अपवाद है क्योंकि राज्य को विदेशी यानों को निर्दोष यात्रा की सुविधा प्रदान करनी होती है।

## राज्य भू—क्षेत्र प्राप्त करना तथा खोना (Acquiring and Losing of State Territory)

प्रश्न 1. राज्य भू—क्षेत्र को प्राप्त करने तथा खोने की विधियों का वर्णन करें। (Describe the methods of acquiring and losing State Territory.)

अथवा

राज्य भू—भाग को अर्जित करने के तरीकों का वर्णन कीजिए, प्रत्येक तरीके के मुख्य लक्षणों का वर्णन कीजिए।

अथवा

प्रदेश प्राप्त करने के तरीकों का वर्णन करें।

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)— अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर केवल नए राज्य ही नहीं बनते वरन् स्थित राज्य नए प्रदेश भी प्राप्त करते हैं। जो या तो किसी राज्य के स्वामित्व में नहीं थे अथवा दूसरे राज्य के अधिकार में थे। कभी—कभी गैर सरकारी व्यक्ति अथवा निगम भी ऐसे प्रदेश प्राप्त कर लेते हैं जो किसी राज्य की प्रादेशिक सर्वोच्चता के अन्तर्गत नहीं आते। प्रदेश की यह प्राप्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध नहीं रखती है। इस कानून के नियम यहां लागू नहीं होते।

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय है। राज्य एक निश्चित प्रदेश पर बसे हुए लोगों का एक ऐसा राजनीतिक समुदाय है जिसकी अपनी एक संगठित सरकार है जो आन्तरिक तथा बाह्य रूप से स्वतन्त्र है। राज्य के चार निश्चित तत्त्व होते हैं, यथा—

1. जनसंख्या (Population)

2. निश्चित प्रदेश (Fixed Territory)

3. संगठित सरकार (Organised government)

4. आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुसत्ता (Internal and External Sovereignty)

**राज्य भू—भाग का अर्थ** (Meaning of State Territory)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का केन्द्र बिन्दु राज्य है। यद्यपि राज्य के निश्चित चार तत्त्व हैं परन्तु इन सभी में भू—भाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि भू-भाग ही नहीं होगा तो लोग कहां बसेंगे। सरकार तथा प्रभुसत्ता भू—भाग के कारण ही है। राज्यों के स्थायित्व तथा निरन्तरता के लिए भू—भाग का होना बहुत अनिवार्य है। राज्य अपने क्षेत्र में ही प्रभुसत्ता सम्पन्न अर्थात् सर्वोच्च होता है ।— यदि राज्य के पास प्रभुसत्ता नहीं है तो उसे राज्य नहीं माना जा सकता, परन्तु राज्य अपनी शक्ति अर्थात् प्रभुसत्ता का प्रयोग एक निश्चित सीमा अथवा प्रदेश के अन्दर ही रहकर कर सकता है। राज्य का अपने प्रदेश पर पूर्ण अधिकार होता है तथा अपने प्रदेश पर बसे हुए लोगों के लिए कानून निर्माण करता है। केवल कानून का निर्माण ही नहीं करता वरन् उन्हें लागू भी करता है तथा अपराधियों को दण्ड भी देता है।

**स्वार्लिन** ने राज्य के भू-भाग का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि "एक राज्य के प्रदेश में उसकी सीमाओं तथा क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत समस्त भूमि तथा जल की सतह, इस तह के नीचे समस्त भूमि तथा जल एवं इसके ऊपर स्थित समस्त वायु आती है।"

**ओपेनहीम के शब्दों में**, "जिस क्षेत्र पर राज्य की प्रभुसत्ता लागू होती है उस भाग को राज्य का क्षेत्र कहते हैं।"

**टुंकिन के अनुसार**, "किसी राज्य की सम्प्रभुता के अधीन पृथ्वी का वह भाग जिस पर उसका वैध अधिकार हो, राज्य का प्रदेश कहलाता है।"

प्रदेश के एक भाग में स्वतन्त्रता का आशय यह है कि वहां केवल एक राज्य को ही कार्य करने का अधिकार रहेगा।" कैल्सन का कहना है कि, "राष्ट्रीय प्रदेश वह प्रदेश कहलाता है जिसके अन्तर्गत राज्य के कार्य और विशेषतथा उसके दण्डित कार्य साधारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा स्वीकार किए जाते हैं तथा वे वैधानिक रूप से स्वीकृत हों"।

### भू-भाग प्राप्त करने की विधियां (Modes of acquiring State Territory)

राज्य का प्रदेश नवीन भू—भाग प्राप्त करने से बढ़ जाता है क्या वर्तमान प्रदेश के कट जाने से कम हो जाता है। प्रभुसत्ता समाप्त होने से राज्य लुप्त हो सकता है।

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत भू—भाग को प्राप्त करने के दो तरीके हैं—**

1. मूल साधन (Fundamental Methods)

2. व्युत्पन्न साधन (Acquired Methods)

**1. मूल साधन** भूमि प्राप्त करने के वे साधन हैं जिनका प्रयोग एक राज्य द्वारा ऐसे क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए किया जाता है जिस पर किसी अन्य राज्य का स्वामित्व न हो। मूल साधनों में आवेशन (Occupation) तथा उपचय (Accretion) शामिल हैं।

**2. व्युत्पन्न साधन** में वे साधन शामिल हैं जिनका प्रयोग ऐसे क्षेत्र की प्राप्ति के लिए किया जाता है जो पहले किसी अन्य राज्य के स्वामित्व में हो। इनमें चिर कालिक भोग (Prescription), हस्तान्तरण (cession), विजय (conquest) आदि शामिल हैं।

इस विषय में **प्रो. ओपेनहीम** के मतानुसार राज्य द्वारा नया प्रदेश प्राप्त करने तथा उस पर प्रभुसत्ता कायम करने के पांच प्रकार हैं—

1. आवेशन (Occupation) या कब्जा

2. दीर्घकालीन उपभोग (Prescription)

3. उपचय (Accretion)

4. हस्तान्तरण (Cession)

5. विजय (Conquest)

ओपेनहीम द्वारा ऊपर वर्णित विधियों के अतिरिक्त अन्य विधियों द्वारा भी नवीन प्रदेशों को प्राप्त किया जा सकता है।

6. न्यायिक अथवा पंचनिर्णय (Award or Adjudication)

7. पट्टेदारी (Lease)

8. गिरवी (Pledge)

9. जनमत संग्रह (Plebicite)

10. नये राज्यों के उदय होने पर (By newly emerged states)

**1. आवेशन अथवा कब्जा (Occupation)**—आवेशन का अर्थ है एक राज्य द्वारा ऐसी भूमि को अपने प्रदेश में मिलाना जिस पर अभी तक किसी राज्य का नियन्त्रण नहीं है। इसका अर्थ है—स्वामित्व हीन भूमि को राज्य द्वारा अपने क्षेत्र में मिलाना अथवा नियन्त्रण स्थापित करना। ऐसे प्रदेश पर राज्य का वास्तविक स्वामित्व तब होता है जब खोज पर आधारित अपने दावे को वह दूसरों द्वारा मान्य बनवा दे।

(1) बेटेल का इस सम्बन्ध में विचार है कि "जो वस्तुएं अभी तक किसी के कब्जे में नहीं हैं उनके बारे मे सभी लोग समान अधिकार रखते हैं। ये वस्तुएं उसकी होती हैं जो पहले कब्जा करता है। जब एक राष्ट्र किसी प्रदेश को जन शून्य अवबा स्वामी हीन पाता है तो कानूनी रूप से वह उस पर अधिकार कर लेता है। इस सम्बन्ध में अपने अभिप्राय के पर्याप्त प्रमाण देने के पश्चात् वह दूसरे राष्ट्र द्वारा उससे वंचित नहीं किया जा सकता"।

**ओपेनहीम का कहना है** कि "कब्जा किसी राज्य द्वारा उस भूमि का विनियोग है, जिस पर वह अपनी संप्रभुता के प्रयोग करने की इच्छा रखता है तथा जो पहले किसी अन्य राज्य सम्प्रभुता के अधीन नहीं है।"

(iv) ब्रियली ने आवेशन के शब्द में अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि "आवेशन का अभिप्राय ऐसा प्रदेश प्राप्त करना है जो किसी अन्य राज्य का भाग न हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आवेशन के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती है—

1. आवेशन सदैव उद्देश्य युक्त होता है।

2. आवेशन द्वारा राज्य अपने क्षेत्र का विस्तार करता है।

3. आवेशित भूमि पर किसी अन्य राज्य का नियन्त्रण नहीं होता है।

4. आवेशित भूमि खोज का परिणाम होती है।

5. साधारणतथा यह भूमि या तो जनशून्य होती है अथवा ऐसे लोगों से युक्त होती है जिन्हें असभ्य अथवा आदिवासी कहा जाता है।

6. इस भूमि पर ऐसे लोगों अथवा राज्य का आवेशन नहीं होता जिनका राजनीतिक संगठन आवेशन से पूर्व अधिकारों का दावा करे।

वर्तमान में आवेशन का महत्त्व बहुत कम हो गया है क्योंकि आवेशन का महत्त्व उस समय अधिक था जब भूमि के अनेक भू—भाग मानव पहुंच से बाहर थे। आजकल शीत ध्रुवीय प्रदेशों के अतिरिक्त प्रायः सभी भूमण्डलीय प्रदेशों पर किसी न किसी राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित हो चुकी है।

**आवेशन की शर्तें अथवा आवेशन के सिद्धान्त (Conditions of Occupation or Principles of Occupation)**

किसी प्रदेश पर आवेशन द्वारा अधिकार स्थापित करने के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक मानी जाती है -

**1. स्वामित्वहीनता (Res Nullius)**—जिस प्रदेश का आवेशन किया जा रहा है उस पर किसी दूसरे राज्य का स्वामित्व नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह निर्जन प्रदेश है। इसका सीधा ता अर्थ है कि उस पर किसी दूसरे राज्य का स्वामित्व का दावा न हो। यदि ऐसा होता है तो वह आवेशन न रहकर हड़पना हो जायेगा। वास्तव में आवेशन वह विधि है जिसमें बल प्रयोग नहीं होता। आवेशन फिलहाल में खोजे गये स्वामित्व हीन क्षेत्र पर किया जाता है। इस प्रदेश में स्वदेशी लोग अपने आदिवासी संगठनों के अधीन रह सकते हैं तथा बिना राज्य की स्थापना किए व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपभोग कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज से बाहर स्थित राज्य भी यदि प्रदेश पर अधिकार रखता है तो भी उसका आवेशन नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ग्रीनलैंड पर नार्वे के अधिकार को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि इस पर पहले से ही डेनमार्क की प्रभुसत्ता विद्यमान थी, इसलिए नार्वे का अधिकार अनुचित तथा गैर—विधिक है। जो प्रदेश स्वतन्त्र है उन्हें भी आवेशन का विषय नहीं बनाया जा सकता। उदाहरण के लिए खुला समुद्र अथवा उसके तट सभी राज्यों के प्रयोग के लिए खुले रहते हैं, इसलिए उन पर कोई विशेष राज्य अपना अधिकार नहीं जमा सकता।

**2. प्रभुता प्राप्ति की इच्छा (Intention to Exercise Sovereignty)**—आवेशन के अन्तर्गत सम्बन्धित राज्य का प्रदेश पर अधिकार करने की इच्छा तथा इरादा होना चाहिए। उनकी यह इच्छा शान्तिपूर्ण तरीके से अथवा वास्तविक सत्ता के प्रदर्शन द्वारा अभिव्यक्त होती है। यदि ऐसा संभव न हो तो राज्य द्वारा प्रभुसत्ता अथवा स्वामित्व का इरादा अवश्यमेव होना चाहिए। सन् 1931 में फ्रांस तथा मैक्सिको के मध्य एक विवाद में पंच फैसले ने इसी सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया। यह विवाद मैक्सिको के पश्चिमी तट से 670 मील दूर से निर्जन टापू से सम्बन्धित या, जिसे फ्रांस ने 1858 में अपने राज्य का अंग घोषित कर दिया। यद्यपि उसने इस पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं किया, किन्तु निरन्तर अपने स्वत्व की घोषणाएं तथा अधिकार

का इरादा प्रकट करता रहा। मैक्सिको ने इस पर प्रभावशाली आवेशन कर लिया, किन्तु फ्रांस के इरादे को देखकर इसे अनुचित माना गया।

**3. वास्तविक आवास आवश्यकता (Necessity of Actual Settlement)**—निर्जन आवेशित क्षेत्र पर वास्तविक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए वहां बसना अति आवश्यक है। इसके लिए राज्य को वहां झंडा गाड़ कर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा करने, बस्ती बनाने तथा प्रशासन का प्रबन्ध करने की व्यवस्था भी संचालित करनी होगी। ओपेनहीम के अनुसार, "औपचारिक घोषणाएं तय तक केवल काल्पनिक आवेशन रहेंगी जब तक कि ध्वजा की सत्ता को बनाए रखने के लिए आवास की व्यवस्था न की जाए"। आवास का स्वरूप स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदल सकता है।

**4. अन्य राज्यों को सूचित करना (Notification to other States)**—आवेशन को वैध बनाने के लिए सम्बन्धित राज्य दूसरे राज्यों को सूचित करे अथवा न करे इस विषय में मतभेद है। जहां हॉलैण्ड तथा पिट हाब्बेट जैसे विद्वान इसे अनिवार्य मानते हैं तो ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए इसे महत्त्वहीन माना है। ओपेनहीम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई ऐसा नियम नहीं हैं जो दूसरे राज्यों को आवेशन की सूचना देना आवश्यक बताता हो।

**5. आवेशन क्षेत्र का आकार (Extent of the Area of Occupation)**— अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आवेशन को तभी उचित और वैद्य माना जायेगा जब वह प्रभावशाली हो। अन्य शब्दों में उतना ही क्षेत्र आवेशित किया जाना चाहिए जिस पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित हो सके, परन्तु राज्यों ने भूतकाल में इस सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया क्योंकि राज्य अधिकाधिक क्षेत्रों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

आवेशन के क्षेत्र के आकार के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(क) निरन्तरता का सिद्धान्त (Principle of Continuity)— इस सिद्धान्त के अनुसार किसी प्रदेश को आवेशित करने वाले राज्य अपनी प्रभुसत्ता इतने बड़े क्षेत्र पर रख सकता है जो प्रदेश की सुरक्षा तथा भूमि विकास हेतु परमावश्यक हो।

(ख) संस्पर्शता का सिद्धान्त (Principle of Contiguity)—इस सिद्धान्त के अनुसार आवेशन कर्ता राज्य भौगोलिक दृष्टि से स्वामित्व हीन अपने पड़ोसी प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर सकता है। ये दोनों सिद्धान्त अस्पष्ट हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं अपनाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि वेत्ताओं के अनुसार एक प्रदेश की प्राप्ति की तीन अवस्थाएं होती हैं—

(i) खोज द्वारा प्राप्त करना।

(ii) प्रभुसत्ता की घोषणा करना।

(iii) आवेशित क्षेत्र पर नियन्त्रण स्थापित करना।

**चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों पर आवेशन (Occupation over Moon and Other Planets)**

यदि आवेशन का एकमात्र आधार खोज माना जाए तो चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों की खोज को लेकर अनेक समस्याएं खड़ी हो जाएंगी। आधुनिक युग में अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों ने अनेक ग्रहों का पता लगाया है परन्तु कोई भी खोजकर्ता राज्य इन ग्रहों पर अपनी प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। । संयुक्त राष्ट्र के एक प्रस्ताव के अनुसार कोई भी राज्य चन्द्रमा तथा ग्रहों और उपग्रहों की खोज करने वाले राज्यों की प्रभुता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 20 दिसम्बर, 1961 को प्रस्ताव संख्या 1721 द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्र संघ के चार्टर की बाध्यकारिता को बाह्य अन्तरक्षि तक फैलाने का प्रस्ताव रखा। 25 जनवरी, 1967 को एक सन्धि का मसविदा तैयार किया, जिसे 10 अक्तूबर, 1967 को प्रभावी माना गया। 1971 में 54 राज्यों ने इसे स्वीकृत तथा अंगीकृत किया। बाह्य अन्तरिक्ष पर किसी राज्य का आवेशन नहीं हो सकता। बाह्य अन्तरिक्ष का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के द्वारा शान्ति के कार्यों के लिए किया

जा सकता है।

**प्रभावी आवेशन के तत्त्व (Elements of Effective Occupation)**

प्रभुसत्ता स्थापित करने की इच्छा तथा प्रभुता की स्थापना एवं प्रभावी आवेशन के लिए भी तीन आवश्यक शर्तें हैं

(i) आवेशित प्रदेश के निवासियों की भावनाएं

(ii) सेना तथा पुलिस प्रबन्ध की सम्भावनाएं

(iii) सम्बन्धित आवेशित क्षेत्र के सम्बन्ध में किए गए समझीते तथा सन्धियां आदि।

**2. दीर्घकालीन उपभोग (Prescription)**—जब कोई राज्य बहुत समय से किसी राज्य क्षेत्र पर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित किए हुए है तो इस प्रकार के अधिकार को चिरकालिक उपभोग का सिद्धान्त कहा जाता है।

ओपेनहीम का मत है कि "यह किसी राज्य क्षेत्र पर इतने अधिक समय तक लगातार तथा अनिवार्य रूप से सर्वोच्च सत्ता के प्रयोग द्वारा उस क्षेत्र पर प्रभुसत्ता प्राप्त करना है जो इस ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप यह विश्वास उत्पन्न कर सके कि वर्तमान स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल है।"

स्टार्क के मतानुसार, "चिरकाल से उपभोग करने से उत्पन्न होने वाला अधिकार किसी दूसरे राज्य की सर्वोच्च सत्ता वाले क्षेत्र पर बहुत लम्बे समय तक वास्तविक सर्वोच्च सत्ता बनाये रखने का परिणाम होती है।" चिरभोग द्वारा कोई राज्य किसी क्षेत्र को तभी प्राप्त कर सकता है जब कि कुछ शर्तें पूरी हों। ने अपन गोधपत्र

**चिरभोगधिकार की शर्तें (Conditions of Prescription)** —

(i) कोई राज्य किसी क्षेत्र को चिरभोग द्वारा तभी प्राप्त कर सकता है जब कि उस क्षेत्र पर उसने किसी जन्य राज्य की प्रभुसत्ता स्वीकार न की हो।

(ii) नियन्त्रण शान्तिपूर्वक तथा अवरोघरहित होना चाहिए।

(iii) आवेशन सार्वजनिक होना चाहिए।

(iv) आवेशन कुछ निश्चित समय तक होना चाहिए।

स्वार्जन बर्जर के अनुसार चिरभोग अधिकार की कुछ अन्य शर्तें जो निम्नलिखित हैं—

(i) एक राज्य किसी क्षेत्र पर चिरभोगाधिकार के आधार पर तभी दावा कर सकता है जब वह उस क्षेत्र पर वास्तविक प्रभुत्व प्राप्त कर चुका हो।

(ii) प्रभुत्व उचित समय तक लगातार बना रहे।

(iii) प्रभुत्व शान्तिपूर्ण होना चाहिए।

(iv) प्रभुत्व सार्वजनिक होना चाहिए।

**महत्त्वपूर्ण विवाद (Important Cases)**—चिरभोगाधिकार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विवादों में—

(i) बेल्जियम तथा हॉलैण्ड के मध्य फ्रंटियर लैण्डज विवाद 1959

(ii) कम्बोडिया तथा थाईलैण्ड के मध्य टेम्पल ऑफ प्रोडविहीवर मैरिट विवाद 1962

(iii) वर्जीनिया बनाम टैक्सी विवाद,

(iv) एंग्लो नार्वेजियन फिशरीज विवाद आदि उल्लेखनीय हैं।

**3. उपचय (Accretion)**—उपचय द्वारा राज्यों के प्रदेश धीरे—धीरे प्राप्त किए तथा खोये जाते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान फेनविक के अनुसार, "यह नदियों के बहाव अथवा तट पर समुद्रों के कार्य द्वारा भूमि में की गई धीमी वृद्धि है।"

**ओपेनहीम के मतानुसार**, "उपचय नवीन स्थापना द्वारा भूमि की वृद्धि का नाम है।"

**प्रो. स्टार्क के मतानुसार**, "उपचय के अन्तर्गत एक राज्य की प्रभुसत्ता में स्थित प्रदेश में प्राकृतिक कारणों से नए प्रदेश की वृद्धि होती है और वह नया प्रदेश इसमें शामिल होता है।"

**उपचय के प्रकार (Kinds of Accretion)**

प्रो. ओपेनहीम ने उपचय द्वारा नए निर्माण को मोटे रूप से दो भागों में बांटा है—

(i) कृत्रिम उपचय (Artificial Accretion)

(ii) प्राकृतिक उपचय (Natural Accretion)

(i) यदि उपचय मानव प्रयासों का परिणाम है तो इसे कृत्रिम उपचय कहा जाता है। नदियों तथा समुद्र की तटवर्ती रेखा के निकट बांध बनाकर कृत्रिम उपचय किया जा सकता है।

यदि नदियों के किनारे ऐसे बांध बनाए गए अथवा दीवारें बनाकर पानी बाहर निकाल कर जलरिक्त भूमि को मिट्टी से भर दिया जाए तो इस प्रक्रिया द्वारा भूमि का उपचय हो जाता है। परिणामस्वरूप राज्य के क्षेत्र में वृद्धि हो जाती है। जापान ने इस प्रक्रिया द्वारा ही समुद्र के बहुत से भाग को अपने भू—क्षेत्र का भाग बना लिया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कोई राज्य अपनी प्राकृतिक स्थिति में स्वेच्छापूर्वक ऐसा कोई परिवर्तन नहीं कर सकता जो पड़ोसी राज्य के लिए हानिकारक हो। बांध बनाने से पहले उसे पड़ोसी राज्य से पूछना होगा।

(ii) प्राकृतिक उपचय उसे कहा जाता है जो प्रकृति के व्यवहार का फल होता है। नदी के बहाव अथवा सागर की लहरों के साथ आने वाली मिट्टी जम कर नए प्रदेश की रचना करती है। यह प्रक्रिया अत्यन्त धीमी तथा क्रमिक रूप से होती है। इसके द्वारा एक राज्य की सीमा पर्याप्त बढ़ सकती है। यदि यह जमाव प्रादेशिक समुद्र में हुआं है तो इसकी सीमाएं बढ़े हुए किनारे से मापी जाएंगी। प्राकृतिक उपचय के अनेक प्रकार होते हैं, जैसे—नदियों में बाढ़ द्वारा मिट्टी का जमान, डेल्टाज, नवजात टापू, सूखे हुए नदी तल आदि।

**उपचय के विषय में महत्वपूर्ण विवाद (Important cases)**

अन्ना विवाद 1905—अन्ना एक स्पेनिश जहाज था। 1905 में ब्रिटेन तथा स्पेन के बीच युद्ध के दौरान ब्रिटिश जहाज ने अन्ना को मिसीसिपी नदी के मुहाने पर पकड़ लिया। विवाद यह था कि क्या यह कार्यवाही अमेरिका के प्रादेशिक समुद्र के भीतर हुई अथवा बाहर हुई। यदि समुद्र के एकदम बाहरी छोर पर बने बालिसे के दुर्ग से नापा जाता तो यह घटना तीन समुद्री मील के प्रादेशिक समुद्र से बाहर हुई थी। लेकिन यदि मुख्य भूमि के समाप्त हो जाने के पश्चात् प्रादेशिक समुद्र के अन्दर उपचय या अभिवृद्धि से बने टापू से नापा जाता तो यह घटना प्रादेशिक समुद्र के अन्दर हुई थी।

न्यायालय ने यही स्वीकार किया कि प्रादेशिक समुद्र में उपचय से जो टापू बना है, प्रादेशिक समुद्र को वहां से नापा जाना चाहिए। इस तरह इस घटना को अमेरिका के प्रादेशिक समुद्र में घटित माना गया।

ऐसी ही घटना अथवा विवाद भारत तथा बंगलादेश के बीच में है। मई, 1981 में नवमूर द्वीप के बारे में भारत तथा बंगलादेश में तनाव चरम सीमा पर पहुंच गया। यह बंगाल की खाड़ी में गंगा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी से बनने वाला एक नया छोटा सा द्वीप है। 1970 के भीषण समुद्री तूफान के पश्चात् इसका निर्माण हुआ तथा 1971 में अमेरिकी उपग्रह की सहायता से इसका पता चला।

**4. हस्तान्तरण (Cession)**— हस्तान्तरण भी प्रदेश प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जब एक राज्य दूसरे राज्य से सन्धि द्वारा किसी प्रदेश को प्राप्त करता है तो उसे हस्तान्तरण कहते हैं। फेनविक ने हस्तान्तरण के सबन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि "हस्तान्तरण को एक निश्चित प्रदेश की प्रभुसत्ता के एक राज्य से दूसरे राज्य को औपचारिक हस्तान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

प्रो. ग्लान के मतानुसार "ऐच्छिक हस्तान्तरण नये स्वामी के विधि सम्मत स्वामित्व को इंगित करता है।" प्रो. स्वारलीन अनुसार, "हस्तारण दो पक्षीय लेन—देन है।"

हस्तान्तरण को तभी कानूनी माना जाता है जब इसके कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होते हैं। गैर सरकारी व्यक्तियों, निगमों आदि द्वारा किया गया हस्तान्तरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कोई महत्त्व नहीं रखता। सम्बन्धित राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज के मान्य सदस्य होने चाहिएं।

**हस्तान्तरण के रूप (Kinds of Cession)**—हस्तान्तरण का एक रूप नहीं होता। हस्तान्तरण के कई रूप अर्थात् हस्तान्तरण कई प्रकार का होता है, जो निम्नलिखित हैं—

**1. जनता की स्वैच्छिक भावना पर अवस्थित** (Based on voluntary feeling of the people)—जनता की इच्छा पर भी प्रदेश का हस्तान्तरण किया जा सकता है। 1975 में सिक्किम को भारत संघ में मिलाया गया, परन्तु ऐसा वहां के लोगों ने स्वेच्छा से सिक्किम के भारत में विलय को स्वीकार किया था।

**2. विक्रय की सन्धि (Treaty of Sale)**—प्राचीन काल में विक्रय की सन्धि का परिचलन था। 19वीं सदी में विक्रय सन्धि के द्वारा हस्तान्तरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अमेरिका ने लौसियाना, फलोरेडा तथा एलास्का को 1803, 1819, 1857 में इस विधि द्वारा अपने राज्य में शामिल किया था। 1916 में उसने डेनिश वैस्टइंडीज को खरीदा था। प्रदेश की खरीददारी द्वारा अपने क्षेत्र का प्रसार अन्तरर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

**3. विनिमय द्वारा हस्तान्तरण** (Cession by Exchange)— इस रूप में प्रदेश के बदले प्रदेश ले लिया या फेरबदल किया जाता है। विनिमय अथवा अदल-बदल द्वारा एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य अपने क्षेत्र का एक भाग देवार दूसरे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य को देता है तथा बदले में उस राज्य का कुछ भाग ग्रहण करता है। 1890 में ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मन—पूर्वी अफ्रीका के निकटवर्ती क्षेत्रों के बदले जर्मनी को हैलिगोलैंड का टापू हस्तान्तरण किया था।

**4. राजा की मृत्यु के पश्चात् हस्तान्तरण** (Cession after the Death of the King)— हस्तान्तरण का एक विशेष रूप आजकल प्रायः नहीं मिलता, वह राजा की मृत्यु होने पर किया जाता है। 1908 में राजा लियोपाल की मृत्यु के पश्चात् कांगो का स्वतन्त्र राज्य बेल्जियम को हस्तान्तरित कर दिया गया। अपनी मृत्यु के समय वह व्यक्तिगत क्षमता के कारण बेल्जियम का राजा होने के साथ—साथ कांगो का सम्प्रभु भी था।

**5. मुफ्त भेंट (Free Gift)—**एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य दूसरे प्रभुसता सम्पन्न राज्य को अपना क्षेत्र मुफ्त भेंट करता है तथा भेंट ग्रहणकर्ता राज्य के क्षेत्र में वृद्धि हो जाती है। उपहार देते समय राज्य कुछ शर्त भी लगा सकता है। 1850 में इंग्लैंड ने आयर झील का एक भाग अमेरिका को इस शर्त पर उपहार रूप दिया था कि वह इस पर प्रकाश ग्रह का निर्माण करेगा। इसके विपरीत आस्ट्रिया ने फ्रांस को 1856 में लोम्बार्डी तथा 1866 में सार्डिनया विना किसी शर्त के उपहार में भेंट किए थे।

**6. गुप्त हस्तान्तरण (Secret Cessio**n)—हस्तान्तरण का एक गुप्त अथवा देपा हुआ रूप भी होता है। 1878 की बर्लिन सन्धि में यह प्रावधान था कि बोसनिया तथा हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया—हंगरी का स्वामित्व तथा प्रशासन रहेगा। 1908 में

आस्ट्रिया—हंगरी की एक पक्षीय सन्धि द्वारा टर्की के सम्प्रभुता हो गई।

**क्या जनमत संग्रह हस्तान्तरण के लिए आवश्यक है?** (Is plebicite Compulsory for cession?)

हस्तान्तरण को वैध बनाने के लिए सम्बधित प्रदेश के निवासियों की सहमति आवश्यक नहीं है। ग्रोशियस का मत इससे भिन्न है। वर्तमान में राष्ट्रों का वास्तविक व्यवहार ग्रोशियस के मत को उचित सिद्ध करता है, क्योंकि प्रादेशिक हस्तान्तरण के अनेक मामलों में जनमत संग्रह की आवश्यकता अनुभव की गई है।

जनमत संग्रह की प्रक्रिया 19वीं सदी में अत्यन्त लोकप्रिय थी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1916 में डेनिश वैस्टइंडीज के मामले में जनमत संग्रह का विरोध किया था। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। 22 जनवरी, 1917 को सीनेट में दिए गए भाषण में जनमत संग्रह को शान्ति तथा व्यवस्था के लिए आवश्यक माना था।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक हस्तान्तरण के साथ जनमत संग्रह को अनिवार्य नहीं मानता। व्यक्तिगत राज्यों द्वारा की गई सन्धि में ऐसी व्यवस्था स्वीकार की जाती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसे सामान्य नियम नहीं बनाता। कुछ अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय नीति की आवश्यकताएं इस जनमत संग्रह की मांग कर सकती हैं। किन्तु दूसरी परिस्थितियों में यह मांग अनुचित भी हो सकती है। भारत विभाजन के कारण जवाहर लाल नेहरू ने कश्मीर में जनमत संग्रह की घोषणा की थी, परन्तु पाकिस्तान के सैनिक गठबन्धन में शामिल होने के कारण इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया।

**हस्तान्तरण के प्रभाव (Impact of Cession)**

हस्तान्तरण के परिणामस्वरूप एक प्रदेश के निवासी दूसरे राज्य के नागरिक बन जाते हैं। हस्तान्तरित देश के नागरिकों को असंख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(i) हस्तान्तरण सन्धियों में हस्तान्तरित क्षेत्र के नागरिकों के लिए पुरानी नागरिकता की व्यवस्था का बाध्यकारी प्रावधान रखा जाता है। डेनिश वैस्टइंडीज की हस्तान्तरण सन्धि में डेनमार्क की नागरिकता बनाए रखने की शर्त रखी गई।

(ii) प्रदेश प्राप्त कर्ता राज्य को यह अधिकार है कि वह पुरानी नागरिकता का विकल्प रखने वाले नागरिकों को अपने देश से निकाल कर हस्तान्तरण कर्ता राज्य में भेज सकता है। यदि उनसे उसकी सुरक्षा को खतरा हो।

(iii) हस्तान्तरित प्रदेश के निवासियों की सुविधा के लिए प्रदेश प्राप्त करने वाला राज्य दोहरी नागरिकता रखने वाले नागरिकों को पुरानी नागरिकता का परित्याग करने को कहा जा सकता है अथवा निवास स्थान बदलने को कहा जा सकता है।

(iv) हस्तान्तरित प्रदेश में रहने वाले व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति पर हस्तान्तरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। or Subjugation

**5. विजय (Conquest)—युद्ध** में सेना द्वारा दूसरे राज्य को पराजित करके उसके प्रदेश को अपनी सम्प्रभुता के अधीन कर लेना विजय द्वारा हस्तान्तरण कहलाता है। इसे अनैच्छिक हस्तान्तरण भी कहा जा सकता है। युद्ध में हारा हुआ देश अपनी इच्छा से नहीं वरन् विवशता में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी सरकार तथा सेनाएं अस्तित्व में नहीं रहतीं तथा उसका प्रदेश विजेता राज्य का हिस्सा बन जाता है। उसके क्षेत्र पर विजेता राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है तथा अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है।

केवल युद्ध में विजय किसी राज्य को विजित प्रदेश का सम्प्रभु नहीं बनाती। विजय इसका पहला तथा आवश्यक कदम माना जा सकता है।

प्रो. ओपेनहीम ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "युद्धकारी राज्य शत्रु के प्रदेश के एक भाग को जीत कर हारे हुए राज्य

को शान्ति सन्धि करके प्रदेश को अपने में मिला लेता है तो इसे विजय न कह कर हस्तान्तरण कहा जायेगा।"

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर लागू होने पर विजय द्वारा प्रदेश की प्राप्ति का औचित्य समाप्त हो गया। इसके अनेक प्रावधान स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि शक्ति का प्रयोग अथवा उसकी धमकी कानूनी दृष्टि ते संघ के चार्टर के दायित्वों का उल्लंघन माना जायेगा। परन्तु इसके पश्चात् भी संघ के सदस्यों ने सैनिक शक्ति का सहारा लेकर अपने प्रदेश का प्रसार किया है।

### गोवा विमुक्ति (Liberation of Goa)

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हो गया। अंग्रेज भारत को छोड़कर चले गये, परन्तु भारत के एक भाग गोआ पर अभी तक पुर्तगाल सरकार का नियन्त्रण था। गोआ में दमन तथा दीव भी शामिल था। इसका कुल क्षेत्रफल 1538 वर्ग मील है। पुर्तगाल सरकार गोवा को स्वतन्त्र करने के लिए तैयार नहीं थी। ऐसी स्थिति में भारत के पास केवल एक ही विकल्प था और यह सैनिक कार्यवाही था। 18 दिसम्बर, 1961 को सैनिक कार्यवाही करके भारत ने पुर्तगाल के सैनिक विरोध के बिना ही गोवा को अपने प्रदेश में शामिल कर लिया। दूसरे दिन ही यह मामला सुरक्षा परिषद् के सामने आया।

संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उसके अन्य देशों ने भारत की इस कार्यवाही का विरोध किया। सोवियत संघ ने निषेधाधिकार करके अमेरिका और उसके साथी देशों का प्रयास विफल कर दिया। भारत का तर्क था कि संघ की महासभा ने उपनिवेशवाद की निन्दा की है और भारत का यह घरेलू मामला है। गोवा, दमन तथा दीव भारत के अंग बन गए। फैनविक ने परिषद् के निर्णय को राजनीति से प्रेरित बताया।

इजरायल ने सन् 1948 में सैनिक शक्ति के सहारे एक बड़े प्रदेश को अपने राज्य का भाग बना लिया तथा संघ ने उसे मान्यता दे दी। ओपेनहीम का कहना है कि "कोई भी अवैप कार्य सामान्यतः कानून तोड़ने वाले राज्य के लिए हितकर नहीं हो सकता। जब युद्ध को अवेध कार्य माना गया तो स्पष्ट है कि यह किसी राज्य को किसी प्रदेश पर कानूनी अधिकार स्थापित करने में सहायता नहीं दे सकता। युद्ध की सफलता उसे न्यायोचित नहीं बना सकती।"

**6. न्यायिक अथवा पंच निर्णय** (Award or Adjudication)— अन्तरर्राष्ट्रीय न्यायालय, तदर्थ मध्यस्थ अधिकरणों तथा समझौता आयोग द्वारा न्याय निर्णय के माध्यम से भी राज्य क्षेत्र प्राप्त किया जा सकता है। यदि किसी क्षेत्र को लेकर दो राज्यों में विवाद हो जाये तो ऐसे विवाद को समझौते के लिए न्यायिक निकाय को सौंपा जाता है। जिस राज्य के पक्ष में निर्णय होता है वह राज्य विवादित प्रदेश को अपने क्षेत्र में मिला लेता है। ऐसे राज्य क्षेत्र के विस्तार को पंचाट के माध्यम से हस्तान्तरित हुआ माना जाता है। परन्तु जहां सीमा विवाद के समायोजन अथवा समझौता के अनुसरण में न्यायिक निकाय द्वारा एक राज्य के भाग को दूसरे राज्य को प्रदान किया जाता है तो यह मामला राज्य अर्जन के समान नहीं होता। इस प्रकार सामान्य रूप से कच्छ पंचाट के रूप में ज्ञात, अधिकरण के अधिनिर्णय के अनुसार भारत ने 350 वर्गमील के कच्छ के रण का प्रदेश पाकिस्तान को दे दिया था। यह पाकिस्तान द्वारा राज्य क्षेत्र का अर्जन नहीं है। यह अन्तरण भारतीय संविधान में किसी संशोधन की अपेक्षा भी नहीं करता।

**7. पट्टेदारी (Leases)**—कोई भी राष्ट्र अपने प्रदेश का कुछ भाग दूसरे राज्य के नाम पट्टा निखका उसे कुछ समद्देको लिये दे देता है। इस प्रकार कुछ समय के लिए सम्बधित प्रदेश पर सार्वभौमिकता के ह अधिकारों का हस्तान्तरण हो जाता है। पट्टे द्वारा सम्बन्धित प्रदेश पर पूरी प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण नहीं होता। कारों का हस्वारका में पट्टे को भी प्रदेश प्राप्ति का एक प्रकार माना है। सन् 1998 में चीन ने जाते प्रदेश जर्मनी, फ्रांस तथा रूस को पट्टे पर दिए। सन् 1903 में पनामा गणराज्य ने स्थायी पट्टे पर पनामा नहर क्षेत्र अमेरिका को सौंप दिया। दूसरे महाकद के समय ग्रेट ब्रिटेन ने कैरिबियन समुद्र और सीमावर्ती समुद्रों के अनेक नी सैनिक तथा हवाई अड्डे संयुक्त राज्य अमेरिका को 99 वर्ष के पट्टे पर दिए हैं। पट्टे पर देने वाली कानूनी स्थिति व्यवहार में अधिक शक्तिशाली नहीं होती है। इस प्रकार ली गई भूरि के नियन्त्रण के हस्तान्तरण नाममात्र के प्रादेशिक सम्प्रभु की राय जाने विना ही किए जाते रहे हैं।

**8. गिरवी (Pledge)**—कभी—कभी ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जब किसी राज्य को अन्य राज्य 'से कर्जा लेना पड़ता है। ऋण देने वाला देश जमानत के रूप में किसी वस्तु की मांग कर सकता है। ऐसी स्थिति में ऋण लेने वाला देश जमानत के रूप में अपने राज्य का कुछ प्रदेश गिरवी रख देता है। ऋण चुकता करने पर अपना प्रदेश वापस ले लेता है। सन्

1768 में जेनेवा के प्रजातन्त्र गणतन्त्र ने कारसिका के द्वीप को फ्रांस के पास गिरवी रख दिया था।

**9. जनमत संग्रह**—वर्तमान युग लोकतन्त्र का युग है। लोकतन्त्र के दो रूप होते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र । प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन जनमत संग्रह है। जनमत संग्रह लोगों के हाथ में ऐसी शक्ति है जिसके माध्यम से वह सरकार के कार्यों पर नियन्त्रण रखती है। सरकार जो भी कार्य करती है उस पर जनता की राय ली जाती है। कभी—कभी ऐसी परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं जब एक राज्य के प्रदेश को दूसरे राज्य के प्रदेश में शामिल करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि जनता की राय ली जाए। जनता की राजनीतिक विषयों पर राय लेने को जनमत संग्रह (Plebicite) कहा जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् कुठ हिस्सों को लेकर भारत तथा पाकिस्तान में विवाद था। कश्मीर विलय को लेकर पं. जवाहर लाल नेहरू ने जनमत संग्रह की बात कही थी। पाकिस्तान के सैनिक गठबन्धनों में शामिल होने के कारण जनमत संग्रह का महत्व समाप्त हो गया।

**10. नये राज्यों के उदय होने पर** (By newly Emerged States)— दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के बहुत से देश यूरोप के साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी राज्यों से स्वतन्त्र हुए। इन नवोदित राष्ट्रों ने अपने—अपने क्षेत्र अथवा प्रदेश पर प्रभुत्व सम्पन्नता प्राप्त की। पाकिस्तान, बंगलादेश, इजरायल आदि देश जो पहले किसी देश के भाग थे, स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् ही राष्ट्रीयता तथा प्रभुत्व सम्पन्नता प्राप्त कर सके। नये राज्य के बनने पर लोगों की प्रभुत्व सम्पन्नता राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता में जाती है।

**राज्य के प्रदेशों का खोना (Loss of State Territory)**—

राज्य प्रदेश प्राप्ति के जिन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें स्वामीहीन प्रदेशों से सम्बन्धित प्रकारों को छोड़कर अन्य सभी प्रदेश खोने के साधन भी हैं। जब एक राज्य को प्रदेश प्राप्त होता है तो दूसरी तरफ किसी न किसी राज्य द्वारा अपना प्रदेश खोया भी जायेगा।

**प्रदेश भी दो विधियों से खोया जाता** है—

1. कृत्रिम साधन (Artificial Methods)

2. प्राकृतिक साधन (Natural Methods or operations of Nature)

प्रो. ओपेनहीम ने राज्य प्रदेश खोने के निम्नलिखित प्रकारों का वर्णन किया है—

1. हस्तान्तरण (Cession)

२. त्याग (Dereliction)

3. अधीनता (Subjugation)

4. दीर्घकालीन भोग (Prescription)

5. मेट्रोपोलिटन (Metropolitan)

6. प्राकृतिक कार्य (Operation of Nature)

**1. हस्तान्तरण (Cession)—**कोई भी राष्ट्र हस्तान्तरण द्वारा राज्य प्राप्त करता है। एक राज्य के क्षेत्र में हस्तांतरण के कारण वृद्धि हो जाती है। जब एक राज्य के प्रदेश में हस्तान्तरण में वृद्धि होती है तो दूसरे राज्य के प्रदेश में कमी आ जाती है अर्थात् उसका प्रदेश खो जाता है अर्थात् दूसरा राज्य उस प्रदेश से. वंचित हो जाता है।

**2. त्याग (Dereliction)—** प्रदेश खोने की इस विधि की समानता प्रदेश प्राप्त करने की विधि आवेशने से की जा सकती है।

इसके अन्तर्गत एक प्रदेश को वर्तमान स्वामी राज्य की सम्प्रभुता से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। यह राज्य सदैव के लिए हटने के अभिप्राय से उस प्रदेश का परित्याग करता है तथा सम्प्रभुता के सभी तरीकों को यहां से हटा लेता है।

**3. अधीनता (Subjugation)**—जिस तरह विजय द्वारा राज्य प्रदेश की वृद्धि हो जाती है उसी तरह युद्ध में पराजित हो जाने पर क्षेत्र खोया जाता है। एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को युद्ध में पराजित करके उसके किसी भू—प्रदेश पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार युद्ध में पराजित होने पर कोई राज्य अपना प्रदेश खो बैठता है।

**4. दीर्घकालीन भोग (Prescription)**—जब किसी राज्य के प्रदेश पर किसी दूसरे राज्य का दीर्घकाल तक आधिपत्य रहता है तो आधिपत्य रखने वाला राज्य चिर भोग द्वारा उसे प्राप्त करता है। जिस राज्य का प्रदेश यह पहले था वह उसे खो बैठता है।

**5. क्रान्ति (Revolt)**—क्रान्ति को प्रदेश खोने का एक ऐसा तरीका माना जा सकता है जिसके समरूप प्रदेश प्राप्ति का कोई तरीका नहीं है। प्रदेश खोने में क्रान्ति का बहुत योगदान रहता है। क्रान्ति के परिणामस्वरूप नये राज्य का जन्म होता है तथा पूर्ववर्ती राज्य का प्रदेश कम हो जाता है।

**मैट्रोपोलिटन (Metropolitan)**

मेट्रोपोलिटन राज्य द्वारा अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता प्रदान करना रोज्य क्षेत्र को खोने का ऐसा हंग है जहाँ एक राज्य क्षेत्र खोता है किन्तु अन्य राज्य उस क्षेत्र को अर्जित नहीं करता। उपनिवेश पृथक्ता के बाद नया तथा पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व अर्जित करता है।

**प्राकृतिक कार्य प्रकृति के कार्य (Operations of Nature)**

प्रदेश खोने में प्रकृति के कार्य उसी प्रकार महत्त्व रखते हैं जिस प्रकार उपचय (Accretion) प्रदेश प्राप्त करने में रखता है। उपचय द्वारा एक राज्य का क्षेत्र बढ़ सकता है किन्तु प्रकृति के कार्यों द्वारा यह घट भी सकता है।

ज्वालामुखी के फटने पर, समुद्र में टापुओं के नष्ट होने पर तथा सीमा पर स्थित नदी की धारा में परिवर्तन होने पर एक राज्य का प्रदेश कम हो जाता है। जब समुद्र तट के टापू जल में निमग्न हो जाते हैं तो उनके सिरे से नापी जाने वाली प्रादेशिक समुद्र की सीमा समुद्री तट से नापे जाने लगती। है। । भूकम्प के परिणाम से भी किसी द्वीप का लोप हो सकता है। कई छोटे द्वीप पिछले 200 वर्षों में विलुप्त हो चुके हैं।

पश्चिमी बंगाल में स्थित तीन नदियों तथा समुद्र से घिरा हुआ 'धोरमरा द्वीप' जो 25 किलोमीटर परिधि में फैला हुआ था, घटकर 10 किलोमीटर की परिधि में रह गया है।

यदि एक तटवर्ती नदी अपना बहाव बदल लेती है तो सम्बन्धित राज्य का बड़ा प्रदेश कट सकता है क्योंकि उसकी सीमा नदी के नए बहाव की मध्य रेखा तक रहेगी।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— राज्य के प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के ऊपरवर्णित तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रदेश प्राप्त करना तथा खोना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। समय—समय पर ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं जिसके कारण किसी राज्य के क्षेत्र में वृद्धि होती है तो उन्हीं घटनाओं के कारण किसी राज्य द्वारा अपना क्षेत्र खोने के लिए विवश होना भी पड़ सकता है। एक राज्य के क्षेत्र में वृद्धि का अभिप्राय है, अन्य राज्य के क्षेत्र में कमी। बहुत—सी ऐसी घटनाएँ भी घटित हो जाती हैं जिनमें मनुष्य का कोई योगदान नहीं होता। प्रकृति के द्वारा भी राज्य अपना प्रदेश खो देता है। भूकम्प, ज्यालामुखी के फटने, समुद्र में टापुओं का विलीन होना प्राकृतिक आपदाएँ हैं जिन पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं है। इस प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं के कारण राज्य का क्षेत्र लुप्त हो जाता है अथवा घट जाता है। प्रदेश खोने में प्रकृति के कार्य उसी प्रकार महत्त्व रखते हैं जिस प्रकार उपचय प्रदेश प्राप्त करने में रखता है।

# 11 राज्य अधिकारिता [State Jurisdiction]

### 1. राज्य के राज्य क्षेत्रीय, समुद्र तथा बायु पर अधिकारिता का वर्णन करें। (Discuss the jurisdiction of State over land, sea and air.)

**उत्तर**— 'राज्य अधिकारिता' का मतलब उस विधिक क्षमता से है, जिसको एक राज्य अपने सम्बन्धित राज्य—क्षेत्र पर प्रयोग करता है। 'क्षमता' शब्द अधिक व्यापक है और यह विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायिक क्षमता को शामिल करता है। इस प्रकार नियमों का निर्माण करने एवं निर्णय करने की शक्ति अर्थात् आदर्शात्मक अथवा विधायी अधिकारिता के अंतर्गत आती है और उन्हें प्रवर्तित करने की शक्ति राज्य की अधिकारिता के अन्तर्गत आती है। राज्य अधिकारिता का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा आंतरिक विधि दोनों सेसे होता है। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अधिकारिता का प्रश्न है, यह राज्य अधिकारिता की वह सीमायें निर्धारित करती है जिसकी अनुमति है। आंतरिक विधि के अन्तर्गत अधिकारिता उस सीमा तथा ढंग को निर्धारित करती है जिसके अन्दर वास्तव में राज्य अधिकारिता का प्रयोग करता है। राज्य अधिकारिता का उपयोग प्रभुत्व सम्पन्नता के कारण ही करता है। इस प्रकार अधिकारिता प्रभुत्व पर आधारित होती है परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य चाहे जैसी परिस्थितियाँ होने पर अधिकारिता का उपयोग या प्रयोग कर सकता है। जिसे एक राज्य अधिकारिता का प्रयोग समझता है, अन्य राज्य उसे अपने प्रभुत्व सम्पन्न अधिकारों का उल्लंघन समझ सकते हैं।

राज्य अधिकारिता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि में कोई निश्चित नियम नहीं है। इस विषय में विधि का विकास मुख्यतथा राष्ट्रीय न्यायालयों के न्यायिक विनिश्चयों के द्वारा हुआ है। राज्य की अधिकारिता निम्न प्रकार की हो सकती है—

**राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता (Territorial Jurisdiction)**—एक राज्य की अपने राज्य—क्षेत्र पर अधिकारिता होने को राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्दर समस्त वस्तुओं और व्यक्तियों पर सर्वोच्च सत्ता का अधिकार रखता है। राज्य के समस्त प्राणी और पदार्थों पर राज्य का पूरा अधिकार होता है। राज्य का अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रहता है तथा किसी भी बाहरी शक्ति को राज्य में हस्तक्षेप करने की आज्ञा प्रदान नहीं की जाती है।

सारांश में राज्य को अपने प्रदेश में जो अधिकार प्राप्त होता है, उसे क्षेत्राधिकार कहा गया है। एक सम्प्रभु राज्य के रूप में प्रत्येक देश अपनी प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर क्षेत्राधिकार रखता है और इन सीमाओं में उत्पन्न सभी दीवानी और फौजदारी मामलों पर विचार करने का अधिकार रखता है।

**राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता की सीमायें (Limitations of Territorial Jurisdiction)** — प्रत्येक राज्य में ऐसे लोग या वस्तुएँ होती है जिनको पूर्णतः या अंशतः राज्य के क्षेत्राधिकार से अलग रखा जाता है और जिनके ऊपर उस राज्य का कानून लागू नहीं होता।" कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जिसमें व्यक्ति या वस्तु राज्य के क्षेत्र में ही स्थित हो, परन्तु राज्य उस पर अधिकारिता का प्रयोग न कर सके। ये अपवाद इस प्रकार हैं—

**1. राजनयिक प्रतिनिधि (Diplomatic Agents)**—राजनयिक प्रतिनिधियों को राज्य के अधिकार तथा शक्तियों से उन्मुक्त माना जाता है। यही कारण है कि वे ग्रहणकर्ता राज्य के दीवानी तथा फौजदार न्यायालयों की अधिकारिता के बाहर माने जाते हैं। इस विषय में प्राचीन मत यह था कि राजनयिक प्रतिनिधियों को उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार इसलिए प्राप्त होते हैं कि ये राज्य की अधिकारिता के बाहर माने जाते हैं। वर्तमान समय में इस मत को नहीं माना जाता है। आधुनिक मत के अनुसार, राजनयिक प्रतिनिधियों को उनके कार्यों की प्रकृति तथा सुविधा के लिए ऐसे अधिकार प्राप्त होते हैं।

**2. विदेशी दूतावास (Embassies)**—विदेशी दूतावास सामान्यतथा राज्यों के क्षेत्राधिकार से बाहर माने जाते हैं। दूतावासों के अधिकतर मामलों में उस राज्य का कानून लागू नहीं होता है, जहाँ वे स्थित होते हैं बल्कि जिस देश का दूतावास होता है, उसी देश का कानून उन पर क्रियान्वित होता है।

**3. विदेशी प्रभुत्वसम्पन्न शासक (Foreign Sovereigns)** — विदेशी प्रभुत्व सम्पन्न शासक बहुधा राज्य के क्षेत्राधिकार के

बाहर माने जाते हैं तथा इन्हें बहुत सी उन्मुक्तियों एवं विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। किसी और राज्य या उसके अध्यक्ष पर दूसरा राज्य उस समय तक मुकदमा नहीं चला सकता जब तक कि वह स्वयं ही इन न्यायालयों का क्षेत्राधिकार स्वीकार न कर ले। यह उन्मुक्ति जिन कारणों से प्रदान की जाती है उनसे सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख प्रो० स्टार्क ने किया है। ब्रिटेन के सर्वोच्च न्यायालय हाऊस ऑफ लॉर्डस ने 'डफ डेवलपमेण्ट कालिबानाम केलेंटन की सरकार (Duff Development Co. Ltd. Vs Government of Kelantan) में उपर्युक्त नियम का अनुमोदन कर दिया। इसी प्रकार Cristinia नामक मुकदमे में लार्ड राइट ने कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून का साधारण सिद्धान्त यह है कि एक स्वतन्त्र राज्य के क्षेत्राधिकार से विमुक्त रहता है।"

**4. विदेशी प्रभुत्वसम्पन्न की सम्पत्ति** (Property of Foreign Sovereigns)—प्रभुत्व सम्पन्न शासक के व्यक्ति को विदेशी राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्रभुत्व सम्पन्न शासक की सम्पत्ति या राज्य की सार्वजनिक सम्पत्ति को भी कुछ उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। क्रिस्तीना (The Christina) के बाद में हाऊस आफ लॉर्डस ने अपने निर्णय में कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह सिद्धान्त है कि प्रभुत्व सम्पन्न 'राज्य अन्य प्रभुत्व सम्पन्न राज्य' की अधिकारिता से मुक्त है। लार्ड राइट (Lord Wright) के अनुसार, यह नियम इस सिद्धान्त पर आधारित है कि "कोई राज्य दूसरे प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के ऊपर अपना क्षेत्राधिकार नहीं रख सकता है।" हाऊस आफ लॉर्डस ने यह भी कहा कि ब्रिटिश न्यायालय अपनी प्रक्रिया द्वारा विदेशी प्रभुत्व सम्पन्न शासक की सम्पत्ति को न रोकेंगे एवं न ही उसे जब्त करने का आदेश देंगे, चाहे प्रभुत्व सम्पन्न शासक सम्बन्धित वाद का पक्षकार हो अथवा नहीं।

**5. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ (International Institutions)** — विश्व में आजकल अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाए कार्यरत हैं, जैसे—संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ, यूनेस्को, आदि। ये सभी संगठन राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्त माने गये है। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 1946 तथा 1947 में संगठन राज्य के क्षेत्राष् Priviliges and Immunities' को स्वीकृति प्रदान की है। ब्रिटेन ने इस संबंध में British International Organizations and Priviliges Act.' पारित किया है।

**6. प्रत्यर्पण सन्धियाँ** (Extradition Treaties)—प्रत्यर्पण—सन्धियों के अनुसार, जो अपराधी अपराध करके विदेश भाग जाते हैं, उनको कानूनी कार्यवाही के लिए सम्बन्धित राज्य वापत माँग सकता है।। इस प्रकार वह व्यक्ति, जो राज्य के प्रवेश के बाहर चले जाते हैं, उन पर भी एक प्रकार की अधिकारिता रहती है।

**7. विदेशी सशस्त्र सेना (**Foreign Armed Forces)—यदि कोई राज्य विदेशी फौजों को अपने राज्य के भीतर से जाने की अनुमति प्रदान करता है, तो ऐसा राज्य उक्त विदेशी फौजों पर क्षेत्राधिकार नहीं रख सकता। इस तथ्य की अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने स्कूनर एक्सचेंज बनाम मैक फैडान—1812 के वाद में पुष्टि की थी।

**8. विदेशी युद्धपोत तथा उनके दल** (Foreign Warships and their Crew) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत युद्धपोतों को भी उन्मुक्ति प्राप्त होती है। युद्धपोतों को विधिक प्रक्रियाओं, निष्पादन वा अधिकारिता सम्बन्धी कार्यवाहियों से उन्मुक्ति प्राप्त होती है। यह उन्मुक्ति कमान्डर, नाविकों तथा युद्धपोत को प्राप्त होती है। यह उन्मुक्ति सरकारी कार्यों या राज्य कृत्यों के लिए भी उपलब्ध होती है चाहे वह अवैध ही क्यों न हो। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराधों के लिए उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती है जब कमान्डर या नाविक विदेशी राज्य में कपट वेश या छद्मवेश (Disguise) में प्रवेश करते हैं। ऐसी दशा में युद्धपोत को 'जासूस' कहा जाता है तथा उसे जब्त किया जा सकता है।

**सिविल अधिकारिता (Civil Jurisdiction)**— प्रत्येक राज्य में अनेक प्रकार के लोग निवास करते हैं। सम्प्रभु होने के कारण राज्य उन सभी पर क्षेत्राधिकार रखता है। राज्य को उन सभी व्यक्तियों के सम्बन्ध में सिविल अधिकारिता को प्रयोग करने का अधिकार है, जो उसके राज्य क्षेत्र में पाये जाते हैं। इस प्रकार विदेशियों (Aliens) के सिविल मामलों का निर्णय उसके द्वारा किया जाता है, यदि वे उसके राज्य—क्षेत्र की सीमाओं के अन्तर्गत पाये जाते हैं। वे ऐसे अधिकारिता के प्रयोग से उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकते, यदि वे यह व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो जाते कि (अ) कुछ विशेष उन्मुक्ति के कारण वे प्रवर्तित स्थानीय विधि के अधीन नहीं है, या (ब) स्थानीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि से असंगत है, तब वे राज्य की अधिकारिता दे अन्तर्गत नहीं आयेंगे। राज्य वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि को उन मामलों में लागू कर सकता है जहाँ विदेश तत्त्व शामिल होते हैं। अपने

राज्य—क्षेत्र में पाये जाने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त, राज्य विदेश में यात्रा करने वाले या निवास करने वाले अपने नागरिकों पर भी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिप उन पर आधिकारिता के प्रयोग से राज्य को नहीं रोकती। ऐसे व्यक्ति उस राज्य की आधिकारिता के अन्तर्गत भी आते हैं, जिससे वे सम्बन्धित हैं क्योंकि वे उनकी व्यक्तिगत सर्वोच्चता के अन्तर्गत रहते हैं। इस प्रकार विदेशी एक ही समय में दो राज्यों की अधिकारिता के अन्तर्गत रहते हैं, अर्थात् उस राज्य की अधिकारिता के अन्तर्गत जहाँ वे निवास करते हैं तथा जहाँ के वे नागरिक हैं। एक राज्य अपने राज्य—क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के ऊपर राज्य क्षेत्रीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर अधिकारिता धारण करता है तथा अपने नागरिकों पर चाहे वे कहीं भी हों, व्यक्तिगत सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर अधिकारिता का प्रयोग करता है।

**दाण्डिक अधिकारिता (Criminal Jurisdiction)**— अन्तर्राष्ट्रीय विधि में दण्ड आधिकारित के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। इस विषय में राष्ट्रों में अत्यधिक मतभेद है। अन्तर्राष्ट्रीय दण आधिकारिता के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रचलित हैं—

1. **राज्य क्षेत्रीय सिद्धान्त** (Territorial Principle) — पहले सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक राष्ट्र अपने दाण्डिक आधिकारिता की प्रादेशिकता (Territoriality of Criminal Jurisdiction) रखता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका आदि हैं। ये देश सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रदेश के अन्दर ही अपराध के मामलों में अधिकारिता रखता है तथा अपराधियों को दण्ड देने का अधिकारी है। राज्य सभी व्यक्तियों को दण्डित कर सकता है, चाहे वे अपने नागरिक हों या विदेशी, यदि अपराध उसके राज्य—क्षेत्र के अन्तर्गत किया जाता है। राज्य क्षेत्रीय दाण्डिक आधिकारिता विभिन्न सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका सामान्य औचित्य यह है कि अपराधों का निपटारा उन राज्यों द्वारा किया जाना चाहिए जिनकी सामाजिक व्यवस्था निकट से प्रभावित होती है। पुनः अपराधों का दमन करने में राज्य क्षेत्रीय राज्य का अत्यधिक हित, अत्यधिक सुविधा तथा अति शक्तिशाली उपाय है, चाहे वह नागरिकों द्वारा या उसके राज्य—क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाले विदेशियों द्वारा किया जाए।

2. **राष्ट्रीय सिद्धान्त (Nationality Principle)**— दूसरे सिद्धान्त के समर्थक फ्रांस, जर्मनी तथा अन्य राष्ट्र हैं। ये राष्ट्र आपराधिक अधिकारिता की प्रादेशिकता के उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हैं। परन्तु उपर्युक्त मत के साथ कुछ अपवादों को भी मानते हैं। संक्षेप में, ये राष्ट्र ने दण्ड अधिकारिता की प्रादेशिकता के मत में व्यवस्था के आधार पर अपने प्रदेश के बाहर के आपराधिक मामलों में अधिकारिता रखते हैं। अनेक ऐसे मामले है जिनमें राष्ट्र अपने प्रदेश के बाहर के अपराध के मामलों में अधिकारिता रखते हैं। राज्य को पूर्णतथा विदेश में घटने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी अपने राष्ट्र की अपनी विधियों को लागू करने का अधिकार है। विदेशियों द्वारा स्वीकार किए गये निष्ठा के साक्ष्य के रूप में तथा राष्ट्रीयता के उत्तरदायित्व की उपेक्षा करने में भी अधिवास तथा अन्य अभिसमयों पर विचार करके अधिकारिता को लागू किया जा सकता है। इस प्रकार की अधिकारिता को राष्ट्रीयता सिद्धान्त कहा जा सकता है।

3. **निष्क्रिय व्यक्तित्व सिद्धान्त (Passive Personality Principle)**— कोई व्यक्ति देश में या विदेश में अपने द्वारा किए गये कार्यों के लिए दण्डित किया जा सकता है, यदि उसके कार्य राज्य के किसी नागरिक को क्षति पहुँचाते हैं। इस प्रकार की अधिकारिता को निष्क्रिय व्यक्तित्व अधिकारिता कहते हैं।

4. संरक्षाणात्मक सिद्धान्त (Protective Principle)— इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की अधिकारिता को अपराध द्वारा क्षत राष्ट्रीय हित के निर्देश द्वारा निर्धारित किया जाता है। कई राज्य विदेशों में कार्य करने वाले अन्य देशियों पर अधिकारिता का दावा करते हैं, यदि वह ऐसा करके स्वयं राज्य की सुरक्षा एवं लोक व्यवस्था के प्रति खतरा उत्पन्न करते हैं। ऐसे कार्य राजद्रोह (High treason), विदेशी बैंक नोट तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों को शामिल करते हैं। ऐसी अधिकारिता को संरक्षात्मक सिद्धान्त कहा जाता है।

5. सार्वजनिक सिद्धान्त (Universal Priniciple)— सार्वजनिक सिद्धान्त या सार्वभौमिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य अधिकारिता से तात्पर्य ऐसी अधिकारिता से है जो सभी राज्यों को प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, समुद्री डाका एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है जिस पर सभी राज्यों को अधिकारिता प्राप्त होती है। ईशमैन बाद (Eichman Case, 1962) में इजराइल के सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि युद्ध अपराधों के विषय में भी राज्यों को सार्वभौमिक अधिकारिता

प्राप्त है। अनेक लेखकों के अनुसार वायुयान अपहरण के सम्बन्ध में भी सार्वभौमिक अधिकारिता होती है। सार्वभौमिक सिद्धान्त के अनुसार अधिकारिता सभी राज्यों को प्राप्त होती है। कई राज्यों ने गैर—नागरिकों के कार्यों पर अधिकारिता स्वीकार करने वाले सिद्धान्त को सामान्यतथा परिसीमाओं के साथ अंगीकार किया है, जहाँ अपराध की प्रकृति को शामिल करके परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक नीति के मामले के रूप में अपराध के कुछ प्रकारों के दमन को न्यायोचित ठहराती हैं। इस प्रकार, सार्वभौमिक सिद्धान्त के अधीन कार्य करने का दावा करने वाला राज्य राष्ट्रीयता या अपराध करने के स्थान या अभियोजित करने वाले राज्य तथा अपराधों के बीच के सम्बन्ध के प्रश्न के बावजूद किसी भी अपराधी पर अधिकारिता के प्रयोग का दावा करता है।

**समुद्रतटीय राज्य की सामुद्रिक पेटी में दण्ड अधिकारिता (Criminal Jurisdiction of the Coastal Scale in the Territorial Sea)** — समुद्रतटीय राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता सामुद्रिक पेटी तक होती है। लेकिन यह इस शर्त के अधीन है कि सामुद्रिक पेटी में सभी राज्यों के जहाजों को निर्दोष माँग प्राप्त करने का अधिकार होता है। जहाँ तक विदेशी जहाजों का सम्बन्ध है, सामुद्रिक तथा पार्श्ववर्ती पेटी के जेनेवा—अभिसमय, 1958 के अनुच्छेद 19 में यह प्रावधान है कि समुद्रतटीय राज्य द्वारा अपने आपराधिक क्षेत्राधिकार का उपयोग सामुद्रिक पेटी से गुजरने वाले जहाजों पर किसी व्यक्ति द्वारा उक्त जहाजों पर कि गये अपराधों के लिए गिरफ्तार आदि करने के लिए नहीं करना चाहिए। ऐसा केवल निम्नलिखित परिस्थितित में ही किया जा सकता है—

(i) यदि अपराध का प्रभाव समुद्रतटीय राज्य पर पड़ता है।

(ii) यदि अपराध की प्रकृति ऐसी है कि उससे देश की शान्ति में या सामुद्रिक पेटी को समुद्र—व्यवस्था में विघ्न पहुँचता है।

(iii) यदि जहाज के कप्तान या उस जहाज के झण्डे वाले देश की काउन्सिल ने स्थानीय अधिकारियों से सहायता की प्रार्थना की है।

(iv) यदि मादक दवाईयों के अवैध व्यापार को रोकने के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

परन्तु उपर्युक्त प्रावधानों के अनुसार समुद्रतटीय राज्य को उन जहाजों के विरुद्ध जो आंतरिक पानी से गुजर कर सामुद्रिक पेटी में पहुँचते हैं, कार्यवाही करने का अधिकार प्रभावित नहीं होता है।

**खुले समुद्र पर अधिकारिता (Jurisdiction on the High Seas)**— ग्रोशियस ने महासमुद्रों पर किसी राज्य प्रभुसत्ता का विरोध दो तकों के आधार पर किया (i) कोई भी राज्य प्रभावशाली रूप से इस पर अपना स्वामित्व नहीं बनाये रख सकता। (ii) महासमुद्र प्रकृति की ऐसी देन है जो कभी समाप्त न होने वाली और सभी लोगों के उपयोग में आने वाली है और इसलिए मुक्त वायु की भाँति प्रकृति इस पर किसी को नियन्त्रण नहीं दे सकती।

कोई भी राज्य प्राथमिक रूप से महासमुद्र पर अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि न तो यह किसी राज्य की सम्पत्ति है और न ही उससे सम्बन्धित है। परन्तु जलयान तथा उस पर स्थित वस्तुएँ तथा व्यक्ति, उस दौरान, जब वे महासमुद्र पर होती हैं, उस राज्य की अधिकारिता के अधीन रहते हैं, जिसके ध्वज के अधीन जलयान संचालित होते हैं।

**समुद्र विधि अभिसमय, 1982 (The Convention of the Law of the Sea of 1982)** अनुच्छेद 92 के अधीन प्रावधान करता है कि "जलयान केवल एक राज्य के ध्वज के अधीन जलयात्रा करेंगे तथा खुले समुद्र पर उसकी अनन्य (Exclusive) अधिकारिता के अधीन होंगे।" अभिसमय अनुच्छेद 97 के अधीन प्रावधान करता है कि खुले समुद्र में टक्कर या नौचालन से सम्बन्धित किसी अन्य घटना के मामले में जिसमें कप्तान या जहाज की सेवा में कोई अन्य व्यक्ति आपराधिक या अनुशासीय जिम्मेदारी का मामला सम्मिलित है, कोई भी कार्यवाही केवल झंडे वाले राज्य या सम्बन्धित व्यक्ति जिस राष्ट्रीयता का का है। उस राज्य के न्यायिक या प्रशासनिक प्राधिकारियों के समक्ष ही की जा सकती है। राज्य के अतिरिक्त किसी भी प्राधिकारी द्वारा जहाज की गिरफ्तारी का विरोध, चाहे जाँच के लिए ही क्यों न हो, आदि के आदेश नहीं दिए जायेंगे। खुले समुद्र पर समुद्री ध्वज धारण करने वाले राज्य की अधिकारिता इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि कतिपय विधि व्यवस्था राष्ट्रीय विधियों के नियम के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के सहयोग से सृजित की गयी है। महासमुद्र अथवा खुले समुद्र पर

अधिकारिता का प्रयोग करते समय दो बातों पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है। ये हैं, प्रथम, राज्य की अधिकारिता को इस प्रकार खुले समुद्र पर अधिकारिता के रूप में नहीं मानना चाहिए। इसका विस्तार केवल खुले समुद्र पर जलयानों, व्यक्तियों तथा सामानों तक ही होता है, तथा दूसरे, अधिकारिता मुख्यतथा, किन्तु अनन्य रूप से नहीं, ध्वज राज्य के निहित होती है, जिसके अधीन जलयान जलयात्रा करते हैं। हैं। दूसरी बात में यह निहित है कि विशेष मामलों में, राज्य सभी समुद्री राष्ट्रों के हित में विदेशी जलयानों पर अधिकारिता का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसे मामले निम्नलिखित हैं—

**1. तीव्र अनुसरण अथवा पीछा करने का अधिकार** (Right of hot pursuit)— जब कोई जहान किसी राष्ट्र के क्षेत्रीय समुद्र में उपस्थित रहने के समय उस समुद्र तलीय राष्ट्र के कानूनों और नियमों का उल्लंघन करता है तो वह राष्ट्र उस विदेशी जहाज का पीछा करके उसे गिरफ्तार कर सकता है। यह तीव्र अनुसरण या पीछा करने (Hot Pursuit) का अधिकार कहलाता है। तटवर्ती राज्यों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा उसे यह अधिकार दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तटवर्ती राज्यों को इस प्रकार से प्रदत्त अधिकार का आशय यह है कि यदि कोई तटवर्ती राज्य किसी प्रमाण के आधार पर यह समझता है कि किसी विदेशी जहाज ने उसके कानूनों और नियमों का उसकी प्रादेशिक सीमा के भीतर उल्लंघन किया है तो महासमुद्रों में इस जहाज का पीछा करके उसे पकड़ा जा सकता है।

राष्ट्रों की विधि के संहिताकरण से सम्बन्धित हेग सम्मेलन, 1931 के अन्तिम अधिनियम जो कि क्षेत्रीय सागर की वैध स्थिति (Legal Status of the Territorial Sea) के सम्बन्धों में था, द्वारा एक मसौदा तैयार किया गया। उसके अनुसार विदेशी पोतों का पीछा करना जो कि तटवर्ती राज्य के नियमों और कानूनों का उल्लंघन करते हैं, उस समय आरम्भ होता है जबकि विदेशी पोत राज्य के भीतरी जल—क्षेत्र में क्षेत्रीय समुद्र के भीतर हो। यदि पीछा करने का विरोध न किया गया तो क्षेत्रीय सीमा के बाहर भी उस पोत का पीछा किया जा सकता है। पीछा करने का अधिकार उस समय समाप्त हो जाता है जबकि वह पोत जिसका पीछा किया गया है, राज्य के क्षेत्रीय समुद्र के बाहर या तीसरे राज्य के क्षेत्रीय समुद्र में प्रवेश कर जाता है। तीव्र पीछा करने का अधिकार Storys द्वारा 'Marianna Flora' [(1826) Wheaton 11,42) में माना गया है, यद्यपि ऐसा कहा गया था कि "ऐसे मामलों में पक्षकार अपने खतरे पर पोत गिरफ्तार करते हैं। यदि वह गिरफ्तार करने के काम को सिद्ध कर देते हैं तो वह न्यायोचित माना जायेगा। अगर यह असफल रहते हैं तो यह क्षति की पूर्ति के लिए उत्तरदायी होंगे।"

**तीव्र अनुसरण की शर्तें (Conditions for Hot Pursuit)**— तीव्र अनुसरण केवल निम्नलिखित शों के साथ किया जा सकता है—

(i) तीव्र—अनुसरण तत्काल उसी समय प्रारम्भ हो जाना चाहिए, जबकि विदेशी जलपोत या जहाज तटवर्ती राज्य के प्रादेशिक समुद्र में हो। इसके साथ ही जलपोत तटवर्ती राज्य के संस्पर्शी—क्षेत्र (Contiguous Zone) में भी हो तो इसका अनुसरण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत वैध माना गया है।

(ii) तीव्र—अनुसरण—प्रक्रिया निरन्तर तथा निर्वाध (Continuous and Uninterrupted) होनी चाहिए।

(iii) ऐसे जहाज या जलपोत का तीव्र अनुसरण करने से पहले दृश्य—श्रव्य—संकेत द्वारा उसे रुकने के लिए चेतावनी उपयुक्त दूरी से दी जानी चाहिए, जिसे वह देख या सुन सके।

(iv) पीछा करने वाले जहाज युद्धपोत, सैनिक—विमान या अधिकार—सम्पन्न गश्ती जहाज होने चाहिए।

**तीव्र—अनुसरण सम्बन्धी व्यवस्थायें**—1958 में सम्पन्न हुये महासमुद्रों के अभिसमय, 1958 (Convention on High Seas, 1958)—में शामिल 87 राज्यों ने तीव्र अनुसरण के सम्यन्ध में घारा 23 में निम्नलिखित व्यवस्थायें की हैं— "जब तटवर्ती राज्य के पास यह विश्वास करने का उत्तम प्रमाण हो कि किसी जलपोत ने उस राज्य के कानूनों और नियमों का उल्लंघन किया है तो उस विदेशी जलपोत का तीव्र—अनुसरण किया जा सकता है। यह अनुसरण तटवर्ती राज्य के आंतरिक समुद्र (Internal Water) अथवा प्रादेशिक समुद्र (Territorial Sea) में आरम्भ होना चाहिए। यदि विदेशी जहाज संस्पर्शी—क्षेत्र (Contiguous—Zone) में हो तो उसका अनुसरण या तीव्र—पीछा तभी किया जा सकता है, जब उसने ऐसे नियमों का उल्लंघन किया हो, जिनके पालन के लिए यह क्षेत्र स्थापित किया गया हो।"

**समुद्र विधि पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1982**—समुद्र विधि पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1982 के अनुच्छेद 3 के अनुसार विदेशी जहाज का सरगर्मी से पीछा किया जा सकता है। जब राज्य के सक्षम अधिकारियों को युक्ति युक्त विश्वास है कि जहाज ने उस राज्य की विधियों एवं नियमों का उल्लंघन किया है। ऐसा पीछा तब आरम्भ होना चाहिए जब पीछा करने वाले विदेशी जहाज या उसकी कोई नाव पीछा करने वाले राज्य के आंतरिक पानी, आर्की पिलोगिक पानी, सामुद्रिक पेटी या पार्श्ववर्ती पेटी में है तथा सामुद्रिक पेटी या पार्श्ववर्ती पेटी में तभी यह जारी रह सकती है जब पीछा बीच में रुका नहीं है। सरगर्मी से पीछा करने का अधिकार अपवर्जित आर्थिक क्षेत्र या महाद्वीपीय समुद्र तल के उल्लंघन की दशा में भी लागू होगा। सरगर्मी से पीछा करने का अधिकार उसी समय समाप्त हो जाता है जैसे ही पीछा किया जाने वाला जहाज अपनी या अन्य राज्यों की सामुद्रिक पेटी में प्रवेश करता है। सरगर्मी से पीछा तब तक प्रारम्भ नहीं माना जाता है जब तक पीछा करने वाला जहाज अपने को व्यावहारिक साधनों से सन्तुष्ट नहीं कर लेता है कि पीछा किए जाने वाला जहाज या उसकी कोई एक नाव सामुद्रिक पेटी के अन्दर है या उपयुक्त मामले में पार्श्ववर्ती पेटी या अपवर्जित आर्थिक पेटी के बाहर या महाद्वीपीय समुद्र तल के ऊपर है। तीव्र अनुसरण अथवा सरगर्मी से पीछा प्रारम्भ करने के पूर्व विदेशी जहाज के रुकने के लिए स्पष्ट संकेत इतनी दूरी से दिया जाना आवश्यक है कि वह इसे देख सके। उपर्युक्त प्रावधान हवाई जहाज द्वारा तीव्र अनुसरण अथवा सरगर्मी से पीछा करने में भी लागू होते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि तीव्र अनुसरण केवल युद्धपोत या सैनिक हवाई जहाज या ऐसे हवाई द्वारा किया जाए जिस पर स्पष्ट निशान हो कि वह सरकारी सेवा में है या उसके लिए प्राधिकृत है।

**2. जलदस्युता के संदेह पर निरीक्षण का अधिकार (**Right of visit on Suspicion of Piracy)—सभी युद्धपोतों का अधिकार होता है कि समुद्री डाका डालने वाले मालूम पड़ने पर उसके सही स्वरूप को निश्चित करने के उद्देश्य से यानों का निरीक्षण कर सकते हैं। सभी राज्यों के सैनिकों को खुले समुद्र पर अपना ध्वज दिखाकर संदिग्ध व्यक्तिगत जलयानों को आदेश देने की शक्ति प्राप्त है। यह शक्ति जलदस्युता के विरुद्ध महासमुद्र की सुरक्षा कायम रखने के लिए प्रदान की गई है। परन्तु इस शक्ति का प्रयोग तब किया जाना चाहिए, जब संदेह के लिए मजबूत आधार हो। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है, तो राज्य उत्तरदायी हो जाता है तथा राज्य से उन सैनिकों की ओर से प्रतिक्रिया याद करने की अपेक्षा की जाती है, जो संदेह के पर्याप्त कारण के बिना विदेशी व्यापारिक जहाज को रोकते हैं और निरीक्षण करते हैं।

**3. जलदस्युता को दण्डित करने का अधिकार (Right to Punish Piracy)**— चूंकि समुद्री डाका न्याय की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है, इसलिए जलदस्यु को प्रत्येक राज्य का शत्रु माना जाता है तथा वह राज्य जलदस्यु को दण्डित कर सकता है, जिसकी अधिकारिता में वह अपराध करता है। महासमुद्रों में की जाने वाली डकैती का दमन राष्ट्रीय आत्मरक्षा का एक वैध कार्य है। महासमुद्रों पर इसे रोकने के लिए युद्धपोतों की सहायता ली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम के अनुसार प्रत्येक समुद्री राज्य को जलदस्युओं को दण्डित करने का अधिकार है।

**4. नाकाबन्दी के दौरा युद्धरत देशों के अधिकार (Right of Bellirgents during Blockade)** — नाकाबन्दी तब होती है जब कोई युद्धरत देश शत्रु देश के समुद्री किनारे या उसके किसी हिस्से में जलयानों के आने—जाने पर रोक लगा देता है। परिवेष्टन या नाकाबन्दी करने का उद्देश्य शत्रु देश को सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाकर उसे आत्म—समर्पण करने के लिए मजबूर करना है। युद्ध के समय, युद्धरत देश न केवल बन्दरगाहों तथा अपने राज्य क्षेत्रीय समुद्र में बल्कि उन बन्दरगाहों तथा सागर खण्ड से संलग्न खुले समुद्र के भागों में भी नाकावन्दी को लागू कर सकते हैं और ऐसी नाकाबन्दी का उल्लंघन करने का प्रयास करने वाले तटस्थ व्यापारिक जहाज का अभिग्ग्रहण कर सकते हैं।

**5. राष्ट्रीयता विहीन जलयानों का सामना करने का अधिकार** (Right to Encounter Ships without Nationality) — ध्वज न लगाने वाले अथवा जब उन्हें ध्वज दिखाने के लिए कहा जाए तब उस समय ध्वज दिखाने से इन्कार करने वाले जलयानों को, किसी राज्य के जलयानों द्वारा नियंत्रण में लिया जा सकता है। किसी राज्य का युद्धपोत खुले समुद्र पर उस विदेशी जलयान का सामना करता है, जो राष्ट्रीयता विहीन है।

**राष्ट्रीय आकाश तथा वायुयान पर अधिकारिता (Jurisdiction over National Air and Aircraft)** — बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुक्त आकाश में राज्यों के प्रदेश के ऊपर गुब्बारों तथा नव—आविष्कृत हवाई जहाज के उड़ने पर क्षेत्राधिकार सम्बन्धी नये प्रश्न उत्पन्न हुए। यह निर्धारित करना आवश्यक बन गया कि एक राज्य को अपने प्रदेश के ऊपर स्थित आकाश पर कितना अधिकार है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में परम्परागत कानून चुप था क्योंकि उसके सामने कभी ऐसी समस्या ही नहीं आयी

थी।

न्यायशास्त्रियों ने भूमि और जल पर राज्य के क्षेत्राधिकार को आधार बनाकर ही वायु पर राज्य के क्षेत्राधिकार को निश्चित करने का प्रयास किया। ऐसा करते समय विचारकों में अनेक भिन्नतायें सामने आयीं। आरम में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये उनके अनुसार—

1. पहले सिद्धान्त के अनुसार, वायुमण्डल प्रत्येक राष्ट्र के लिए उपलब्ध है तथा प्रत्येक राष्ट्र का यान इस पर बिना रुकावट के आ—जा सकता है। इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना को जा सकती है क्योंकि यह अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के प्रतिकूल है। प्रत्येक राष्ट्र का उस वायुमण्डल के ऊपर नियंत्रण होता है और किसी दूसरे का यान उसके वायुमण्डल में तभी प्रवेश कर सकता है जबकि वह उसके लिए पहले अनुमति प्राप्त करे।

2. दूसरे सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक राष्ट्र की अपने वायुमण्डल पर असीमित ऊँचाई तक प्रभुसत्ता रहती है। उसे यह अधिकार है कि वह इस विषय में पूर्ण नियंत्रण रखे तथा बिना अपनो अनुमति के किसी दूसरे देश के यान को प्रवेश न करने दे। यह सिद्धान्त भी वर्तमान समय में उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब वायुमण्डल में अत्यधिक ऊँचाई तक यान सरलता से आ—जा सकते हैं। प्रत्येक देश के लिए यह सम्भव नहीं है कि असीमित ऊँचाई तक वह अपना नियंत्रण रख सके। क्योंकि असीमित ऊँचाई तक नियंत्रण सम्भव नहीं है, इसलिए राष्ट्र की असीमित ऊँचाई तक प्रभुसत्ता अर्थहीन तथा अप्रभावशाली होगी।

3. तीसरे सिद्धान्त के अनुसार, केवल वायुमण्डल के नीचे की तह पर राष्ट्रों का नियंत्रण रहता है तथा वहीं तक उसकी प्रभुसत्ता सीमित रहती है। यह सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों से अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि प्रभुसत्ता तभी प्रभावशाली हो सकती है जबकि राष्ट्र उस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण रख सकें। परन्तु कोई भी राष्ट्र सकारात्मक रूप से इसको मानने के लिए तैयार नहीं है।

4. चौथे सिद्धान्त के अनुसार, राष्ट्र ऊपरी वायुमण्डल के सम्बन्ध में नियम बना सकता है जिससे कि वह अपनी सुरक्षा कर सके। विश्व में कुछ ही देशों की इतनी क्षमता है कि वे इस प्रकार के नियम बनाकर उन्हें प्रभावशाली ढंग से लागू कर सकें।

5. पांचवे सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक राष्ट्र का अपने वायुमण्डल पर असीमित ऊँचाई तक नियंत्रण तथा अधिकार होता है, परन्तु इसके कुछ अपवाद होते हैं तथा अन्य क्षेत्रों के यानों को निर्दोष यात्रा की सुविधा प्रदान करनी होती है।

**पेरिस अभिसमय (1919) [Paris Convention (1919)]** — प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत था कि खुले समुद्र तथा अनाधिकृत प्रदेश में ऊपर के आकाश का एक प्रलेख स्वीकृत किया गया जो आकाशीय यान—संचालन में विनियम के सम्बन्ध में अभिसमय (Convention for the Regulation of Aerial Navigation) के नाम से प्रसिद्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका इस अभिसमय में पक्षकार नहीं रहा। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से शान्तिकाल में हवाई यातायात के लिए इसमें निम्नलिखित नियम बनाये गये—

1. प्रत्येक राज्य की आकाश में पूर्ण सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गईं।

2. शान्तिकाल में निर्धारित नियमों का पालन करते हुए प्रत्येक राज्य को निर्दोष उड़ान की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय हवाई कम्पनियों की उड़ान के लिए सम्बन्धित राज्य से अनुमति प्राप्त करनी होगी।

3. किसी देश के नागरिकों का उस पर पूर्ण स्वामित्व होने पर ही एक विमान की रजिस्ट्री हो सकेगी।

4. अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान के समय वायुयान पर उसकी राष्ट्रीयता और रजिस्ट्री के चिह्न अंकित होने चाहिए।

5. अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यात्रा करते समय निजी वायुयानों के पास रजिस्ट्री का प्रमाण पत्र, वायुयान के उड़ान की योग्यता का प्रमाण पत्र, चालकों के पास चालन योग्यता का प्रमाण पत्र आदि होना आवश्यक है।

6. किसी राज्य क्षेत्र में प्रवेश करने वाले वायुयान के कागजातों की जाँच करने का उस राज्य के अधिकारियों का पूर्ण अधिकार होगा।

7. किसी अन्य राज्य के सैनिक वायुयान किसी राज्य के आकाश में बिना उसकी आज्ञा के नहीं उड़ सकते।

8. राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में हवाई यातायात के लिए अंतर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission for the Navigation) नियुक्त किया गया है। निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करना, यातायात की आवश्यक सूचनाओं का संग्रह करना तथा हवाई नक्शों का प्रकाशन करना इस आयोग का कर्त्तव्य है।

**हवाना अभिसमय (1928) (Havana Convention, 1928)**—फरवरी, 1928 में संयुक्त राज्य को सम्मिलित करते हुए कई अमरीकी राज्यों ने एक अभिसमय स्थापित किया जो हवाना—अभिसमय के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभिसमय भी पेरिस अभिसमय की भाँति व्यापारिक नी—चालन से सम्बन्धित है और उसी आधार पर संस्थापित है।

**वारसा अभिसमय (1929) (Warsaw Convention, 1929)**— वारसा अभिसमय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वायु—परिवहन के सम्बन्ध में नियम निर्धारित किए गये हैं। यह अभिसमय 12 अक्टूबर, 1929 को हस्ताक्षरित किया गया। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वायु—परिवहन की शर्तों को निर्यानत करने वाले नियमों में सामन्जस्य लाना था।

**शिकागो अभिसमय, 1944 (Chicago Convention, 1944)**—सन् 1944 में शिकागो में एक अन्तर्राष्ट्रीय विमान सम्मेलन (International Civil Aviation Conference) व्यापारिक वायु—परिवहन के अधिकारों के लिए विश्वव्यापी व्यवस्था स्थापित करने तथा इस विषय—सम्बन्धी विशेष बातों को तथा यान—चालन सम्बन्धी विषयों को निश्चित करने के निमित्त सम्पन्न किया गया। अभिसमय 4 अप्रैल, 1947 को प्रवर्तन में आया। अभिसमय के तीन मुख्य भाग हैं। भाग—1 'हवाई परिवहन' (Air Navigation) से सम्बन्धित है। भाग—2 अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक विमानन संगठन (International Civil Aviation Organisation) का संविधान है। भाग—3 'अन्तर्राष्ट्रीय हवाई परिवहन' (International Air Transport) से सम्बन्धित है। अभिसमय का अनुच्छेद पेरिस अभिसमय में प्रतिपादित सिद्धान्त तथा राज्य—क्षेत्र के ऊपर वायुमण्डल में राज्यों की प्रभुत्व सम्पन्नता के सम्बन्ध में समान राज्य प्रथा को सम्पुष्ट करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार "संविदाकारी राज्य मान्यता देते हैं कि प्रत्येक राज्य को अपने राज्य—क्षेत्र के ऊपर के वायुमण्डल में पूर्ण तथा अनन्य प्रभुत्व—सम्पन्नता रहेगी।" 'पूर्ण तथा अनन्य' (Complete and Exclusive) शब्द वायुमण्डल राष्ट्रीय प्रभुत्व—सम्पन्नता की व्यापक प्रकृति पर जोर देता है। अभिसमय का अनुच्छेद 2 राज्य—क्षेत्र शब्द को परिभाषित करता है। इसके अनुसार, "राज्य के राज्य—क्षेत्र ऐसे राज्य—क्षेत्र के प्रभुत्व सम्पन्नता, अधिराज्य, संरक्षण या अध्यादेश के अधीन उससे संलग्न ऐसे राज्य—क्षेत्र के प्रभुत्व सम्पन्नता, अधिराज्य, संरक्षण या अध्यादेश के अधीन उससे संलग्न राज्य क्षेत्रीय समुद्र तथा भूमि क्षेत्रों का होना माना जाएगा।" इसमें यह निहित है कि राज्य—क्षेत्र समुद्र के ऊपर का वायुमण्डल तटवर्ती राज्यों की प्रभुत्व सम्पन्नता के अधीन बना रहेगा। अनुच्छेद 3 प्रावधान करता है कि अभिसमय केवल नागरिक विमानों पर लागू होगा, न कि राज्य विमानों पर। अन्य शब्दों में, सैनिक, सीमा शुल्क तथा पुलिस सेवाओं में प्रयुक्त वायुयान पर अभिसमय के प्रावधान लागू नहीं होंगे। अभिसमय सभी विमानों से, जो अभिसमय के प्रावधानों से लाभ लेने की इच्छा रखते हैं, इस बात की अपेक्षा करता है कि वे अपना पंजीकरण संविदाकारी राज्य में रख लें। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक विमानन सम्मेलन की परिषद् अभिसमय के अनुच्छेद 77 के अधीन किसी विमान का संयुक्त पंजीकरण अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पंजीकरण करने के लिए प्राधिकृत है।

शिकागो सम्मेलन में आकाश—उड़ान के लिए पाँच प्रकार की स्वतंत्रताएँ दी गयीं—

1. विदेशी क्षेत्र में बिना उतरे हुए उड़ान।

2. अन्य राज्यों में यातायात से भिन्न प्रयोजनों के लिए भूमि पर उतरने की स्वतन्त्रता ।

3. वायुयान से सम्बन्ध रखने वाले देश के माल को दूसरे देश में उतारने की स्वतन्त्रता।

4. वायुयान द्वारा दूसरे देश से अपने देश में लौटते समय मार्ग में यात्री अथवा माल लादने को स्वतंत्रता ।

5. दो विदेशी राज्यों के माल में किसी भी देश के माल को ले जाने की स्वतन्त्रता।

इसी स्वीकृति पत्र पर जोकि परिवहन की पाँच स्वतंत्रताएँ प्रदान करता था, 19 राज्यों ने हस्ताक्षर किये और अधिकाँश राज्यों ने हस्ताक्षर नहीं किए जिसमें ग्रेट—ब्रिटेन भी शामिल था। इसके पश्चात् 'The International Air Services' तथा 'International Air Transport Agreement' हुए। इसके समझौतों में भी वायु द्वारा यात्रा करने और सामान ले जाने, आदि के विषय में अनेक प्रकार के प्रावधान किए गये। 1948 में तथा 1952 में भी दो समझौते हुए, जिनका सम्बन्ध वायु यातायात से था।

हेग अभिसमय, 1970 तथा हेग अभिसमय, 1971, जो वायुयान अपहरण से सम्बन्धित है, प्रावधान करता है कि बिना पंजीकरण के भी कुछ मामलों में राज्य वायुयान पर अधिकारिता स्थापित कर सकता है। हेग अभिसमय का अनुच्छेद यह प्रावधान करता है कि "प्रत्येक संविदाकारी राज्य ऐसा उपाय करेगा, जो निम्नलिखित मामलों में अपराध तथा अपराध के सम्बन्ध में कथित अपराधी द्वारा यात्रियों या कर्मीदल (Crew) के विरुद्ध हिंसक या किसी अन्य कार्य पर उसकी अधिकारिता स्थापित करने के लिए आवश्यक हो, (i) जब अपराध उस राज्य में पंजीकृत वायुयान पर कारित किया जाए, (ii) जब वायुयान, जिस पर अपराध कारित किया जाए, वायुयान पर कथित अपराधों के साथ उस राज्य—क्षेत्र में उतरता है, (iii) जब उस पट्टेदार का कर्मीदल के बिना पट्टे पर दिए गए वायुयान पर अपराध कारित किया जाए, जिसके कारोबार का मुख्य स्थान या यदि पट्टेदार का कारोबार का कोई मुख्य स्थान नहीं है तो, उसका मुख्य निवास स्थान उस राज्य में हों।" मान्द्रियल अभिसमय के अनुच्छेद 5 के अन्तर्गत नागरिक विमानन (Civil Aviation) की सुरक्षा के विरुद्ध विधि—विरुद्ध कार्यों के दमन के लिए समान प्रावधान करता है। यह प्रावधान यह प्रदर्शित करता है कि विमान पंजीकरण नियम के बावजूद वायुयान पर कारित सभी अपराधों के सम्बन्ध में सार्वभौमिक अधिकारिता को मान्यता दी गयी है तथा यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वायुयान अन्तर्राष्ट्रीय उड़ान में संलग्न है या घरेलू उड़ान में। लेकिन यह नियम सैनिक, सीमा शुल्क या पुलिस सेवाओं में प्रयुक्त वायुयान पर लागू नहीं होता।

## राष्ट्रीयता (Nationality)

प्रश्न 1. राष्ट्रीयता से क्या अभिप्राय है? राष्ट्रीयता के स्वरूप तथा महत्त्व को स्पष्ट करें। (What is the meaning of Nationality? Explain the nature and importance of

Nationality.)

अथवा

राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिए। राष्ट्रीयता कैसे प्राप्त तथा खोई जाती है?

(Define Nationality. Discuss the modes of acquiring and losing Nationality?)

अथवा

राष्ट्रीयता की परिभाषा दीजिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राष्ट्रीयता के महत्त्व का वर्णन कीजिए। (Define the Nationality and discuss its importance in International Law.)

अथवा

राष्ट्रीयता की परिभाषा दें। राष्ट्रीयता और अधिवास तथा राष्ट्रीयता और नागरिकता में अन्तर बताएं। (Define Nationality.

Distinguish between Nationality and Domicile, Nationality and Citizenship.)

अथवा

राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं? इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय—विहीनता का वर्णन करें।

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा शान्ति से है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के व्यक्ति राष्ट्र होते हैं। इन राष्ट्रों के सदस्य किस प्रकार भिन्न समझे जाते हैं तथा कौन—सी विशेषताएं एक राष्ट्र के सभी सदस्यों में परस्पर मिलती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीयता के माध्यम से व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व से लाभ मिलता है।

राष्ट्रीयता बहुधा राज्य कानूनों के नियमों द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु क्योंकि इसका प्रभाव अन्तररर्राष्ट्रीय कानून पर भी पड़ता है, अतः इसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून में महत्त्व है। लोगों में राष्ट्र की प्रतिनिष्ठा (Allegiance) केवल राष्ट्रीयता के कारण ही आती है। जो व्यक्ति राज्य के प्रति स्थायी निष्ठा धारण करते हैं उन्हें राज्य के नागरिक के रूप में जाना जाता है। इसलिए राष्ट्रीयता को व्यक्ति की प्रस्थिति, जो निष्ठा के बन्धन द्वारा राज्य से सम्बन्धित है, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता उसके तथा राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करती है।

**ओपेनहीम का कहना है** कि, "व्यक्ति की राष्ट्रीयता किसी राज्य के नागरिक होने का उसका गुण है।"

राज्यों व नागरिकों के बीच का सम्बन्ध एक ऐसी कड़ी का प्रतिनिधत्व करती है जिसके माध्यम से व्यक्ति को साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संरक्षण तथा लाभ प्राप्त हो जाता है। यदि एक व्यक्ति अपने राज्य में राष्ट्रीयता के बन्धन में बंधा हुआ नहीं है तो उसके लिए दूसरी सरकार द्वारा की गई गलती के विरुद्ध संरक्षण

प्राप्त नहीं हो सकेगा। राष्ट्रीयता के बन्धन के बिना कोई सरकार उसके हित को अपना हित मान कर नहीं चलेगी और उसकी रक्षा के लिए कोई कार्यवाही नहीं करना चाहेगी।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 1923 में घोषणा की थी कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की वर्तमान स्थिति में राष्ट्रीयता का प्रश्न एकमात्र राज्य की आन्तरिक अधिकारिता के अन्तर्गत आता है।"

हेग—संहिता करण सम्मेलन 1930 (Hague Codification of Conference, 1930) द्वारा स्वीकृत राष्ट्रीय कानूनों के संघर्ष से सम्बन्धित प्रश्न का अभिसमय (Convention on the Conflict of Nationality Laws) का अनुच्छेद एक यह प्रावधान करता है कि "प्रत्येक राज्य अपने कानून के अधीन यह निर्धारित कर सकता है कि कौन उसका राष्ट्र होगा। ऐसे कानून को अन्य राज्यों द्वारा मान्यता केवल तब ही दी जायेगी जब यह अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों, रूढ़ियों तथा राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में सामान्यतः मान्य कानूनों के सिद्धान्तों से संगत होगा।" इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिसीमाओं के अन्तर्गत राज्य यह निश्चय करने में स्वतन्त्र है कि वह किसे अपने अन्तर्राष्ट्रीय के रूप में स्वीकार तथा अस्वीकार करे।

### राष्ट्रीयता का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definitions of Nationality)

राष्ट्रीयता वह गुण है जो किसी विशिष्ट जाति अथवा राष्ट्र की सदस्यता से उत्पन्न होता है तथा जो किसी व्यक्ति की राजनीतिक स्थिति अथवा उसकी राज्य निष्ठा निश्चित करता है। यह एक प्रकार का निरन्तर चलने वाला वैध सम्बन्ध है, जो प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य तथा नागरिक के बीच स्थापित होता है) इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने मत दिए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

**1. फेनविक के अनुसार,** "राष्ट्रीयता एक ऐसा बन्धन है जो एक व्यक्ति को एक राज्य के साथ सम्बद्ध करके उसका सदस्य बनाती है। इससे वह उस राज्य का संरक्षण पाने का अधिकारी हो जाता है तथा राज्य द्वारा बनाये गए कानूनों का पालन करना उसका उत्तरदायित्व बन जाता है।"

**2. ओपेनहीम के मतानुसार**, "एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता का अर्थ उसका किसी राज्य की प्रजा होना और इसलिए इसका नागरिक होना है।"

(In the view of Oppenheim, "Nationality of an individual is this quality of being a subject of a certain state and therefore, its citizen.")

**3. गार्नर के अनुसार,** "राष्ट्रीयता भावना की वस्तु है। यदि किसी किसी जनता ने राष्ट्रीयता को प्राप्त कर लिया है तो केवल इसी कारण कि लोग विश्वास करते हैं कि वे आपस में एक—दूसरे के साथ ऐसे दृढ़ स्नेह बन्धन से बंधे हुए हैं जिससे यह प्रकट होता है कि ये इसी प्रकार बंधे हुए लोगों से भिन्न हैं।"

**अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राष्ट्रीयता का महत्त्व (Importance of Nationality in International Law)**

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता का प्रश्न पर्याप्त महत्त्व रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राष्ट्रीयता विहीन व्यक्ति की स्थिति एक अनाथ जैसी होती है। राष्ट्रीयता को इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून में असाधारण गरिमा प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता के निम्नलिखित परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं—

**1. कूटनीतिक संरक्षण का प्रश्न (Question of Diplomatic Protection)**—राष्ट्रीयता के आधार पर एक व्यक्ति विदेशों में कूटनीतिक संरक्षण पाने का अधिकारी होता है। विदेश में निवास के समय एक व्यक्ति के सम्मुख यदि कोई कानूनी अथवा राजनीतिक उलझन पैदा होती है तो यहाँ स्थित उसके राज्य का दूतावास पूरी—पूरी सहायता करता है।

2. **व्यक्ति तथा राज्य के बीच कड़ी** (Link between Individual and State)—राष्ट्रीयता व्यक्ति तथा राज्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। राष्ट्रीयता के माध्यम से ही सामान्य रूप से व्यक्ति राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लाभों का उपयोग करते हैं।

3. **राष्ट्रीयता से व्यक्ति को कर्त्तव्यों की जानकारी** (Knowledge of duties due to Nationality)—राष्ट्रीयता से ही व्यक्ति को राज्य के प्रति कर्त्तव्य का बोध होता है। राष्ट्रीयता व्यक्ति को यह कर्त्तव्य सौंपती हैं कि वह अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा तथा राज्य भक्ति बनाए रखे। इस दृष्टि से आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सैनिक सेवा करना व्यक्ति का कर्तव्य बन जाता है।

**4. युद्ध के समय शत्रुता तथा मित्रता का ज्ञान** (Knowledge of friendship and enmity during War)—युद्ध के समय किसी व्यक्ति की शत्रुता तथा मित्रता का ज्ञान उस व्यक्ति की राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाता है। यदि व्यक्ति की राष्ट्रीयता शत्रु राज्य से मिलती है अथवा शत्रु के मित्र राज्य से मिलती है तो यह सम्भवतः मित्र नहीं होगा। यदि व्यक्ति उस राज्य का ही है अथवा उसके मित्र राज्य का राष्ट्रिक है तो वह निश्चय ही मित्र हो सकता है।

**5. राज्य के क्षेत्राधिकार के प्रयोग में सुविधा** (Convenint to use State Territory)—राष्ट्रीयता के आधार पर राज्य अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। किसी मामले में एक राज्य का क्षेत्राधिकार है अथवा नहीं है, इसका निश्चय करने के लिए सम्बन्धित व्यक्तियों अथवा संस्थाओं की राष्ट्रीयता को देखा जाता है।

**6. अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्त्तव्य राष्ट्रीयता पर आधारित** (International Rights and Duties based on Nationality)— अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कत्र्तव्य लोगों की राष्ट्रीयता पर निर्भर करते हैं। यदि यह मान लिया जाये कि राष्ट्रीयता के प्रश्नों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं हैं तो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के अनेक प्रश्न अराजकता के हाथ में चले जायेंगे। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राष्ट्रीयता समान नियम के रूप में राष्ट्रीयता विधियों द्वारा निर्धारित की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्तव्य केवल राष्ट्रीयता के कारण ही सम्भव हैं।

**7. व्यक्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का लाभ उठाना** (To take advantages of International Law by Individuals)— राष्ट्रीयता के माध्यम से विदेश में रहने वाले लोग अथवा विदेशों में स्थित लोगों की सम्पत्ति का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। राष्ट्रीयता ही एकमात्र वह नियमित साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का लाभ उठा सकता है।

## राष्ट्रीयता प्राप्ति के प्रकार (Modes of Acquisition of Nationality)

वर्तमान परिस्थितियों में यह निश्चित करना कि कौन व्यक्ति राज्य का विषय है और कौन नहीं? यह राष्ट्रीय कानून का कार्य है। विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की प्राप्ति की विभिन्न विधियों का पता लगाना कानूनी तथा व्यवहारिक दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्व रखता है। प्रो. ग्लान ने राष्ट्रीयता प्राप्ति के केवल दो प्रकारों का उल्लेख किया है—

### 1. जन्म द्वारा (Nationality by birth)

### 2. देशीयकरण द्वारा (Nationality by Naturalisation)

वर्तमान में राष्ट्रीयता प्राप्ति के पांच निम्नलिखित प्रमुख साधन माने जाते हैं। यद्यपि कोई राज्य इन पांचों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी सभी राज्य व्यवहार में इनका पालन करते हैं। ये साधन हैं—

1. जन्म द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by birth)

2. देशीयकरण द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Naturalisation)

3. पुनः प्राप्ति द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Resumption)

4. अधीनता द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Subjugation)

5. प्रदेश के हस्तान्तरण द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Cession)

**1. जन्म द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by birth)**—राष्ट्रीयता प्राप्त करने का प्रथम तथा मुख्य आधार जन्म है। अन्य दूसरे प्रकारों को केवल अपवाद रूप में माना जा सकता है। विभिन्न राज्यों में जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्त करने से सम्बन्धित एक जैसे नियम नहीं हैं। जर्मन आदि कुछ राज्यों में यह नियम स्वीकार किया गया है कि मां—बाप की नागरिकता एक निर्णायक तत्त्व है। राज्य के नागरिकों का बच्च्चा स्वयं ही राज्य का नागरिक बन जाता है। बच्चे का जन्म देश में हुआ हो अथवा विदेश में। इस नियम के अनुसार अवैध बच्चों को उनकी राष्ट्रीयता प्रदान की जाती है। इसे रक्त नियम (Jus—Sanguinis) कहा जाता है। यह पितृ मूलक अथवा वंशमूलक राष्ट्रीयता कहलाती है। इसके अनुसार लंका अथवा चीन या भारत में पैदा होने पर भी जर्मन माता—पिता को सन्तान जर्मन ही होगी।

जन्म के आधार पर दी जाने वाली राष्ट्रीयता का एक अन्य प्रकार भूमि का नियम है। इस नियम के अनुसार राष्ट्रीयता माता—पिता के रक्त के सम्बन्ध पर नहीं वरन् उसी भूमि अथवा प्रदेश पर निर्भर रहती है, जहां उस बच्चे ने जन्म लिया है। इसे भूमि का नियम (Jus—Soil) कहा जाता है। यह नियम अर्जेन्टाइना में स्वीकार किया जाता है। यहाँ ऐसी व्यवस्था है कि यदि बच्चे ने अर्जेन्टाइना की भूमि पर जन्म लिया है तो उसे यहाँ की नागरिकता प्रदान कर दी जाएगी चाहे उसके मां—बाप विदेशी ही क्यों न हों। दूसरी ओर यदि अर्जेन्टाइना के नागरिकों का बच्चा विदेश में जन्म लेता है तो वह बच्चा विदेशी माना जाएगा। इस प्रकार एक राज्य के प्रदेश में जन्म लेना ही राष्ट्रीयता के बन्धन के लिए पर्याप्त मान लिया जाता है।

इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा सद्भावना तथा सौजन्य पर निर्भर करते हैं। विदेशी राज्याध्यक्षों, विदेशी कूटनीतिज्ञों तथा दूतावासों के अधिकारियों के बच्चे विदेश में जन्म लेने के पश्चात् भी वहाँ की राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में नागरिकता प्राप्ति के सम्बन्ध में मिश्रित नियम अपनाया जाता है। यहाँ के राष्ट्रीय कानून के अनुसार न केवल देश तथा विदेश में पैदा हुए इनके नागरिकों के बच्चों को नागरिकता दी जाती है, वरन् प्रदेश में पैदा होने वाले विदेशी मां—बाप के बच्चों को भी नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। जो बच्चा वायुयान तथा जलपोत में पैदा होता है उसको जहाज पर फहराने वाली ध्वजा के राज्य की राष्ट्रीयता प्रदान की जाती है। अमेरिका के कानून के अनुसार केवल स्वदेशी नागरिकों के इस प्रकार उत्पन्न हुए बच्चों को ही नागरिकता प्रदान की जा सकती है, विदेशियों के बच्चों को नहीं।

भारतीय नागरिकता कानून 1955 के अनुसार भूमि नियम (Jus Soil) तथा रक्त सम्बन्ध (Jus— Sanguinis) दोनों को ही

मान्यता दी गई है। भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 की धारा चार प्रावधान करती है कि कोई व्यक्ति जस-सांगिनिस तथा जस सॉयल के आधार पर भारतीय नागरिक हो सकता है।

जन्म द्वारा नागरिकता प्राप्ति से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ।

अनेक जटिल अवसरों पर अधिकांश राज्यों के व्यवहार के अनुसार किसी एक सिद्धान्त को नहीं अपनाकर दोनों को ही स्वीकार किया जाता है इनके साथ—साथ निवास की शर्त भी जोड़ दी जाती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के कानून के अनुसार अमेरिका में पंजीकृत जहाजों में जन्म लेने वाले बालक वहाँ की राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर पाते हैं। लाम माओ बनाम नेगल (Lam Mao vs. Nagle) के विवाद में सन् 1927 में लाममाओ को विदेशी मान कर अमेरिका में प्रवेश करने से रोक दिया। इसका जन्म अमेरिका द्वारा पंजीकृत एक व्यापारी जहाज में महासमुद्र में हुआ था। उसके माता—पिता अमेरिका के निवासी थे। किन्तु चीन के राष्ट्रिक थे। सर्किट न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अमेरिकी संविधान के शब्दों को केवल भूमि क्षेत्रों तथा प्रादेशिक जल पर ही लागू किया जा सकता है, जिसकी निश्चित स्थिति तथा मान्य सीमाएँ होती हैं। जलपोत की कोई निश्चित स्थिति नहीं थी, अतएव महासमुद्र में अमेरिकी जहाज पर जन्म लेने वाले बच्चे अपने मां—बाप की राष्ट्रीयता प्राप्त कर सकेंगे।

ग्रेट ब्रिटेन के राष्ट्रीयता कानून के अनुसार ब्रिटेन द्वारा पंजीकृत जहाज में जन्म लेना, राज्य के प्रदेश में जन्म लेने के बराबर माना जाता है। वायु यात्रा ने भी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में इसी प्रकार की समस्या पैदा की। जब शिशु के जन्म के समय वायुयान दूसरे राज्य के राष्ट्रीय आकाश में रहता है तो दोहरी नागरिकता का प्रश्न उभर आता है।

**2. देशीयकरण द्वारा राष्ट्रीयता (Nationality by Naturalisation)**— जन्म के अतिरिक्त राष्ट्रीयता प्राप्त करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकार देशीयकरण है। इस विधि द्वारा ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रीयता सौंपी जाती है जो जन्म के आधार पर विदेशी है। यह विधि स्वेच्छा पर आधारित है। इसके अनुसार एक राज्य के राष्ट्रिक दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। देशीयकरण कार्यपालिका अथवा विधानपालिका द्वारा एक समूह का भी किया जा सकता है। यह सामूहिक देशीयकरण है। जहाँ तक व्यक्ति की राष्ट्रीयता के परिवर्तन का प्रश्न है, प्रत्येक राज्य अपनी इच्छानुसार नियम बनाने में स्वतन्त्र है। राज्य ही यह निर्णय करता है कि किन परिस्थितियों में किनको प्रवेश दिया जाए। यह नियम विशुद्ध रूप से घरेलू होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय नहीं है।

**केल्सन** के अनुसार, "देशीयकरण किसी राज्य का प्रशासकीय कार्य है जो कि किसी विदेशी को राष्ट्रीयता प्रदान करता है, किन्तु एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियम भी है कि विदेशियों को किन शतों पर नागरिकता प्रदान की जा सकती है।" इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

यह कहा जा सकता है देशीयकरण द्वारा राष्ट्रीयता प्रदान करने का विवेकाधिकार राज्य के पास है। यह उन शर्तों को पूरा होने पर राष्ट्रीयता प्रदान कर सकता है, जिन्हें वह उचित समझता है। जो व्यक्ति देशीयकरण के माध्यम से राष्ट्रीयता अर्जित करना चाहता है उससे आवेदन देने तथा देशीयकरण के माध्यम से राष्ट्रीयता के अर्जन के लिए अनुरोध करने की अपेक्षा की जाती है। कोई भी व्यक्ति देशीयकरण के माध्यम से नागरिकता प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता। राज्य बिना कोई कारण बताए अन्य देशीय को राष्ट्रिक बनाने से इन्कार कर सकता है। दूसरी ओर व्यक्तियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध देशीयकरण आरोपित करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। देशीयकरण से मिलने वाली नागरिकता पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। अमेरिका में कोई भी

देशीयकृत नागरिक वहाँ का राष्ट्रपति नहीं बन सकता। 1955 के भारतीय राष्ट्रीयता कानून के अनुसार देशीयकृत राष्ट्रीयता के आधार, जो निम्नलिखित हैं, पर ही नागरिकता प्रदान की जा सकती है—

1. सम्बन्धित व्यक्ति ऐसे देश का नागरिक न हो, जहाँ भारतीयों को राष्ट्रीयता प्राप्त करने में कानूनी बाधा है।

2. व्यक्ति दूसरे देश की नागरिकता छोड़ने को तैयार हो।

3. प्रार्थना पत्र देने से पूर्व एक वर्ष तक भारत सरकार के अधीन नौकरी की हो।

4. कम से कम एक वर्ष तक भारत में निवास किया हो।

5. सम्बन्धित व्यक्ति का उत्तम चरित्र, भारतीय भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान तथा भविष्य में भारत में रहने का इरादा हो।

6. विज्ञान, कला, साहित्य, विश्व शान्ति के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करने वाले को नागरिकता प्रदान करना।

7. गुणों के अभाव में भी सरकार जिसे चाहे नागरिकता प्रदान कर सकती है। भारत की तरह ही देशीयकृत नागरिकता प्रदान करने वाले अन्य देश नागरिकता प्रदान करते समय सीमाएँ लगा सकते हैं। इस प्रकार की नागरिकता से प्राप्त होने वाले अधिकार स्वाभाविक नागरिकता के अधिकारों की अपेक्षा कम होते हैं।

**3. पुनः प्राप्ति द्वारा राष्ट्रीयता** (Nationality by Resumption)— नागरिकता का तीसरा आधार पुनः प्राप्ति है। एक राज्य के स्वाभाविक नागरिक अपनी मौलिक राष्ट्रीयता को विदेशों में देशीयकरण के पश्चात् अथवा अथवा अन्य किसी कारण से त्याग देते हैं। ऐसे व्यक्ति कुछ शर्तों को पूरा करने के पश्चात् अपनी खोई हुई मौलिक नागरिकता को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। यह स्थिति देशीयकरण से भिन्न है। इसमें स्वाभाविक नागरिकता को खोकर दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त की जाती है तथा कुछ शर्तों को पूरा करने के पश्चात् खोई हुई नागरिकता पुनः प्राप्त की जो सकती है। भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 की धारा 8 का परिच्छेद 2 अवयस्क को न कि वयस्क को, वयस्कता प्राप्त करने की तिथि से एक वर्ष के अन्तर्गत आवेदन पर उसकी राष्ट्रीयता के पुनः प्राप्ति की आज्ञा देता है, यदि वह अपने माता—पिता के कारण भारतीय नागरिकता खो देता है।

पाकिस्तान से पुनः भारत लौटने मुसलमानों, श्रीलंका, बर्मा, कीनिया, यूगाण्डा तथा जंजीवार से लौटने वाले भारतीय को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। जब वहाँ की सरकारों ने उन्हें वहां का नागरिक मानने के ढाकार कर दिया अथवा नस्ल के आधार पर अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया। वे भारत पुनः आ गए तथा यहां के गए।

**5. प्रदेश के हस्तान्तरण द्वारा राष्ट्रीयता** (Nationality by Cession)—जब किसी प्रदेश का हस्तान्तरण दूसरे राज्य को कर दिया जाता है तो उस प्रदेश के नागरिक उस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं जिस राज्य में उसका हस्तान्तरण किया गया है। 1975 में भारत सरकार ने सिक्किम का विलय कर लिया जुलाई, 1997 में हांगकांग पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्त्व समाप्त हो गया और हांगकांग का साम्यवादी चीन में तो वहां के नागरिकों को भारत की नागरिकता प्राप्त हो गई। विलय कर दिया तो वहां के नागरिकों को चीन की नागरिकता प्राप्त हो गई। पुतराधिकारी शदि राज्यों में सब राज्य के व्यक्तिया का से किसी एक का प्राप्त होता है।

### नागरिक राष्ट्रीयता खोने के प्रकार (Modes of Loosing Nationality)

राष्ट्रीयता यदि प्राप्त की जा सकती है तो खोई भी जा सकती है। जिस प्रकार एक व्यक्ति को राष्ट्रीयता प्रदान करना एक राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता खोने अथवा समाप्त करने का निर्णय करने का अधिकार भी राज्य का है। यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से प्रत्यक्ष महत्त्व रखता है। प्रो. ओपेनहीम ने राष्ट्रीयता खोने के पांच प्रकार अथवा कारण बताएं हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. मुक्ति द्वारा खोना (Loss by Release)

2. बन्धन द्वारा खोना (Loss by Deprevation)

3. दीर्घकाल तक विदेशी निवास (Long—term Residence Abroad)

4. स्थानापन्नता द्वारा खोना (Loss by Substitution)

5. त्याग द्वारा (By Renunciation)

**1. मुक्ति द्वारा खोना** (Loss by Release)—कुछ राज्य अपने नागरिकों को यह अधिकार देते हैं कि वे चाहें तो मौलिक नागरिकता से मुक्त हो सकते हैं। यदि इस प्रकार की मुक्ति स्वीकार कर ली जाती है तो सम्बन्धित व्यक्ति राष्ट्रीयता का परित्याग कर देता है। जर्मन आदि कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है। राष्ट्रीयता से मुक्ति की प्रार्थना का कोई भी आधार हो सकता है। कुछ राज्यों में जैसे ग्रेट ब्रिटेन में यह व्यवस्था है कि यदि विदेशी युगल का बालक यहां जन्म लेता है तो उसे राज्य की स्वाभाविक राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है। युगल के देश के राष्ट्रीय कानून के अनुसार वह बालक उस राज्य का भी नागरिक बन जाता है। ऐसी स्थिति में दोहरी नागरिकता का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि वयस्क होने पर सम्बन्धित बालक यह निर्णय करेगा कि वह किस देश की नागरिकता छोड़ना चाहता है। उसकी इच्छा के अनुसार एक राज्य की नागरिकता त्यागने का आधार बन जाती है।

**2. बन्धन द्वारा खोना** (Loss by Deprivation)—कुछ राज्यों में राष्ट्रीयता कानून स्पष्ट रूप से उन अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं जिनमें किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता को छीना जा सकता है। उदाहरण के लिए इटली में यह नियम है कि यदि वहां का कोई नागरिक विदेशी सैनिक अथवा नागरिक सेना में भर्ती हो जाता है तो उसे राष्ट्रीयता से वंचित कर दिया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् सोवियत रूस, इटली, टर्की, जर्मन तथा अन्य कुछ देशों ने ऐसे आदेश जारी किए जिनके द्वारा विदेश में निरन्तर रूप से रहने वाले, विदेश में निष्ठा रखने वाले अथवा अन्य प्रकार के अनेक नागरिकों को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया गया। अनेक राज्यों के व्यवस्थापन में राष्ट्रीयता से वंचित करने के विभिन्न आधारों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

सन् 1952 के विस्थापन तथा राष्ट्रीयता अधिनियम द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्रीयता खोने के आधारों की व्यवस्था की है। ये आधार हैं—

1. विदेशी राज्य की सेना में भर्ती ही जाना।

2 विदेशों के राजनीतिक चुनाव में मतदान करना।

3. विदेशी प्रदेश पर सम्प्रभुता के निर्धारण के लिए होने वाले जनमत संग्रह में भाग लेना।

4. युद्ध के समय अमेरिका की सेनाओं का परित्याग करना।

5. देशद्रोह का कार्य करना आदि।

यदि इस प्रकार राष्ट्रीयता से वंचित किया गया व्यक्ति राज्यहीन बन जाता है तो इसे उस व्यक्ति के लिए एक प्रकार की सजा माना जायेगा।

सन् 1955 के भारतीय नागरिकता कानून में भी इन आधारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। भारत में नागरिकता समाप्त हो जाएगी यदि—

1. देशीयकरण का प्रमाण पत्र धोखे, मिथ्या व्यपदेशन तथा किसी तात्त्विक तथ्य को छिपाने से प्राप्त किया है।

2 देश के संविधान की निष्ठा के विरुद्ध किए गए कार्य को छिपाना।

3. युद्ध के समय शत्रु को सहायता पहुंचाने की दृष्टि से उसके साथ व्यापार करना। 3

4. देशीयकरण प्राप्त करने के पांच वर्ष की अवधि में ही किसी न्यायालय द्वारा कम से कम दो वर्ष की सजा मिलना।

5. सात वर्ष तक निरन्तर देश से बाहर रहना आदि।

किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वंचित करने से पूर्व केन्द्र सरकार उसे सम्बन्धित कारणों की सूचना देती है। इसके पश्चात् उसकी नागरिकता समाप्त कर दी जाती है।

**3. दीर्घकालीन विदेश निवास (Long—term Residence Abroad)**—कुछ राज्यों में व्यवस्था है कि यदि उनका नागरिक एक निश्चित समय तक एक—दूसरे राज्य में निवास करता है तो उसकी राष्ट्रीयता समाप्त हो जाती है। इस निश्चित अवधि का निर्णय प्रत्येक राज्य का राष्ट्रीय कानून करता है। अमेरिका में यह अवधि तीन वर्ष है जब कि भारत तथा इंग्लैंड में यह अवधि सात वर्ष है।

**4. स्वानापन्नता द्वारा खोना** (Loss by Substitution)—अनेक राज्यों में कानून के अनुसार जब उनके नागरिक को विदेश में देशीयकरण प्राप्त हों जाता है तो उसकी पूर्व नागरिकता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। कुछ राज्यों में इस बात पर कोई ऐतराज नहीं किया जाता कि उनका नागरिक किसी दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर ले।

सन् 1948 के ब्रिटिश राष्ट्रीयता अधिनियम के अनुसार विदेशों में राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेने से स्वदेश की राष्ट्रीयता समाप्त नहीं होती। यह कानून सम्बन्धित व्यक्ति को ग्रेट ब्रिटेन की नागरिकता त्यागने की अनुमति भी देता है।

सन् 1952 में अमेरिका का अधिनियम यह व्यवस्था करता है कि स्वेच्छा पर आधारित दूसरे देश में देशीयकरण स्वदेश की राष्ट्रीयता खोने का आधार बन जायेगा। भारत में भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 की धारा 9 की उपधारा (1) भारतीय नागरिकता के स्वतः समाप्ति के लिए केवल तब प्रावधान करती है, जब भारतीय नागरिक स्वेच्छा से अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि कोई नागरिक दोहरी नागरिकता न रख सके। इसी प्रकार जब एक प्रदेश अथवा राज्य दूसरे में मिल जाता है तो उसकी पहले वाली देश की राष्ट्रीयता भी स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

**5. परित्याग द्वारा (Loss by Runciation)**—कुछ राज्य जन्म के आधार पर बच्चों को चाहे वह किसी विदेशी का ही क्यों न हो अपनी राष्ट्रीयता प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार बच्चा दो राष्ट्रीयता रखने वाला बन जाता है। वयस्क होने पर उसे दो में से एक राष्ट्रीयता का परित्याग करना पड़ता है। उसकी घोषणा के पश्चात् एक राष्ट्र की नागरिकता समाप्त हो जाती है।

भारतीय अधिनियम 1955 की धारा 8 के अनुसार वयस्क तथा पूर्ण सामर्थ्य का भारतीय नागरिक जो अन्य देश का भी नागरिक है। अपनी भारतीय नागरिकता के त्यजन की घोषणा निर्धारित रीति से कर सकता है।

**प्रश्न—निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें—**

**1. दोहरी राष्ट्रीयता तथा विवाहित स्त्रियों की राष्ट्रीयता**

**Double Nationality and Nationality of Married Women.**

**2. राष्ट्रीय—विहीनता (Statelessness)**

**3. भारत में राष्ट्रीयता। Nationality in India.**

Write short notes on the following:

**उत्तर**—

**दोहरी राष्ट्रीयता तथा विवाहित स्त्रियों की राष्ट्रीयता (Double Nationality and Nationality of Women)**

कभी—कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब एक व्यक्ति एक ही साथ दो राष्ट्रीयताएँ प्राप्त कर लेना है। इसका कारण यह है कि विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता प्राप्त करने तथा खोने के नियम अलग—अलग प्रकार के होते हैं। फलस्वरूप एक देश का नागरिक रहते हुए भी व्यक्ति दूसरे देश की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है। दोहरी नागरिकता की स्थिति जाने अथवा अनजाने में उत्पन्न हो जाती है।

सन् 1941 में युद्ध के समय जापान में रहने वाले अमेरिकी नागरिकों को जापानी सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य किया गया। ये लोग अपने जन्म के कारण अमेरिका के राष्ट्रिक थे, किन्तु निवास ने इनको जापानी नागरिक बना दिया। दूसरे शब्दों में व्यक्ति

एक समय में दो राष्ट्रों की नागरिकता प्राप्त कर लेता है।

दोहरी नागरिकता अनेक प्रकार से मिल जाती है। ग्रेट ब्रिटेन में विदेशी माता—पिता का बच्चा जन्म से ही दोहरी नागरिकता लेकर पैदा होता है। अवैध बच्चे को वैध बनाने की स्थिति में भी ऐसा ही होता है। इंग्लैंड में एक अमेरिकी पिता तथा अंग्रेज माता की अवैध सन्तान ब्रिटिश है, किन्तु यदि सन्तान होने के पश्चात् दोनों विवाह कर लेते हैं तो बच्चा वैध हो जाता है तो उसे अमेरिकी कानून के अनुसार अमेरिकी नागरिकता मित्त जाएगी। अपने संकीर्ण अर्थ में देशीयकरण प्रायः दोहरी नागरिकता का कारण बन जाता है। इसी तरह एक स्वी विवाह के पश्चात् अपने पति की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेती है तथा बहुधा पहली राष्ट्रीयत्ता भी वनाए रखती है। दोहरी नागरिकता व्यक्ति को अनुपयुक्त स्थिति में रख देती है।

दोहरी नागरिकता वाले लोगों को कूटनीतिज्ञों की भाषा में मिश्रित प्रजाजन (Subject Mixtex) कहा जाता है। ऐसे मिश्रित प्रजाजनों की स्थिति बड़ी अजीब बन जाती है क्योंकि दो भिन्न—भिन्न राज्य उन्हें अपना प्रजाजन मानते हैं तथा उनकी स्वामी—भक्ति का दावा करते हैं। यदि इन दोनों के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो इन व्यक्तियों के कर्तव्यों में गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक राज्य उस व्यक्ति को अपना प्रजाजन मानते हुए यह दावा करेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसे अमुक कार्य करना चाहिए। तीसरे राज्य के सम्मुख ये दोनों राष्ट्र उस व्यक्ति का सम्प्रभु होने का दावा करेंगे। यह सम्भव है कि दोनों उस व्यक्ति की रक्षा के अधिकार का स्वयं प्रयोग करें। दूसरी ओर तीसरा राज्य दो राष्ट्रीयताओं वाले एक व्यक्ति को किसी भी राज्य का प्रजाजन मान सकता है इससे अनेक अधिकार संकट में पड़ सकते हैं।

राष्ट्रीय विधियों के ऐसे संघर्षों को कम करने तथा अन्मूलित करने के लिए कुछ प्रयास किए गए हैं।

1930 के हेग सम्मेलन में दोहरी नागरिकता से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया गया। हेग अभिसमय के अनुच्छेद 3 के अनुसार, अभिसमय के प्रावधानों के अनुसार यह तय किया गया कि दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रीयता वालों को सभी सम्मानित राज्य अपना प्रजाजन समझ सकते हैं, किन्तु यदि कोई राज्य अपने नागरिक को ऐसे राज्य के विरुद्ध सुरक्षा नहीं दे सकता जिसकी राष्ट्रीयता उसे प्राप्त है। अभिसमय में कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति एक से अधिक राष्ट्रीयता रखता है तो तीसरे राज्य में एक ही राष्ट्रीयता वाला समझा जायेगा। तीसरा राज्य या तो उसकी उस राष्ट्रीयता को मान्यता देगा, जहाँ वह बहुधा रहता है अथवा उस राष्ट्रीयता को मान्यता देगा जो परिस्थितियों के कारण उससे अधिक सम्बंधित हो। इस प्रकार इस अभिसमय ने प्रभावशाली राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को मान्यता दी है। इसमें यह कहा गया है कि यदि एक व्यक्ति स्वेच्छा से किए कार्य के बिना ही दोहरी राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है तो यह एक राज्य की राष्ट्रीयता उस राज्य की स्वीकृति से छोड़ दे। यदि व्यक्ति विदेशों में रह रहा है तो उसकी राष्ट्रीयता छोड़ने की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धान्त को बहु—राष्ट्रीयता के मामलों की कमी पर यूरोपीय अभिसमय 1963 के अनुच्छेद एक में भी शामिल किया गया है।

भारत में दोहरी राष्ट्रीयता सम्भव नहीं है। एक भारतीय नागरिक दूसरे देश का नागरिक नहीं बन सकता। इसी प्रकार दूसरे देश का नागरिक अपनी राष्ट्रीयता छोड़े बिना भारत का नागरिक नहीं बन सकता। राष्ट्रीयता का एक अत्यन्त रोचक पहलू महिलाओं का विशेष स्तर है। अमेरिका तथा इंग्लैंड में विशेष कानून बनाकर उस विशेष स्तर को कानूनी मान्यता प्रदान की गई है।

1855 में अमेरिकी कांग्रेस ने एक अधिनियम पारित कर के व्यवस्था की थी कि अमेरिकी नागरिक से शादी करके विदेशी महिला को नागरिकता प्रदान कर दी जायेगी, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लिया गया कि किसी विदेशी से शादी करने वाली महिला की राष्ट्रीयता बने रहेगी अथवा नहीं।

1907 के अमेरिकी कांग्रेस के अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि कोई भी अमेरिकी महिला विदेशी से शादी करने के पश्चात् अपने पति की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेगी तथा अमेरिकी नागरिकता से वंचित हो जायेगी।

1922 में 1907 के कांग्रेस के नियम में परिवर्तन किया गया। 22 सितम्बर, 1922 के अधिनियम में महिलाओं को एक स्वतन्त्र स्तर प्रदान करते हुए यह व्यवस्था की गई कि कोई विदेशी महिला अमेरिकी नागरिक से शादी करने मात्र से ही वहाँ की नागरिकता प्राप्त नहीं कर लेगी अथवा उसके पति के देशीयकरण मात्र से नागरिकता नहीं मिल जायेगी। वरन् उसे व्यक्तिगत

रूप से नागरिकता प्राप्ति के लिए प्रयास करना होगा। यह प्रयास स्थित विनियमों के अनुरूप किया जायेगा। दूसरे एक नागरिक महिला विदेशी से शादी करने मात्र से अपनी नागरिकता से वंचित नहीं होगी जब तक यह इसके लिए औपचारिक रूप से घोषणा न करे। इसके साथ ही नागरिकता के अयोग्य किसी नागरिक से शादी न करे।

**महिलाओं की विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए** सन् 1926 में एक प्रारूप अभिसमय प्रस्तुत किया गया तथा नियम बनाया गया कि विवाहित महिलाओं की स्वदेशी राष्ट्रीयता उस समय तक समाप्त नहीं होगी जब तक वह अपने विदेशी पति के राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर लेती। सन् 1930 के हेग संहिताकरण सम्मेलन में भी यह बात स्वीकार कर ली गई। इसके साथ यह प्रावधान भी रखा गया कि शादी के दौरान पति का देशीयकरण महिला की स्वीकृति के बिना उसकी राष्ट्रीयता में परिवर्तन का आधार न माना जाए। शादी टूटने पर महिला को पुनः उसकी खोई राष्ट्रीयता प्रदान की जाए।

संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 1967 में महिलाओं के प्रति उन्मूलन घोषणा को अंगीकार किया जो अनुच्छेद 5 के अधीन प्रावधान करता है कि महिलाओं को भी पुरुषों की तरह अपनी राष्ट्रीयता अर्जित करने, परिवर्तन करने तथा प्रतिधारित करने का अधिकार होगा। तत्पश्चात इस सिद्धान्त को महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने पर 1979 अभिसमय के अनुच्छेद 9 में व्यवस्था की गई कि—

1. महिलाओं को पुरुषों के समान राष्ट्रीयता प्राप्त करने, परिवर्तित करने तथा धारित करने का अधिकार होगा।

2. राज्यों से यह अपेक्षा की गई कि वे सुनिश्चित करेंगे कि किसी विदेशी से विवाह करने तथा पति द्वारा राष्ट्रीयता परिवर्तन करने से पत्नी की राष्ट्रीयता स्वतः परिवर्तित नहीं होगी। न ही वह राष्ट्रीयता विहीन होगी तथा उसे पति की राष्ट्रीयता स्वीकार करने के लिए विवश भी नहीं किया जाएगा।

3. बच्चों को भी राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में पुरुषों तथा महिलाओं के समान अधिकार प्राप्त होंगे।

## राष्ट्रीयता-विहीनता (Statelessness)

∘ **राज्यहीनता तथा उसके कारण** (The Statelessness and its causes)

भूमिका (Introduction)—जब एक व्यक्ति किसी भी राज्य का नागरिक नहीं होता तो राज्यहीनता की स्थिति पैदा हो जाती है। यह राज्यहीनता विभिन्न देशों के राष्ट्रीयता सम्बन्धी कानूनों के परस्पर संघर्ष का परिणाम होती है। एक व्यक्ति जाने—अनजाने, स्वेच्छा से अथवा बिना इच्छा के राज्यहीन हो सकता है।

**ओपेनहीम के अनुसार, राज्य**विहीनता के दो कारण हैं—

1. जब जन्म से किसी शिशु को कोई नागरिकता प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिए जर्मन में ब्रिटिश मूल की महिला से अवैध सन्तान।

2. राज्य द्वारा किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से वंचित कर देना तथा उसका दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त न कर पाना। उदाहरण के लिए चीन के अनेक नागरिक चीन के गृह युद्ध के समय भारत भाग आए तथा बाद में वे साम्यवादी सरकार की भी नागरिकता न प्राप्त कर पाए। वे भी राज्यविहीनता को प्राप्त हुए।

राज्यहीन व्यक्ति राष्ट्रीयता के उस गुण से वंचित रहते हैं जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लाभ प्रदान करने वाली एक मुख्य कड़ी है। ये व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रदान किए गए संरक्षण से भी वंचित हो जाते हैं।

प्रो. ओपेनहीन ने उनकी स्थिति की तुलना खुले समुद्र में रहने वाले एक ऐसे जहाज से की है जिस पर किसी की ध्वजा नहीं है और जो रक्षकविहीन है।

व्यवहार में राज्यहीन लोगों को अधिकांश राज्यों में विदेशी माना जाता है। इस प्रकार के लोगों के साथ यदि कोई राज्य मानवीय

अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की अवहेलना करके दुर्व्यवहार करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून उनकी रक्षा के लिए आगे नहीं आयेगा। 1930 के हेग सम्मेलन में राष्ट्रीय विहीनता की स्थिति को दूर करने के लिए सार्थक प्रयास किए गए हैं। इस सन्दर्भ में मानव अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र 1948 के अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार है तथा किसी भी व्यक्ति की राष्ट्रीयता मनमाने ढंग से नहीं छीनी जा सकती।" यद्यपि मानवीय अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र 1948 को कानूनी स्वरूप प्राप्त नहीं है फिर भी यह राज्यों के लिए प्रेरणास्रोत अवश्य है तथा राज्यों से अपेक्षा की गई है कि वे अपने व्यवहार को इस प्रावधान के अनुसार नियंत्रित करने का प्रयास करें।

**राष्ट्रीयविहीनता को दूर करने हेतु सुझाव (Suggestions regarding Removal of Statelessness)**

राज्यहीन लोगों को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। परिचय पत्रों, यात्रा सम्बन्धी अनुमतियों, विवाह सम्बन्धी अनुज्ञप्तियों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि के क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि राज्यहीनता की समस्या गम्भीर परिणामों से युक्त होते हुए भी सन्तोषजनक रूप से हल नहीं की गई है।

ओपेनहीम ने राज्यविहीनता को समाप्त करने के लिए दो सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने की बात कही है—

1. प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जन्मभूमि के देश की राष्ट्रीयता पाने का अधिकार हो बशर्ते कि वयस्क होने पर वह घोषणा द्वारा अपने माता—पिता की राष्ट्रीयता ग्रहण न करे।

2. किसी व्यक्ति को दण्ड द्वारा राष्ट्रीयता से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। विवाह द्वारा किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता को उस समय तक समाप्त नहीं किया जाना चाहिए जब तक वह नयी राष्ट्रीयता ग्रहण न कर ले।

**स्टॉर्क ने राज्यविहीनता की स्थि**ति को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—

1. किसी राज्य को किसी भी व्यक्ति की राष्ट्रीयता ठीनने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। उस राज्य को गम्भीरतापूर्वक उन अपराधों पर विचार करना चाहिए जिनके दण्ड स्वरूप नागरिकता छीनी जाती है।

2. जो राज्य अपेक्षाकृत अधिक उदारनीति अपनाते हैं, उन्हें दया दिखा कर ऐसे राज्यविहीन व्यक्तियों को जो उनके क्षेत्र में रहते हैं, अपनी नागरिकता दे देनी चाहिए।

3. राज्यविहीनता एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, अतः इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा तय किया जाना चाहिए। 1930 के हेग संहिताकरण सम्मेलन में राज्यहीनता की सम्भावना को कम करने के लिए अनेक प्रावधान स्वीकार किए गए हैं।

**प्रो. ओपेनहीम ने इनका उल्लेख** निम्न प्रकार से किया है—

1. राष्ट्रीयता कानूनों के संघर्ष से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर यह व्यवस्था की गई कि जब एक व्यक्ति को दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता स्वीकार करने की अनुमति दी जाए तो इसके कारण व्यक्ति की राष्ट्रीयता उस समय तक समाप्त न की जाए जब तक उसे दूसरे राज्य की राष्ट्रीयता न मिल जाए।

2. विवाहित महिलाओं के सम्बन्ध में अभिसमय की धारा 8 में कहा गया कि यदि राज्य के कानून के अनुसार विदेशी के साथ शादी होने के कारण पत्नी अपने राज्य की राष्ट्रीयता खो देगी तो इसके साथ यह शर्त भी होनी चाहिए कि वह अपने पति की राष्ट्रीयता पाने के बाद ही उसे खो सके।

3. अभिसमय में कहा गया कि माता—पिता के देशीयकरण के कारण बच्चों को उनके माता—पिता की राष्ट्रीयता न मिल सके तो उनकी स्थित राष्ट्रीयता जारी रहनी चाहिए। यदि एक बच्चे के माता—पिता अज्ञात हैं अथवा राष्ट्रीयहीन हैं तो उनके जन्म स्थान की राष्ट्रीयता मिलनी चाहिए। बच्चों को गोद लेने से यदि उसकी राष्ट्रीयता समाप्त होती है तो इसके साथ यह शर्त होनी चाहिए कि जब तक गोद लेने वाले व्यक्ति की राष्ट्रीयता बच्चे को न मिल जाये तब तक उसकी पहली नागरिकता बनी रहे।

4. राज्यहीनता के कुछ विशेष मामलों में यह कहा गया है कि यदि कोई राज्य जन्म के आधार पर राष्ट्रीयता प्रदान नहीं करता है तो वह बच्चे को इसके लिए राष्ट्रीयता प्रदान करे क्योंकि उनकी माँ उसी राज्य की नागरिक है।

5. किसी व्यक्ति को राष्ट्रीयता से इस आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा कि वह देश छोड़कर चला गया है अथवा उसका निवास स्थान विदेश में है अथवा वह पंजीकरण कराने में असफल रहा है।

6. विदेश में प्राकृतिकरण, देशीयकरण अथवा परित्याग का फल राष्ट्रीयता खोना नहीं होगा जब तक कि सम्बन्धित व्यक्ति अन्य राष्ट्रीयता प्राप्त नहीं कर लेता।

ऊपरवर्णित सुझावों के अतिरिक्त कुछ दूसरे प्रयासों द्वारा राज्यहीन लोगों की विशेष श्रेणियों के भाग्य को सुधारने के लिए भी प्रयास किए गए।

28 अक्तूबर, 1933 को शरणार्थियों के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्बन्ध में अभिसमय स्वीकार किया गया। 23 जुलाई, 1951 को शरणार्थियों के सम्बन्ध में अन्य अभिसमय स्वीकार किया गया। अभिसमय में शरणार्थियों को जाति, धर्म, जन्म स्थान आदि के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव के विरुद्ध रक्षा प्रदान की गई।

10 दिसम्बर, 1948 की मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में सभी व्यक्तियों को राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया।

1953 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा तैयार किया गया अभिसमय।

1954 का राज्यविहीन व्यक्तियों की स्थिति सम्बन्धी अभिसमय ।

सन् 1961 की राष्ट्रीयहीनता को कम करने की प्रतिज्ञा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने 1999 में राज्य उत्तराधिकार के सम्बन्ध में नैसर्गिक व्यक्तियों की राष्ट्रीयता पर अन्तिम प्रारूप लेख (Final Draft Articles on the Nationality to the Succession of States) को अंगीकार किया, जिसमें कहा गया कि प्रत्येक व्यक्ति को जो राज्य अधिकार के दिन पूर्ववर्ती राज्य का नागरिक था उसे किसी न किसी सम्बन्धित राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार होगा। इससे राज्य उत्तराधिकार से होने अथवा राष्ट्रीयहीनता समाप्त हो जायेगी।

वाली विराष्ट्रीकता अथवा राज्याविहीन लोगों की स्थिति को सुधारने के अनेक प्रयास किए गए हैं कि भी राज्यहीनता की समस्या को सुलझाने के लिए अभी तक कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाया गया है क्योंकि विश्व के मानते हैं। हीनया की अपना घरेलू क्षेत्राधिकार का विषय समझते हैं इसलिए सम्बन्धित विनियमों को वे हस्तक्षेप

राज्यहीनता की समस्या सरकारों की असुविधा तथा व्यक्तियों की कठिनाइयों का मुख्य आधार है। राज्यहीनता की परिस्थितियों को स्वीकार करना मानवीय सम्मान के विरुद्ध एवं तर्कहीन है। सभी राज्यों को चाहिए कि के राज्य भक्ति के विरुद्ध अथवा अन्य किसी कारण से दूसरी कठोर सजा का प्रावधान रखें किन्तु अपराधी को राष्ट्रीयता से वंचित करने का तरीका न अपनाएं।

### भारत में राष्ट्रीयता की स्थिति (Position of Nationality in India)

भारत विभाजन 1947 के पश्चात् राष्ट्रीयता से सम्बन्धित अनेक विवाद उपस्थित हुए। फलस्वरूप इस विषय में कुछ नियम तथा कानून बनाये गए। स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान के लागू होने तक कानून की दृष्टि से राष्ट्रीयता की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया गया। संविधान तीन प्रकार के लोगों को यहाँ की नागरिकता का अधिकार सौंपता है—

1. संविधान के लागू होने के समय भारत में रहने वाले उन सभी व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना गया जित्तका जन्म भारत में हुआ, जिसके माता—पिता भारत की सीमा में उत्पन्न हुए हैं तथा जो संविधान लागू होने के कम से कम पाँच वर्ष पूर्व भारत में निवास करते थे।

2. उन सभी लोगों को भारतीय माना गया जो पाकिस्तान से भारत आए तथा जो व्यक्ति और उनके माता—पिता सन् 1935 के विधान द्वारा भारत की निर्धारित सीमाओं में रहते थे तथा 19 जुलाई, 1949 से पूर्व भारत में आ गए अथवा उसके पश्चात् आवेदन पत्र देकर भारतीय नागरिक बन गए थे।

3. विदेशों में रहने वाले भारतीयों को भारत का नागरिक माना गया।

संविधान के अनुच्छेद 9 में यह कहा गया कि कोई भी व्यक्ति दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त करने. के पश्चात् भारतीय नागरिक नहीं रह सकता।

सन् 1955 में पारित भारतीय नागरिकता अधिनियम (Indian Citizenship Act, 1955) के अन्तर्गत

निम्नलिखित प्रकार से **भारतीय नागरिकता प्राप्त की जा सकती है**—

1. जन्म द्वारा (By Birth)

2. वंश परम्परा द्वारा (By Decent)

3. पंजीकरण द्वारा (By Registration)

4. देशीयकरण द्वारा (By Naturalisation)

5. राज्यक्षेत्र के विनियोग द्वारा (By Incorporation of Territory)

**राष्ट्रीयता का खोया जाना (Loss of Nationality)**

1955 के भारतीय नागरिक कानून में केवल नागरिकता प्राप्ति के उपायों का ही उल्लेख नहीं किया गया है वरन् नागरिकता खोने के साधनों का उल्लेख भी किया गया है।

निम्नलिखित आधार पर नागरिकता समाप्त भी हो सकती है।

1. परित्याग द्वारा (By Renunciation) ATCI 8

2. सम्पत्ति द्वारा (By Property) धारा 9

3. छीनी जाने पर (By Snatching) धारा 10

परित्याग उस स्थिति में होता है जब एक व्यक्ति दोहरी नागरिकता की स्थिति में स्वेच्छा द्वारा एक घोषणा करके भारतीय नागरिकता को छोड देता है। नागरिकता की समाप्ति अथवा अवसान उस समय होता है जब एक भारतीय विदेशी नागरिकता स्वीकार कर लेता है। उसकी नागरिकता व्यवहार में स्वतः ही समाप्त हो जाती है। इस व्यवस्था का आधार यह है कि किसी व्यक्ति को दोहरी नागरिकता का विषय बना कर उसकी स्वामी भक्ति को विभाजित न किया जाये।

विवाहित स्त्री को यह अधिकार दिया गया है कि पति द्वारा भारतीय नागरिकता छोड़ देने पर भी वह उसे बनाये रख सकती है।

नागरिकता से वंचित उस स्थिति में किया जा सकता है जब सम्बन्धित व्यक्ति भारतीय नागरिकता के लिए अपना पंजीकरण अथवा देशीयकरण धोखाधड़ी से, झूठे बयान द्वारा अथवा तथ्यों को छिपा कर करता है। संविधान के प्रति निष्ठावान नहीं रहता, शत्रु को लाभ पहुँचाने के लिए व्यापार करना, नागरिकता प्राप्त करने के पाँच वर्ष के भीतर न्यायालय द्वारा दो वर्ष की सजा, सात वर्ष तक देश से बाहर रहा हो तो भी नागरिकता समाप्त हो सकती है।

# विदेशियों के साथ व्यवहार [Treatment of Aliens]

### 1. विदेशियों के साथ व्यवहार के प्रश्न पर टिप्पणी करें। (Write a short note on the question of treatment of Aliens.)

**उत्तर**—विदेशियों के साथ व्यवहार के प्रश्न पर चर्चा निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर की जा सकती है विदेशी का अर्थ (Meaning of Alien) — किसी राज्य में राष्ट्रिकों के अतिरिक्त अन्य रहने वाले व्यक्तियों को विदेशी कहा जाता है। इस प्रकार किसी राज्य के राष्ट्रिकों की अन्य राज्य में उपस्थिति को विधितः विदेशी कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति अन्य देश के राज्य—क्षेत्र में प्रवेश करता है, तब वह उस देश की राष्ट्रीय विधि के अधीन हो जाता है, यदि वह राजनयिक अभिकर्ता नहीं है अथवा वह अन्य देशीप राज्य का मान्यता प्राप्त अधिकारी नहीं है।

**विदेशियों का प्रवेश (Admission of Aliens)** — यह प्रत्येक राज्य की स्वेच्छा पर निर्भर करता है कि विदेशियों को अपने राज्य के क्षेत्र में प्रवेश करने की अनुमति दे अथवा न दे। प्रत्येक राज्य की यह स्वेच्छा एवं क्षमता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र पर पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता प्राप्त है। प्रथा संबंधी अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत कोई राज्य यह दावा नहीं कर सकता है कि कोई अन्य राज्य उसकी राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियों को अपने क्षेत्र में प्रवेश करने और रहने दे। विदेशियों को अपने क्षेत्र में प्रवेश करने देना है या नहीं, यह राज्य के विवेक अथवा स्वेच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार, राज्य का यह अधिकार है कि वह या तो विदेशियों के प्रवेश को प्रतिषिद्ध करे या उन्हें अपने राज्य—क्षेत्र में प्रवेश दे। निशीमुना एकियू बनाम यूनाइटेड स्टेट्स (Nishimuna Ekiu Vs. United States) में न्यायमूर्ति ग्रे (Justice Grey) ने निर्णय दिया था कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्रभुसत्ता—सम्पन्न राष्ट्र की, प्रभुसत्ता सम्पन्नता में अन्तर्निहित रूप में अपने राज्य के अन्तर्गत विदेशियों के प्रवेश को रोकने की तथा केवल ऐसे मामलों में और ऐसी शर्तों पर जिसे विहित करना वह उचित समझते, उन्हें प्रवेश देने की शक्ति है और यह आत्मरक्षा के लिए जरूरी है।" इससे यह विदित होता है कि विदेशियों को प्रवेश न देना अन्तर्राष्ट्रीय रूप से दोषपूर्ण कार्य नहीं है।

**विदेशियों के अधिकार तथा कर्तव्य** (Rights and Duties of Aliens) — किसी राज्य के क्षेत्र में प्रवेश करने के पश्चात् विदेशी उस राज्य की विधियों के उसी प्रकार अधीन होता है जिस प्रकार उत्त राज्य के नागरिक होते हैं। विदेशी व्यक्ति जब तक उस राज्य में रहते हैं वह उस राज्य के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं और अपने सभी कार्यों के लिए उस राज्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं। विदेशी दो राज्यों की अधिकारिता के अन्तर्गत आते हैं। पहला, उस राज्य की अधिकारिता के अधीन आता है, जिसमें वह निवास करता है। वह उस राज्य के प्रति अपने अधिवास के दौरान निष्ठा (Allegiance) घारण करता है। विदेशियों के ऊपर उस राज्य की अधिकारिता भी रहती है, जिस राज्य का वह नागरिक है। ऐसे राज्य राष्ट्रिकों पर चाहे वह कहीं भी रहें, व्यक्तिगत अधिकारिता रखते हैं।

चूँकि विदेशी स्थानीय राज्य की राज्य—क्षेत्र सर्वोच्चता के अधीन होता है, इसलिए राज्य अपने राज्य क्षेत्र में विदेशियों पर अपनी विधि लागू कर सकता है तथा विदेशियों को उसकी विधि का अनुसरण एवं सम्मान करना चाहिए। जो विदेशी किसी राज्य में स्थायी रूप से या दीर्घकाल तक रहते हैं उनसे कर आदि भी वसूल किए जा सकते हैं तथा उन्हें लोक व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने हेतु स्थानीय पुलिस तथा आग बुझाने की सेवाओं में कार्य करने हेतु विवश किया जा सकता है। किसी राज्य में जो विदेशी अस्थायी रूप से निवास करते हैं या जो राज्य में पर्यटक के रूप में आते हैं, उन्हें उन विदेशियों की अपेक्षा, जो निवासी होते हैं अर्थात् उन विदेशियों को जो राज्य में अपना अधिवास या तो स्थायी रूप से या कुछ लम्बे समय के लिए बनाते हैं, उनके अधिकारों में भिन्नता होती है।

जब तक विदेशी किसी राज्य में रहता है, उसके साथ वही व्यवहार करना चाहिए जो उस राज्य के नागरिकों के साथ किया जाता है। अन्य शब्दों में, विदेशियों के साथ व्यवहार का मापदण्ड यह है कि उनके साथ नागरिकों के समान व्यवहार किया जाना चाहिए और उनके साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। विदेशियों के अधिकार से संबंधित विधि सुस्थापित नहीं है। परन्तु राज्यों के अभ्यास में या अभिसमयों अथवा करारों के आधार पर उन्हें वे अधिकार मिलते हैं, जो एक राज्य अपने नागरिकों को प्रदान करता है। 1902 में मेक्सिको में आयोजित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय अमेरिकी सम्मेलन (Second

International American Conference) में विदेशियों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय को तैयार किया गया था जिसके अनुच्छेद—1 में इस सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया था कि विदेशी उन्हीं अधिकारों का उपभोग करेंगे जिसको कि राज्य के नागरिक उपभोग करते हैं। लेकिन अभिसमय का अनुसमर्थन संयुक्त राज्य द्वारा नहीं किया गया।

1985 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने उन व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों, जो उस देश की राष्ट्रीयता — वाले नहीं हैं जहाँ वह रहते हैं, की घोषणा में (Declaration on Human Rights of individuals who are not national of the country in which they live) यह स्पष्ट किया कि इसमें उल्लिखित अधिकारों का उन अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा जो उन्हें आंतरिक विधि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत पहले से ही प्राप्त हैं। घोषणा के अनुसार विदेशियों को स्थानीय विधि, प्रथाओं तथा परम्पराओं का सम्मान करना चाहिए। विदेशियों के कुछ मूल मानवीय, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार हैं। घोषणा विदेशियों की यंत्रणा तथा उनके साथ निर्दयता और अमानवीय व्यवहार का निषेध करती है। विदेशियों का मनमाने —ढंग से व्यक्तिगत तथा सामूहिक निष्कासन जाति, धर्म, रंग, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर नहीं होना चाहिए। विदेशियों को मनमाने ढंग से उनकी आस्तियों (Assests) से वचित नहीं किया जाना चाहिए।

**प्रो. फेनविक के मतानुसार, "वि**देशियों को बाहर निकालने का अधिकार सिद्धान्त रूप में जितना पूर्ण है उतना वास्तव में नहीं है। वर्तमान में राष्ट्रों के मध्य प्रचलित सामाजिक और आर्थिक संबंधों के परिवेश में ऐसा करना सरल नहीं रह गया है।

**बड़ी संख्या में विदेशियों का निष्कासन** (Mass Expulsion of Aliens)— विदेशियों के व्यक्तिगत निष्कासन के अतिरिक्त उनका सामूहिक निष्कासन भी हो सकता है। सामूहिक निष्कासन में यह समझा जाता है कि यह विदेशियों के किसी विशेष संवर्ग, जैसे—जातीय, मूलवंशीय या धार्मिक समूह से संबंधित है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि विदेशियों के सामूहिक निष्कासन को प्रतिषिद्ध नहीं करती। परन्तु इसे केवल उसी समय विधि पूर्ण होना माना जा सकता है जब कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिए ठोस आधार दिए गए हों। बिना किसी आधार के सामूहिक निष्कासन मानव अधिकार का उल्लंघन करने अथवा मानव वध का अपराध करने के समान हो सकता है। परन्तु राज्य सामूहिक निष्कासन को उस समय न्यायोचित ठहरा सकता है जब निष्कासन करने वाले राज्य की सुरक्षा और अस्तित्व को गम्भीर रूप से संकट उत्पन्न हो जाता है। किसी विशेष औचित्य के बिना सामूहिक निष्कासन को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन मानना चाहिए। इसलिए यह वांछनीय है कि राज्यों द्वारा सामूहिक निष्कासन न किया जाए।

**विदेशियों की सम्पत्ति पर स्वामित्त्व स्थापित करना** (Expropriation of Property of Aliens)— अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह मान्य सिद्धान्त है कि विदेशियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान किया जाना चाहिए। यदि राज्य उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ रहता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन उत्तरदायी हो जाता है। 19वीं शताब्दी तक यदि कोई राज्य अपने क्षेत्र में स्थित विदेशी नागरिकों की सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करता था तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन समझा जाता था। परन्तु वर्तमान समय में राज्य द्वारा अपनी आर्थिक प्रणालियों पर पूर्ण नियंत्रण तथा विभिन्न उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप स्थिति में परिवर्तन आ गया है तथा अब इस प्रकार के उल्लंघन या कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध मानना कठिन है। 'स्वामित्व' शब्द के अन्तर्गत राष्ट्रीयकरण तथा सम्पत्ति जब्त होना भी शामिल है। अभ्यास सिद्धान्त और वादों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी सम्पत्ति पर स्वामित्व तभी वैध हो सकता है जब कि यह लोक उद्देश्य या लोकहित के लिए हुआ हो, जब इसके द्वारा विदेशियों के साथ भेदभाव न हो तथा इसमें कोई अन्य अभियमितता न हो। यदि इसमें उचित मुआवजे का प्रावधान नहीं होता है तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध माना जाता है। परन्तु इस विषय में मतभेद है तथा कुछ लेखकों का कथन है कि उचित मुआवजे के अभाव में स्वामित्व संबंधी कार्य अथवा राज्य विधि अवैध नहीं हो जाती है। राज्यों के आर्थिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का चार्टर (The Charter of Economic Rights and Duties of States) प्रावधान करता है कि प्रत्येक राज्य को विदेशी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने, विनियोजन करने तथा स्वामित्व का अन्तरण करने का अधिकार है। ऐसे मामलों में राज्य द्वारा सुसंगत विधि तथा विनियमों पर विचार करने के बाद समुचित प्रतिकार प्रदान किया जाना चाहिए। जिस मामले ने प्रतिकार का प्रश्न विवाद उत्पन्न करता है, उस मामले में इसका निपटारा राष्ट्रीयकरण करने वाले राज्य की राज्य विधि के अधीन और उसके अधिकरण द्वारा किया जाएगा, यदि अन्यथा करार न हुआ हो।

इस मामले में अब सर्वसम्मति है कि प्रत्येक राज्य को विदेशी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने तथा उस पर स्वामित्व स्थापित करने का अधिकार है। इस मामले में भी सर्वसम्मति है कि ऐसी दशा में प्रतिकार दिया जाएगा। मतभेद केवल इस प्रश्न पर है कि प्रतिकार कितना तथा किस प्रकार दिया जाए। विकसित देशों के अनुसार प्रतिकार तुरन्त तथा बाजार मूल्य के समान होना चाहिए। विकासशील देशों के अनुसार प्रतिकार राज्यों के घरेलू विधि के अनुसार निश्चित किया जाएगा। राजनीतिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि इन भिन्न मतों का धीरे—धीरे समन्वय हो रहा है तथा इस पर आधुनिक घरेलू सम्पत्ति विधि का निश्चित प्रभाव पड़ेगा। पिछले अनेक वर्षों से यह देखने में आया है कि विकासशील देशों में जितने विदेशी सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण या स्वामित्व के मामले हुए उनमें अधिकतर मामलों में घरेलू विधि के अनुसार ही प्रतिकार प्रदान किया गया है।

## 14 प्रत्यर्पण [Extradition]

**प्रत्यर्पण से आप क्या समझते हैं? प्रत्यर्पण की आवश्यकता क्यों पड़ती है? (What do you understand by Extradition? Why is Extradition essential?)**

**अथवा**

**प्रत्यर्पण की परिभाषा लिखिए। इसकी आवश्यक शर्तें क्या हैं? (Define Extradition. What are its necessary conditions?)**

**अथवा**

**प्रत्यर्पण के विकास पर टिप्पणी करें।**

**अथवा**

**प्रत्यर्पण से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन करें। (What is Extradition? Discuss its various theories.)**

**अथवा**

**राजनीतिक अपराध की परिभाषा दीजिए एवं राजनीतिक अपराधियों के अप्रत्यर्पण के सिद्धान्त के विकास की व्याख्या कीजिए।**

**अथवा**

**प्रत्यार्पण और शरण का सिद्धांत एक—दूसरे के विरोधी हैं। विवेचना कीजिए।**

**उत्तर**—सामान्यतः प्रत्येक राज्य अपने प्रदेश के अन्दर ही अपने नागरिकों पर अधिकारिता रखता है। कभी—कभी ऐसे हालात पैदा हो जाते हैं कि एक व्यक्ति अपने देश में अपराध करने के पश्चात् दूसरे देश में भागने में सफल हो जाता है। तव संबंधित देश उस पर क्षेत्राधिकार रखने और उसे दण्ड देने में असहाय महसूस करता है। यह परिस्थिति शान्ति और व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में शान्ति एवं व्यवस्था तभी रखी जा सकती है जब उस विषय के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हो। स्पष्ट है कि इस प्रकार के अपराधियों को दण्ड देने की सामाजिक आवश्यकता है और इस सामाजिक व्यवस्था को पूरा करने के लिए प्रत्यर्पण का सिद्धान्त अपनाया जाता है। प्रत्यर्पण अधिकतर संधियों पर आधारित होता है।

**प्रत्यर्पण का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Extradition)**— प्रत्यर्पण उसे कहते हैं जब कोई व्यक्ति एक देश में भीषण अपराध करके उसके दण्ड से बचने हेतु दूसरे देश में भाग जाता है। तब पहले देश द्वारा प्रार्थना करने पर दूसरे देश को उस अपराधी को सौंपना होता है। अन्य शब्दों में, प्रत्यर्पण एक राज्य द्वारा अन्य राज्य को उस व्यक्ति का

समर्पण है जो उस राज्य के क्षेत्र के भीतर पाया जाता है। Extradition शब्द दो लेटिन शब्दों इक्स (Ex) तथा ट्रेडिटम (Traditum) से उत्पन्न हुत्रा है। सामान्यतथा इसका तात्पर्य 'अपराधियों का परिदान' (Delivery of Criminals), फरारी का समर्पन है।

प्रत्यर्पण का अर्थ समझने के लिए **अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं** का अवलोकन उपयुक्त रहेगा।

**लारेंस के अनुसार**, "प्रत्यर्पण एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के लिए ऐसे व्यक्ति को अर्पित करना है जिसने प्रथम राज्य के प्रदेश में अपराध किया है अथवा दूसरे राज्यों के प्रदेश से बाहर अपराध करने पर भी वह इसका प्रजाजन होने के नाते इस देश के कानून के अनुसार इसके क्षेत्राधिकार में आता है।"

**प्रो. स्टार्क के मतानुसार,** "प्रत्यर्पण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक राज्य किसी ऐसे व्यक्ति को दूसरे राज्य को सौंपता है जिसने उपरोक्त राज्य में कोई अपराध किया हो और जिस पर मुकदमा चलाने के लिए वह सक्षम हो।"

**प्रो. ओपेनहीम के अनुसार,** "प्रत्यर्पण ऐसे अभियुक्त अथवा दण्डित व्यक्ति को ऐसे राज्यों को साँपना है जिसके प्रदेश में उस पर अपराध करने का आरोप है अथवा जहाँ उसे दण्डित किया गया है। यह प्रार्थना ऐसे राज्य से की जाती है जहाँ अपराधी इस समय विद्यमान है।"

प्रत्यर्पण एक व्यवहारिक समस्या का समाधान है। प्रत्येक राज्य यह चाहता है कि भीषण अपराध करने वाले को अवश्य दण्ड मिलना चाहिए। यदि अपराधी अपराध करने के पश्चात् दूसरे देश में भाग जाता है तो उसे वापस देश में लाकर अभियोग चलाया जाए ताकि अपराध के विरुद्ध सभी साक्षियों आसानी से प्राप्त हो सकें। यदि विदेश में अभियोग चलाया जाएगा तो साक्षियों को उपलब्ध करवाना बहुत ही कठिन कार्य होगा। सभी राज्यों का सामान्य हित इसी में है कि न्याय से भागने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी राज्य एक–दूसरे से सहयोग करते हैं।

**प्रत्यर्पण की आवश्यकता (Necessity of Extradition)**– अपराधी को निवेदक राज्य को प्रत्यर्पण करने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं–

**1. प्रत्यर्पण से भयंकर अपराधी भी भयभीत** – प्रत्यर्पण अपराधियों को चेतावनी के रूप में है कि वे अन्य राज्य में भागकर दण्ड से बच नहीं सकते। इसलिए प्रत्यर्पण का निवारक (Deterrent) प्रभाव होता है। यदि कोई व्यक्ति भयंकर अपराध करता है और पड़ोसी देश में भागकर कानून से बच जाता है तो इसके परिणामस्वरूप अपराधों की वृद्धि ही होगी, किन्तु यदि अपराधी को यह मालूम रहे कि दूसरे देशों में भागने पर भी प्रत्यर्पण सम्भव है तो वह अपराध करके कानून से भागने का असफल प्रयास कम ही करेगा।

**2. साक्षियों का उपलब्ध होना**–उसी राज्य में अपराधी पर समुचित अभियोग चलाया जा सकता है जिसके कानून को उसने भंग किया है। जहाँ अपराध किया जाता है वहाँ अपराधी के विरुद्ध आवश्यक साक्षी अथवा गवाही आसानी से उपलब्ध की जा सकती है।

**3. अपराध के दमन की प्रक्रिया**–यह अपराध के दमन की प्रक्रिया है। सामान्यतथा, किसी व्यक्ति को उस राज्य में, जिसमें वह भाग गया है, अधिकारिता की कमी के कारण या आपराधिक विधि के तकनीकी विधि के कारण दण्डित या अभियोजित नहीं किया जा सकता। इसलिए अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जाता है, जिससे वह दण्ड से बच न सके।

**4. राज्य के हित की सुरक्षा –** अपराधियों को इसलिए सौंपा जाता है कि वह राज्य क्षेत्रीय राज्य के हित की सुरक्षा करता है। यदि कोई विशिष्ट राज्य अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने (Non-extradition) की नीति को अपनाता है, तो अपराधी उसी राज्य में भाग जाना पसन्द करेंगे। इस प्रकार वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अपराधियों का स्थान हो जाएगा, जो सुरक्षा की दृष्टि से उसके लिए वास्तव में खतरनाक होगा क्योंकि वे पुनः वहाँ अपराध कर सकते हैं, यदि उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाएगा।

**5. अपराधी को दण्ड देने की इच्छा** – अधिकांश राज्यों में यह इच्छा पायी जाती है कि भीषण अपराध करने वाला अवश्य

दण्डित होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति भीषण अपराध करके दूसरे देश में भाग जाता है तो उसको वहाँ से लाकर उस पर अभियोग चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्यर्पण की प्रक्रिया के द्वारा ही अपराधी को दूसरे देशों से लाया जा सकता है। जैसे डॉ. धर्म तेजा के मामले से स्पष्ट है कि भारत सरकार उन पर अभियोग चलाना चाहती थी। उनके इंग्लैण्ड से प्रत्यर्पण के उपरान्त ही यह सम्भव हो सका।

**6. पारस्परिकता पर आधारित—** प्रत्यर्पण पारस्परिकता पर आधारित है। जिस राज्य से आज अपराधी को सौंपने का अनुरोध किया जाता है, वह भविष्य में उस राज्य से अपराधी को सौंपने का अनुरोध कर सकता है।

**7. व्यावहारिक समस्या का समाधान**—प्रत्यर्पण मूल रूप से एक व्यावहारिक समस्या का समाधान है। प्रत्येक राज्य सामान्यतः यह सोचता है कि अपराधी को सजा मिलनी चाहिए। यदि विदेश में जहाँ वह भाग गया है, अभियोग चलाया गया तो निर्णय होने तक साक्षियों को वहाँ नहीं रोका जा सकता। साक्षियों को दूर राज्यों में रोकना बड़ा कठिन है। अतः अपराधी प्रत्यर्पण को ही आवश्यक समझा जाता है।

**8. सामाजिक समस्याओं का हल**—प्रत्यर्पण इसलिए किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति की सामाजिक समस्याओं को हल करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रगति की ओर एक कदम उठाया जा सके। इस प्रकार यह संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों में से एक को पूरा करता है, जो चाटा के अनुच्छेद—1 के अधीन प्रावधानित है।

**क्या प्रत्यर्पण राज्य का विधिक कर्तव्य है? (Is extradition a Legal Duty of a State?)**

ग्रोशियस (Grotius) प्रत्यर्पण को गम्भीर अपराधों के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा राज्यों पर आरोपित किया गया स्पष्ट विधिक कर्तव्य मानते हैं। अभियोजन तथा प्रत्यर्पण का सिद्धान्त 'आटडिडेरे आर प्यूनियरे' (Autdedere are Puniare) सूक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया गया था लेकिन अभ्यास में राज्यों द्वारा इस सिद्धान्त का अनुत्तरण नहीं किया गया और इसलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम नहीं बन सका। वर्तमान समय में बिना प्रत्यर्पण संधि के फरार अपराधी को नहीं सौंपा जाता। अपराधी को सौंपने का विधिक कर्तब केवल तब उत्पन्न होता है, जब राज्यों द्वारा संधि की गयी हो। केवल विशेष मामलों में, राज्य पारस्परिक (Reciprocity) के आधार पर व्यक्ति का प्रत्यर्पण कर सकते हैं। लेकिन यह उसकी ओर से किसी विधिक कर्तव्य के कारण नहीं बल्कि पारस्परिकता या शिष्टाचार के कारण किया जाता है।

**प्रत्यर्पण का विकास** (Development of Extradition) — प्रत्यर्पण का इतिहास 19वीं शताब्दी से शुरु होता है। इससे पहले प्रत्यर्पण का अस्तित्व अपवाद के रूप में था। ग्रोशियस ने 1625 में कहा था कि प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि विदेश में अपराच करने के बाद उसकी सीमा में आने वाले व्यक्तियों को या तो दण्ड दिया जाए या जिस राज्य में उसने अपराध किया है, उसे उनको सौंप दिया जाए। वैटित के अनुसार 1758 में चोरों तथा हत्यारों का प्रत्यर्पण होता था। इससे पहले क्योंकि यातायात के साधनों का अभाव था, इसलिए अपराधियों को अपना देश छोड़कर भागने के अवसर नहीं होते थे। 19वीं शताब्दी में यातायात के साधनों के अधिक विकास के कारण अपराधियों को अपना देश छोड़ कर अन्य देशों में भागने के काफी अवसर मिलने लगे। तब अपराधियों को पकड़ने और दण्डित करने के लिए राज्यों में प्रत्यर्पण की संधियों होने लगी। सबसे पहले 1833 में बेल्जियम ने प्रत्यर्पण कानून का निर्माण किया। 1870 में ब्रिटेन ने प्रत्यर्पण के बारे में कानून बनाया तथा इसका संशोधन 1873, 1895, 1906 और 1932 में किण गया। ब्रिटिश भारत में अपराध करने वाले व्यक्ति देशी रियासतों में भाग जाया करते थे। अतः भारत में 1870, 1881 और 1903 में इसके लिए आवश्यक कानून बनाए गए। प्रो. डिकिन्सन के मतानुतार, "जब आधुनिक राज्य पद्धति का विकास हुआ और यातायात के साथनों की वृद्धि हुई तो अपराधों को रोकने के लिए सभी राज्यों में सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विषय बन गया। इसके लिए भगोड़े अपराधियों के समर्पण की अवस्या विभिन्न राज्यों की द्विपक्षीय संथियों द्वारा की गयी। प्रत्यर्पण का आधार अन्तर्राष्ट्रीय को यूवका कोई सिद्धान्त नहीं है। कोई भी राज्य अधिकार के रूप में इसकी माँग नहीं कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य और पारस्परिक संचियों ही इसके मुख्य आधार हैं।" ओपेनहीम के अनुसार, "बदली हुई परिस्थितियों मैं प्रत्यर्पण से संबंधित विशेष संधियाँ आवश्यक बन गई हैं और सामान्य प्रत्यर्पण संवियों करने की दिशा में झापक प्रवृत्ति दिखाई देती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में प्रत्यर्पण से संबंधित नियम मुख्य रूप से इस कारण सुस्थापित नहीं हैं क्योंकि प्रत्यर्पण एक ऐसा विषय है,

जो पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता। प्रत्यर्पण विधि दोहरी विधि है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोनों में ही होता है। इस संबंध में समय—समय पर राज्यों द्वारा प्रत्यर्पण के लिए बहुपक्षीय संधि के निर्माण के लिए कई प्रयास किए गए हैं किन्तु वे प्रत्यर्पण के संबंध में सामान्य नियम को बनाने के प्रयास में असफल हो गए हैं। उदाहरण के लिए, 1935 में हाववेर्ड रिसर्च में प्रत्यर्पण पर प्रारूप अभित्समय तैयार किया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने इस विषय की विधिक समस्याओं पर अपनी वार्ता की मीटिंग में विचार किया। इसने 1928 में प्रत्यर्पण पर अभिसमय का प्रारूप तैयार किया किन्तु कोई ऐसा परिणाम नहीं निकला जिससे प्रत्यर्पण के नियम सभी राज्यों के लिए बन सकें। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने संहिताकरण के चौदह विषयों की अपनी सामान्य सूची में 1949 में प्रत्यर्पण के विषय को शामिल करने के बावजूद अब तक इस विषय पर विचार नहीं किया है। यह आवश्यक है कि बहुपक्षीय अभिसमय का निर्माण किया जाए, ताकि प्रत्यर्पण के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि हे सामान्य नियमों को प्रतिपादित किया जा सके। यूरोपीय प्रत्यर्पण अभिसमय (European Convention of Extradition) पर यूरोप परिषद् (Council of Europe) के सदस्यों द्वारा 13 दिसम्बर, 1975 को हस्ताक्षर किया गया। अरब संघ (Arab League) प्रत्यर्पण करार 14 सितम्बर, 1952 को अरब राज्यों के संघ की परिषद् द्वारा अनुमोदित किया गया। प्रत्यर्पण पर अन्तर अमेरिकी अभिसमय, 1981 (Inter American Convention of Extradition, 1981) क्षेत्रीय अभिसमय का अन्य उदाहरण है। ऐसे क्षेत्रीय अभिसमयों ने प्रत्यर्पण के सामान्य नियमों को सृजित करने की प्रवृत्ति में योगदान दिया है। वर्तमान समय में किसी बहुपक्षीय संधि या अभिसमय के अभाव में राज्यों द्वारा प्रत्यर्पण द्विपक्षीय संधियों के आधार पर किया जाता है जिनमें भगोड़े अपराधियों के प्रत्यर्पण के संबंध में नियम बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए, भारत के प्रत्यर्पण के संबंध में भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 (Indian Extradition Act of 1962) में नियम बनाए गए हैं। इसी तरह अन्य राज्यों में भी प्रत्यर्पण विधियों हैं।

**प्रत्यर्पण की शर्तें (Conditions of Extradition)** — प्रो. ओपेनहीम के अनुसार प्रत्यर्पण संबंधी आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं—

**1. प्रत्यर्पण संधि (Extradition Treaty)** — प्रत्यर्पण के लिए प्रथम तथा सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त है कि राज्य—क्षेत्र राज्य (Territorial State) तथा निवेदक राज्य (Requesting State) के बीच साँघ का अस्तित्व होना। विना संधि के अभियुक्त का प्रत्यर्पण नहीं किया जाता है। इसलिए एक राज्य से दूसरे राज्य में भागे हुए अपराधियों को दण्डित करने के लिए यह वांछनीय है कि राज्य अन्य राज्यों के साथ प्रत्यर्पण संधि का निर्माण करे। प्रत्यर्पण से संबंधित संधियाँ दो प्रकार की होती हैं— (i) प्राचीन अथवा संस्थापक प्रकार की संधियाँ। ये संधियाँ ऐसे अपराधों की सूची प्रस्तुत करती हैं जो प्रत्यर्पण के योग्य हैं।

(ii) आधुनिक संधियाँ जिनमें इस प्रकार के अपराधों की सूची नहीं होती वरन् सामान्य रूप से उन सभी मामलों में प्रत्यर्पण की व्यवस्था की जाती है जहाँ सभी संबंधित राज्यों में अपराध दण्डनीय है। उनके द्विपक्षीय संधियों होने से पूर्व राष्ट्र भगोड़ों के समर्पण को अपना कानूनी कर्तव्य नहीं मानते थे। वर्तमान राज्य में प्रत्यर्पण को आवश्यक बनाने वाला अपराध वह है जो या तो संधि में विशेष रूप में शामिल किया गया हो अथवा संबंधित देशों के कानून के अनुसार अपराध माना जाता हो। भारत ने विगत वर्षों में कई राज्यों के साथ प्रत्यर्पण संधियाँ की हैं, जैसे—1987 में कनाडा के साथ, 1992 में यूनाइटेड किंगडम के साथ, 1998 में रूस के साथ, 1999 में अमेरिका के साथ तथा यू.ए.ई. के साथ, 2002 में स्पेन के साथ और 2003 में फ्रांस के साथ।

यद्यपि प्रत्यर्पण के लिए संधि का होना आवश्यक है, संधि की कठोर अपेक्षा अपराध के दमन में एक प्रकार का व्यवधान कही जा सकती है। प्रत्यर्पण संधियों राजनैतिक रूप से संवेदनशील होती हैं और उनई निर्माण में सावधानी तथा व्यापक विचार—विमर्श की अपेक्षा की जाती है, इसलिए राज्यों द्वारा प्रत्यर्पण सपिजे का निर्माण बहुत अधिक नहीं हुआ है और अपराधी ऐसे राज्यों में आश्रय पा जाते हैं जिनके साथ निवेदक राज्य की कोई संधि नहीं है।

**2. राजनीतिक, धार्मिक एवं सैनिक अपराधी प्रत्यर्पण के योग्य नहीं** (Political, Religious and Military offences are not subject to Extradition) — यदि भगोड़ा अपराधी राजनीतिक अपराध का दोषी है तो उसका प्रत्यर्पण नहीं किया जाना चाहिए। इसी प्रकार सेना संबंधी अपराध एवं धार्मिक अपराधों के लिए प्रत्यर्पण नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह रूढिगत नियम कि राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में, उन्हें राज्य क्षेत्रीय राज्य द्वारा

आश्रय प्रदान किया जाता है। राजशाही शासनकाल के दौरान राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण बहुत सामान्य था। वे अन्य राज्य के मामलों में मध्यक्षेत्र को निवारित करने के लिए प्रत्यर्पण को पसन्द करते थे। किन फ्रांसीसी क्रान्ति (French Revolution) के प्रारम्भ से इस प्रथा में मूल परिवर्तन हो गया। शायद पहली बार फ्रांसीसी संविधान, 1793 (French Constitution of 1793) के अनुच्छेद 120 के अधीन उन अन्य देशियों को आश्रय प्रदान करने के लिए प्रावधान बनाया गया जो स्वतंत्रता आन्दोलन के कारण अपने देश से निष्कासित कर दिए जाते थे। बाद में धीरे—धीरे अन्य राज्य के राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण र करने का सिद्धान्त का अनुसरण करने लगे।

**3. प्रत्यर्पण के लिए दोहरा अपराध आवश्यक** (The offence must be crime in both ● States)— प्रत्यर्पण के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी है कि वह अपराध जिसके लिए कोई राज्य शरण से वाले राज्य से आवेदन कर रहा है, उन दोनों राज्यों में अपराध होना चाहिए। इसको दोहरे अपराध का सिद्धांत (Principle of Double Criminality) कहा जाता है। प्रत्यर्पण माँगने वाले देश की दण्ड विधि अनुसार कोई कार्य अपराध नहीं है तो उसके संबंध में प्रत्यर्पण माँगा ही नहीं जाएगा और यदि प्रत्यर्पण करने वाले राज्य की दृष्टि से वह अपराध नहीं है तो प्रत्यर्पण किया नहीं जाएगा। द्वारा दण्डनीय हैं।

**4. जिस अपराध के लिए प्रत्यर्पण हो उसी के लिए दण्ड व्यवस्था** (A Criminal to be tried only for that Offence for which there has been Extradition)—प्रत्यर्पण संधियों के अनुसार प्रत्यर्पण की यह शर्त रखी जाती है कि समर्पित किए गए व्यक्ति पर केवल उन्हीं अपराधों के लिए अभियोग चलाया जाएगा और उन्हें दण्डित किया जाएगा जिनके लिए प्रत्यर्पण की माँग की गयी है। यदि पर किसी अन्य अपराध के लिए अभियोग चलाया जाता है। ।

**5. अपराधी के विरुद्ध स्पष्ट प्रमाण का होना आवश्यक (**There should be a prima facía evidence against the Accused) — यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्यर्पण करने वाला राज्य अपने आपको इस बात से सन्तुष्ट करेगा कि अपराधी के विरुद्ध स्पष्ट (Prima facia) प्रमाण है। कोई भी राज्य किसी अपराधी का केवल इसलिए प्रत्यर्पण नहीं करेगा क्योंकि किसी दूसरे राज्य ने उससे इस संबंध में आवेदन किया है। प्रत्यर्पण माँगने की प्रार्थना केवल तभी की जा सकती है जब न्यायालय द्वारा संबंधित व्यक्ति को अपराधी पाया जा रहा है अथवा उसके विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही का औचित्य है। अभियुक्त के अपराध को प्रथम दृष्टि साक्ष्य होना चाहिए। व्यक्ति का प्रत्यर्पण करने से पहले राज्य क्षेत्रीय राज्य को स्वयं का समाधान करना चाहिए कि अभियुक्त के विरुद्ध दृष्ट्या साक्ष्य है जिसके लिए प्रत्यर्पण की माँग की जाती है। सी. जी. मैनन के वाद में मद्रास उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि "साक्ष्य पेश करने की आवश्यकता यह दर्शित करने के लिए पूर्ण रूप से मान्य है कि अपराधी उस अपराध का अपराधी है, जिसके लिए उस पर उसके प्रत्यर्पण की माँग करने वाले देश द्वारा आरोप लगाया गया है।"

**6. वित्तीय प्रकृति के अपराध के लिए प्रत्यर्पण** (Extradition for an offence of Fiscal Character)—वित्तीय अपराध के अपराधी के लिए प्रत्यर्पण के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़िगत नियमों में ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे यह निषिद्ध हो। इस तथ्य के बावजूद भी राज्यों द्वारा वित्तीय अपराध के अपराधी के प्रत्यर्पण को अभ्यास में नहीं लाया गया है। ऐसे अपराधों के संबंध में प्रत्यर्पण के प्रति राज्यों के तटस्थ दृष्टिकोण वित्तीय दायित्व से बचने के लिए अन्य राज्यों में अपराधियों के भागने को प्रेरित करते हैं। डॉ. धर्मतेजा 1978 में 4 करोड़ रुपये के आयकर की किश्तों की वसूली से बचने के लिए भारत से भाग गए। उनके विरुद्ध कोई प्रत्यर्पण प्रक्रिया नहीं शुरु की जा सकी। क्योंकि उसके विरुद्ध कोई अपराधिक आरोप नहीं था। समान एवं अन्य आर्थिक अपराधों का दमन करने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम वित्तीय प्रकृति के अपराधों के प्रत्यर्पण को प्रतिषिद्ध करते हैं। ऐसे अपराधों के दमन के लिए राज्यों की संचेतना ने अपनी प्रत्यर्पण को संधियों में ऐसे अपराधों के प्रत्यर्पण के लिए प्रावधान करने के लिए राज्यों को प्रेरित किया है।

**7. विदेशों में कारित किए गए अपराधों के लिए विदेशी राष्ट्रों का प्रत्यर्पण** (Extradition of Foreign National for Crimes Committed in Foreign Countries) — अन्य देशों का विदेशों में किए गए अपराधों के लिए प्रत्यर्पण नहीं किया जाता। उनका परीक्षण केवल उस राज्य में किया जा सकता है और उस राज्य में उन्हें दण्ड दिया जा सकता है जिसमें अपराध किया गया है। उनका प्रत्यर्पण उत्स राज्य में नहीं किया जा सकता जिसमें अपराध का गम्भीर तथा तत्काल प्रभाव होता है। ऐसा अधिकारिता की समस्याओं के कारण होता है। फिर भी यह वांछनीय है कि विदेशी राष्ट्रों का विदेशों में किए गए

उनके अपराधों के लिए उस राज्य का प्रत्यर्पण किया जाए जिस राज्य की सुरक्षा, स्थायित्त्व अथवा लोक व्यवस्था को उनके कार्यों द्वारा खतरा उत्पन्न हुआ है। निःसंदेह ऐसे मामलों में प्रत्यर्पण तब किया जाना चाहिए, जब निवेदक राज्य में अपराध के प्रभाव तथा परिणामों के संबंध में राज्य (जिसमें अपराध किया गया है) द्वारा पूर्णतथा जाँच कर ली गई है जब प्रत्यर्पण संधियों में इस संबंध में प्रावधान शामिल हो।

**8. तुच्छ मामलों में प्रत्यर्पण नहीं किया जाता** (No extradition is to be allowed for Trifling Cases)— प्रत्यर्पण कार्य विधि बहुत ही जटिल, लम्बी और महँगी होती है। इसी कारण केवल गम्भीर अपराधों की स्थिति में इसका आश्रय लिया जाता है। फ्रांस जैसे कुछ राज्य केवल ऐसे अपराधों के दोषी व्यक्तियों को प्रत्यर्पित करते हैं जिनके लिए प्रत्यर्पित करने वाले तथा आवेदन करने वाले दोनों राज्यों में निर्धारित दण्ड का विधान होता है।

**निष्कर्ष (Conclusion)**— संधि के आधार पर प्रत्यर्पण अब एक स्थापित नियम माना जाता है। कुछ देश संधि के अभाव में भी प्रत्यर्पण कर देते हैं। वर्तमान समय में प्रत्यर्पण विधि द्वि—पक्षीय संधियों तथा राष्ट्रीय विधियों पर आधारित है क्योंकि इन नियमों को कई राज्यों में पालन किया जाता है। इसलिए यह माना जा सकता है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य नियम हो गए हैं, फिर भी किसी भी प्रकार से ये सभी राज्यों पर बाध्यकारी नहीं हैं।

**2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन Discuss in detail the principle of non—extradition of political criminals.)**

**उत्तर—राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण न करने का सिद्धान्त (Principle of non. extradition of Political Criminals)**— अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राजनीतिक अपराध वे अपराध होते हैं जो केवल घटनावश होते हैं तथा राजनैतिक तथा राजनीतिक उपद्रवों के भाग होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रत्यर्पण के विषय में एक प्रसिद्ध नियम है कि राजनैतिक अपराधियों के विषय में प्रत्यर्पण नहीं होता है। एडवर्ड कालिन्स (Edward Colins) के अनुसार, अधिकतर राज्य ऐसे व्यक्तियों का प्रत्यर्पण करने से इन्कार कर देते हैं जिन्होंने अपराध राजनैतिक उद्देश्यों के लिए किए हैं। परन्तु राजनैतिक अपराधियों के कानून को लागू करने में न्यायालय को सदैव कठिनाई रही है। राजनीतिक अपराधियों के विषय में प्रत्यर्पण न करने का प्रारम्भ 1789 की फ्रांस की क्रान्ति से आरम्भ हुआ। बाद में अन्य देशों ने भी राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण न करने के संबंध में अपनी स्वीकृति प्रदान की।

ब्रिटेन, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम और संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस संबंध में कड़ा रुख अपनाए जाने के कारण यह सिद्धान्त संसार में मान्य हो गया है।

**राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने के कारण** (Reasons for non—extradition of Political Offenders)— राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. यह नियम मानवता के विचार पर आधारित है। कोई राज्य किसी व्यक्ति का प्रत्यर्पण करना ठीक नहीं समझेगा, यदि वह अपराधी नहीं है। यदि वह राज्य प्रत्यर्पण करता है तो वह प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) की विधि के अनुसरण में नहीं होगा।

2. यदि राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण किया जाता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि उनके साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं किया जाएगा। निवेदक राज्य को सौंपे गए राजनीतिक अपराधी के निष्पक्ष परीक्षण को सुनिश्चित करना राज्य—क्षेत्र राज्य का कर्त्तव्य है। चूंकि प्रत्यर्पण करने से यह सम्भव नहीं हो पाता, इसलिए उनका प्रत्यर्पण नहीं हो पाता।

3. यह नियम अतिरिक्त विधिक प्रकृति के किसी उपाय से राजनीतिक अपराधी को संरक्षण प्रदान करता है, जिसका निवेदक राज्य उनके विरुद्ध प्रयोग करने का प्रयास करता है।

4. अन्य देशों में राजनीतिक अपराधियों के शरण लेने का वह उद्देश्य नहीं है जो सामान्य अपराधियों का होता है।

5. राजनीतिक अपराधी राज्य क्षेत्रीय राज्य के लिए उस प्रकार खतरनाक नहीं होते हैं, जैसा कि सामान्य अपराधी हो सकते हैं।

**राजनीतिक अपराध अपवाद के अपवाद (**Exceptions to the Political Offence Exception)— राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त का अनुचित लाभ उठाने के लिए कभी—कभी फरारी खुद को राजनीतिक अपराधी कहते हैं ताकि उनका प्रत्यर्पण न हो सके। इस दुरुपयोग को रोकने के लिए कतिपय मामलों में इस सिद्धान्त को निबन्धित करने का प्रयत्न किया गया है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य के अध्यक्षों की हत्या के प्रयास किए गए जिनमें से कुछ सफल हो गए। ये कार्य सरकार पर नियंत्रण के लिए संगठित विद्रोह अथवा संघर्ष का भाग नहीं थे बल्कि कुछ व्यक्तियों या एक आतंकवादी समूह के कार्य थे। सन् 1854 में ऐसा ही एक विवाद मि. जेकचन के सामने आया। बेल्जियम में बसे हुए हो फ्रांसीसियों ने फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन तृतीय के वघ, के लिए केले और लील के बीच रेलवे लाइन पर दम—विस्फोट किया। फ्रांस ने इस दोनों व्यक्तियों के प्रत्यर्पण की माँग की; किन्तु अपराध राजनीतिक होने के कारण यह माँग बेल्जियम के न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दी गई। सन् 1856 में भविष्य की व्यवस्था के लिए बेल्जियम ने अपने प्रत्यर्पण कानून का संशोधन किया। बेल्जियम ने अपनी प्रत्यर्पण विधि में अटेन्टेंट सुण्ड (Attentant Clause) को शामिल किया। इसके अनुसार विदेशी सरकार के अध्यक्ष या उसके परिवार के सदस्य की हत्या को राजनीतिक अपराध नहीं माना जाएगा। ग्रेट—ब्रिटेन के अतिरिक्त दूसरे यूरोपीय देशों ने इस धारा को स्वीकार किया है। सन् 1933 में मोन्टीविडियो अभित्तमय में यह प्रावधान जोड़ लिया गया है। राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण (Extradition of Political Offenders)— वर्तमान समय में राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण निम्नलिखित मामलों में किया जा सकता है—

1. 1948 का मानव वध अभिसमय अनुच्छेद VII के अधीन प्रावधान करता है कि मानव—वध, मानव—वध करने का षड्यन्त्र, मानव—वध करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सार्वजनिक दुष्प्रेरण, मानव—वध करने का प्रयत्न तथा मानव—वध में सह—अपराधिता को राजनीतिक अपराध नहीं माना जाएगा।

2. राजनीतिक अपराध को रूढ़िगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मामले में, जैसे—युद्ध अपराध एवं मानवता के विरुद्ध अपराध में प्रत्यर्पण अपवाद नहीं माना जाता।

3. पूर्व सरकार के मानव अधिकार वो दुरुपयोग के दोषी अधिकारियों को संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता।

4. राज्य ने द्वि-पक्षीय और बहुपक्षीय संधियों द्वारा पूर्ण रूप से स्थानीय दण्डिक अपराधों के अपवाद के अतिरिक्त राजनीतिक अपराध को उपवर्जित कर दिया है।

5. वायुयान अपहरण, राजनयिकों को क्षति, उत्पीड़न, युद्ध तथा सशस्त्र संघर्ष पर जेनेवा अभिसमय के बारे में उल्लंघन से संबंधित बहुपक्षीय संधि इस तथ्य के होते हुए भी कि वे सामान्यतथा राजनीति से प्रेरित होंगे, राज्यों ते या तो अभियोजित करने या प्रत्यर्पण करने की अपेक्षा करके अपवाद को अमान्य किया है।

जाना चाहिए, फिर भी रूढ़िगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई ऐसा नियम नहीं है जो उनके प्रत्यर्पण को निवारित करे। यदि राज्य राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने के नियम पर कोई निर्बन्धन अधिरोपित करना चाहते हैं, तो वे ऐसा अपनी प्रत्यर्पण संधियों में कर सकते हैं, जिसके द्वारा मुख्य रूप से प्रत्यर्पण का सिद्धान्त विनियमित किया जाता है।

राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण न करने का सिद्धान्त वर्तमान समय में लगभग सभी देश स्वीकार करते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। सबसे कठिन समस्या राजनीतिक अपराधों की परिभाषा है। इस विषय में कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। राजनीतिक अपराध की परिभाषा देने के अनेक प्रयास किए गए हैं, परन्तु अब तक इसमें सफलता नहीं मिली है। प्रत्यर्पण का प्रश्न अत्यधिक जटिल इस कारण है क्योंकि अपराध राजनीतिक अपराध है या नहीं, इसका निश्चय राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा किया जाता है। विभिन्न राष्ट्रीय न्यायालयों के न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त किए गए मतों में विभिन्नता होने के कारण राजनीतिक अपराधी शब्द की परिभाषा एक समान न हो सकी। उन्होंने राजनीतिक अपराध शब्द की सर्वांगीण परिभाषा देना आवश्यक नहीं समझा। इसलिए उन्होंने इस शब्द को परिभाषित करने का कोई प्रयास नहीं किया।

**राजनीतिक अपराध का अर्थ (Meaning of Political Offence)** — राजनीतिक अपराध के अर्थ के संबंध में विधिवेत्ताओं के बीच सहमति नहीं है।

**ग्लान** के अनुसार, "सामान्य रूप से राजनीतिक अपराध राज्य के विरुद्ध किया गया कार्य है।" वर्तमान काल तक विभिन्न राज्यों की संधियों और न्यायालयों के निर्णय इसे संकीर्ण रूप से परिभाषित करते हैं। किसी भी कार्यों को राजनीतिक मानने के लिए कुछ शर्तों को आवश्यक माना गया है, जैसे कि यह कार्य खुलकर किया जाना चाहिए, यह राजनीतिक उपद्रव के समर्थन में किया जाना चाहिए और इस उपद्रव का संबंध दो पक्षों के बीच संघर्ष से होना चाहिए और उनका ध्येय सरकार पर नियंत्रण का होना चाहिए।

राजनीतिक अपराध के अर्थ को सीमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास—कठिनाई सबसे अधिक उन जटिल मामलों में होती है जिनमें राजनीतिक अपराध साथ ही साथ एक साधारण अपराध होता है। जैसे—हत्या, लूटपाट, चोरी आदि। दूसरी ओर कुछ ऐसे जटिल मामले होते हैं जिनमें कि कृत्य यद्यपि राजनीतिक उद्देश्य से किया गया हो, राजनीतिक नहीं समझा जाना चाहिए। ऐसे जटिल अपराधों के संबंध में विधि निश्चित करने के लिए तीन महत्त्वपूर्ण प्रयास किए गए हैं जो निम्नलिखित हैं—

**1. एटेन्टेंट धारा (Attentant Clause)** — 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य के अध्यक्षों की हत्या के लिए अनेक प्रयास किए गए। परन्तु ये कार्य सरकार पर नियंत्रण के लिए संगठित विद्रोह या संघर्ष का भाग नहीं थे, बल्कि आतंकवादी कार्य थे। 1854 में बेल्जियम में बसे हुए फ्रांसीसियों ने फ्रांस के सन्नाद नेपोलियन तृतीय के वध के लिए केले और लील के बीच की रेलवे लाइन पर बम विस्फोट किया। फ्रांस ने इन दोनों व्यक्तियों के प्रत्यर्पण की माँग की, परन्तु राजनीतिक अपराध होने के कारण यह माँग बेल्जियम के न्यायालय द्वारा अस्वीकार कर दी गई। भविष्य की व्यवस्था के लिए बेल्जियम ने अपने प्रत्यर्पण कानून में संशोधन किया। इसके अनुसार विदेशी सरकार के अध्यक्ष या उसके परिवार के सदस्य की हत्या को राजनीतिक अपराध नहीं माना जाएगा। इसे अधिकांश देशों ने अपना लिया है।

2. 1881 की रूसी योजना (The Russian Project of 1881)—1881 में सम्राट् अलेक्जेन्डर द्वितीय की हत्या से प्रभावित होकर रूस ने बड़ी शक्तियों को ब्रूसेल्स में सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया जिससे इस प्रस्ताव पर विचार किया जा सके कि अब हत्या या हत्या के प्रयास को राजनीतिक अपराध न माना जाए। परन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस के भाग न लेने के कारण उक्त प्रस्तावित सम्मेलन न हो सका।

3. 1892 में स्विट्जरलैंड द्वारा समस्या के हल का प्रयास (Efforts made by Switzerland to solve the problem in 1892)—1891 में स्विट्जरलैण्ड ने एक प्रत्त्यर्पण—संबंधी प्रस्ताव पास किया। इस अधिनियम के अनुच्छेद 10 में राजनीतिक अपराधों के लिए प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया परन्तु साय में यह प्रावधान भी रखा गया कि यदि अपराध की मुख्य विशेषता राजनीतिक न होकर साधारण होगी तो अभियुक्त का प्रत्यर्पण किया जा सकेगा तथा इस बात का निर्धारण तथा निर्णय सर्वोच्च न्यायालय के ऊपर छोड़ दिया गया। 16 नवम्बर, 1937 को 23 राज्यों ने एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। इस अभिसमय में आतंकवाद से संबंधित कुछ अपराधों के लिए प्रत्यर्पण का प्रावधान किया। उसी दिन 10 राज्यों ने एक अन्य अभित्तमय पर हस्ताक्षर किए। इस अभिसमय में एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराधिक दण्ड न्यायालय की स्थापना का प्रावधान रखा। अमित्तमयं के अनुसार यदि राज्य पक्षकार किसी अभियुक्त के प्रत्यर्पण न करने का निर्णय लेते हैं तो ऐसे अभियुक्त को वह उक्त न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु दोनों ही अभिसमय विधि का रूप धारण नहीं कर सके क्योंकि निर्धारित संख्या के राज्य पक्षकारों ने इसका अनुसमर्थन नहीं किया। जन—वध अभिसमय, 1948 (Genocide Convention, 1948) के अनुच्छेद 7 में प्रावधान है कि प्रत्यर्पण करने के उद्देश्य से जन—वध के अपराध को राजनीतिक अपराध नहीं माना जा सकता। वायुयान अपहरण पर हेग अभिसमय, 1970 तथा माण्ट्रियल अभिसमय, 1971 में यह प्रावधान किया गया कि प्रत्यर्पण की दृष्टि से वायुयान अपहरण को राजनीतिक अपराध नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार के प्रावधान आतंकवाद के दमन पर यूरोपियन अभिसमय, 1977 में हैं। राजनीतिक अपराध के प्रत्यर्पण के उदाहरण—राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण के कतिपय कुछ मामले निम्नलिखित हैं—

1. विलियम कैसर का मामला जर्मनी के सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय ने हॉलैण्ड में शरण ली। मित्र राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् ने हॉलैण्ड से कैसर के प्रत्यर्पण की माँग की। डच सरकार ने कैसर के प्रत्यर्पण की माँग को यह कह कर अस्वीकार कर दिया

कि वार्साय की संधि पर हस्ताक्षर न करने के कारण वह इसे मानने के लिए बाध्य नहीं है।

2. फोर्ट केस—सन् 1921 में स्पेन के प्रधानमंत्री की हत्या के बाद दो व्यक्ति जर्मनी भाग गए। जर्मनी तथा स्पेन की संधि के अनुसार राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण का निषेध किया गया था। फिर भी जर्मनी ने इन दोनों अपराधियों को स्पेन को सौंप दिया क्योंकि अपराध राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि बदले की भावना से किया गया था।

3. रेकैस्टियोनी का मामला राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण न करने के संबंध में रेकैस्टिओनी (Recastioni) एक प्रमुख वाद है। इस वाद में स्विस सरकार ने कैस्टिओनी नामक व्यक्ति की प्रत्यर्पण की माँग की थी। कैस्टिओनी के विरुद्ध रिसिओने के कैन्टन की राज्य—परिषद् के एक सदस्य का वध करने का अपराध था। उक्त कैन्टन में कुछ समय से राजनीतिक असंतोष चल रहा था। एक सशस्त्र भीड़ ने म्युनिसिपल पैलेस पर आक्रमण कर दिया तथा राज्य—परिषद् के एक सदस्य को मार डाला गया। इस बात का साक्ष्य था कि गोली कैस्टिओनी ने ही चलाई थी। इंग्लैण्ड की क्वीस बैंच ने निर्णय दिया कि कैस्टिओनी का अपराध राजनीतिक था; अतः उसके प्रत्यर्पण का आदेश नहीं दिया जा सकता।

4. रिम्यूनियर का मामला—इस मामले में यह विचार किया गया था कि राजनीतिक अपराध क्या है। इस मामले में अभियुक्त रिम्यूनियर एक अराजकतावादी था तथा उसने पेरिस के एक कैफे में तथा कुछ बैरकों में दो विस्फोट किए थे। अपराध करने के पश्चात् वह भाग कर इंग्लैण्ड चला गया। फ्रांस ने इंग्लैण्ड से उस अभियुक्त के प्रत्यर्पण की माँग की। चूँकि राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं होता है, अतः अभियुक्त ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि उसका अपराध राजनैतिक है। इस बाद में यह उल्लेखनीय है कि अभियुक्त किसी दल विशेष से संबंध नहीं रखता था। वह एक अराजकतावादी था तथा हर प्रकार की सरकार का विरोधी था। न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा कि किसी अपराध को राजनीतिक तभी कहा जा सकता है जब इस उद्देश्य के लिए कोई अपराध किया जाए। परन्तु यह निर्णय उन राज्यों के लिए निरर्थक होगा जहाँ केवल एक ही राजनीतिक दल है।

5. कोल्कजिंस्की का मामला—सन् 1955 में कोल्कजिंस्की तथा अन्य के विवाद में ब्रिटिश न्यायालय ने राजनीतिक अपराध की विशद् व्याख्या की। पोलिश जहाज पर सात नाविक सवार थे। यात्रा के दौरान उन्होंने अनुभव किया कि उन पर कड़ी राजनीति नजर रखी जा रही है। यदि वे स्वदेश लौटेंगे तो उन्हें अपने राजनीतिक विचारों के लिए कठोर राजदण्ड भुगतना पड़ेगा। उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से जहाज के कप्तान के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे पकड़ कर जहाज को निकटतम ब्रिटिश बन्दरगाह ले गए। ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें बन्दी बना लिया। पोलेण्ड की साम्यवादी सरकार ने इनके प्रत्यर्पण की माँग की क्योंकि 1870 के ब्रिटिश के प्रत्यर्पण कानून में महायुद्धों में जहाज पर विद्रोह करना अपराधों में शामिल था। न्यायालय के अनुसार 1870 का कानून राजनीतिक अपराधियों के प्रत्यर्पण को रोकता है। इस मामले में प्रार्थियों के सामने केवल विद्रोह ही एकमात्र मार्ग था, अतः उनका अपराध राजनीतिक है।

चूँकि राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं होता है अपितु यदि राजनीतिक आधार पर किसी व्यक्ति को आश्रय प्रदान किया जाता है तो ऐसे व्यक्ति का प्रत्यर्पण नहीं होता है। उदाहरण के लिए, ईरान के भूतपूर्व राष्ट्रपति बानी सद्र (Bani Sadr) को फ्रांस ने राजनीतिक आश्रय दिया, अतः उनके प्रत्यर्पण का प्रश्न नहीं उठता था।

राज्यों की राजनीतिक प्रणालियों तथा विचारधाराओं में भिन्नता होने के कारण राजनीतिक कारणों के परिणामस्वरूप प्रत्यर्पण न करने के सिद्धान्त के समाप्त होने की बहुत कम सम्भावना है।

**भारतीय स्थिति (Indian Position)** — प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 (The Extradition Act 1962) की धारा 31 (क) के अनुसार, यदि अभियुक्त का प्रत्यर्पण जिस अपराध के लिए माँगा जा सकता है, वह राजनीतिक है या अभियुक्त न्यायालय के सम्मुख यह सिद्ध कर देता है कि जिस अपराध के लिए उसे दण्डित करने का प्रयास किया जा रहा है, वह राजनीतिक है तो उसका प्रत्यर्पण नहीं होगा। अतः इस संबंध में भारतीय विधि अन्य राज्यों की विधियों के समान है। यदि राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से केन्द्रीय सरकार यह पाती है कि अभियुक्त का प्रत्यर्पण करना उचित नहीं होगा तो यह अभियुक्त को छुड़वा सकती है।

केन्द्र सरकार को यह अधिकार है कि यदि प्रत्यर्पण की माँग महत्त्वहीन कारणों तथा बुरे इरादों से की जाए और अपराधी को

लौटाना न्याय के पक्ष में न हो तो वह अदालत की कार्यवाही को रोक दे तथा व्यक्ति को मुक्त कर दे। फरार अपराधी की माँग कई राज्यों द्वारा होने पर केन्द्र सरकार जिस राज्य को उचित समझे उसे उसका प्रत्यर्पण कर सकती है।

सावरकर केस, 1911 (Savarkar Case, 1911)— सावरकर भारतीय प्रजाजन थे। उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन में भारत को स्वतंत्र कराने के लिए क्रान्तिकारी दल का संगठन किया था। इस कार्य के लिए उन्हें इंग्लैण्ड में बन्दी बनाया गया। उन पर राजद्रोह तथा हत्या की प्रेरणा के अपराधों के लिए अभियोग चलाने के लिए उन्हें मोरिया नामक जहाज द्वारा भारत भेजा गया। रास्ते में वह जहाज फ्रांस के मार्सेल्ज नामक बन्दरगाह में ठहरा। 25 अक्टूबर, 1910 को सावरकर इस जहाज से समुद्र में कूद गए और तट पार किया। वहाँ उन्हें एक फ्रेंच सिपाही ने पकड़ लिया और प्रत्यर्पण की पूरी कार्यवाही किए बिना ही उन्हें ब्रिटिश जहाज के कप्तान को सौंप दिया क्योंकि सावरकर राजनीतिक अपराधी थे। अतः फ्रेंच सरकार ने ब्रिटिश सरकार से यह माँग की थी कि सावरकर फ्रांस को वापस किया जाए और ब्रिटिश सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार औपचारिक रूप से सावरकर को इंग्लैण्ड को अर्पित करने की प्रार्थना करे। इस वाद में हेग विवाचन न्यायालय ने यह नियम प्रतिपादित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत किसी राज्य का यह उत्तरदायित्व नहीं है कि वह अपराधियों को इस आधार पर वापस करे कि उसके प्रत्यर्पण संबंधी नियमों को ठीक प्रकार से पालन के पूर्व उसे दे दिया गया था। विधिशास्त्रियों के अनुसार यह मत उचित नहीं था तथा फ्रांस सरकार का तर्क न्यायसंगत था।

**3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—**

(A) प्रत्यर्पण संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण मामले (Leading Cases Relating to Extradition)

(B) प्रत्यर्पण पर सार्क अभिसमय, 1987 (SAARC Accord on Extradition

(C) अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण (Extradition by Abduction)

(D) प्रत्यर्पण करने के संबंध में भारतीय प्रत्यर्पण कानून, 1962 के अन्तर्गत प्रतिबन्ध

(Restrictions for Extradition under Extradition Act 1962 of India.)]

**उत्तर— (A) प्रत्यर्पण संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण मामले** (Leading Cases Relating to Extradition)

**1. धर्म तेजा का मामला (Dharm Teja Case)** — धर्म तेजा जयन्ती शिपिंग कारपोरेशन के मैनेजिंग डायरेक्टर थे तथा उस निगम के करोड़ों रुपये का घपला करके वह भारत से बाहर भाग गए। जब वे आइवरी कोस्ट में थे तो भारत ने वहाँ की सरकार से इनके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की। परन्तु आइवरी कोस्ट ने इनका प्रत्यर्पण करने से इंकार कर दिया क्योंकि आइवरी कोस्ट की भारत के साथ प्रत्यर्पण संबंधी कोई संघि नहीं है। धर्म तेजा जब एक बार आइवरी कोस्ट से लन्दन पहुँचे तो भारत को उनकी गतिविधि का पता चल गया और भारत सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन की सरकार से उनके प्रत्यर्पण की प्रार्थना की कि उन्हें फौरन गिरफ्तार किया जाए। भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन की प्रत्यर्पण के संबंध में एक संधि है। उस संधि के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की सरकार ने धर्म तेजा को गिरफ्तार कर लिया और उनके विरुद्ध प्रत्यर्पण संबंधी कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। ग्रेट ब्रिटेन के न्यायालय इस निश्चय पर पहुँचे कि संधि के अनुसार धर्म तेजा का प्रत्यर्पण होना चाहिए। अतः ग्रेट ब्रिटेन की सरकार ने धर्म तेजा को उक्त न्यायालय के आदेशानुसार भारत को लौटा दिया। भारत के न्यायालयों में धर्म तेजा के विरुद्ध मुकदमा चलाया गया और उन्हें अपराधों के लिए दण्ड दिया गया।

**2. नौसैनिक अधिकारी प्रत्यर्पण वाद (जुलाई, 1975)** भारतीय नौसेना के कमाण्डर ईलिजाह इन्ब्राहिम जौरहाद ने भारतीय सरकार का लगभग 13 लाख रुपया दुर्विनियोग (Misappropriate) कर लिया था। यह अपराध उन्होंने 1969 में एडवोकेट के रूप में कार्य करते हुए किया था। यह अपराध करने के पश्चात् वह देश छोड़कर चले गए। 1972 में वह न्यूयार्क में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की सहायता से पकड़े गए। भारत ने प्रत्यर्पण की माँग की। जुलाई, 1975 में न्यूयार्क के न्यायालय ने उनके प्रत्यर्पण के लिए आदेश दे दिया।

3. नारंगभाई प्रत्यर्पण वाद (अक्टूबर, 1970) — मनोहर लाल नारंग तथा उसके भाई ओमप्रकाश नारंग के विरुद्ध हरियाणा में

कुरुक्षेत्र के पास स्थित अमीन स्तम्भ की चोरी करने, धोखाधड़ी, तस्करी आदि के आरोप थे। वह भाग कर इंग्लैण्ड चले गए थे। भारत की प्रार्थना पर उन्हें लन्दन में गिरफ्तार करके उनके विरुद्ध प्रत्यर्पण हेतु कानूनी कार्यवाही प्रारम्भ की गई। जाँच के पश्चात् अक्टूबर, 1976 में लंदन के मजिस्ट्रेट ने भारत की प्रार्थना स्वीकार करते हुए उनके प्रत्यर्पण के लिए आदेश दिया।

4. सूचा सिंह केस (Sucha Singh Case) — सूचा सिंह प्रताप सिंह कैरों, (पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री) की हत्या करके नेपाल भाग गया था। भारत ने नेपाल से सूचा सिंह के प्रत्यर्पण के लिए प्रार्थना की। नेपाल के न्यायालय ने सूचा सिंह के मामले में भारत सरकार की प्रार्थना स्वीकार करके उसका प्रत्यर्पण कर दिया।

5. प्रभाकरण के प्रत्यर्पण का मामला (Prabhakaran Case) — लिट्टे का प्रधान प्रभाकरण राजीव गाँधी हत्याकाण्ड का मुख्य अभियुक्त है। अतः भारत ने लिट्टे संगठन पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा श्रीलंका सरकार के प्रभाकरण के प्रत्यर्पण की प्रार्थना की।

6. ब्लैकमर का मामला (Blackmer Case) — हेनरी ब्लैकमर नामक व्यक्ति ने अपनी आव के संबंध में झूठा विवरण अमेरिका में दिया। इसके बाद यह फ्रांस चला गया। अमेरिकी सरकार ने फ्रांस की सरकार से प्रार्थना की कि ब्लैकमर ने आय संबंधी झूठा बयान देकर अपराध किया है और इसलिए उसे अमेरिका को सौंप दिया जाए। फ्रांस के न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यहाँ कानून के अनुसार आयकर के संबंध में झूठा बयान देना अपराध नहीं है। परिणामस्वरूप उसने प्रत्यर्पण की माँग को अस्वीकार कर दिया। इस मामले से दोहरी अपराधिकता (Double Criminality) का सिद्धान्त प्रकट होता है।

7. गौडफ्रे का मामला (Godfrey Case) — गोडफ्रे वाले मामले में शब्द 'फरार' (Fugitive) व्याख्या के लिए उपस्थित हुआ और सी. जे. लार्ड हिब्बर्ट ने यह कथन किया कि यद्यपि सर्वप्रथम यह प्रतीत हो कि जब कोई मनुष्य 'फरार' शब्द से संबोधित किया जाता है तो इसका यह अर्थ होता है कि वह एक देश से दूसरे देश को भाग गया है। यह प्रतीत होता है कि चाहे वह मनुष्य शारीरिक रूप से उस देश में उपस्थित रहा हो अथवा नहीं यदि उसने अपराध वहाँ किया जो तो 'फरार अपराधी' का आशय इसी तरह पूर्ण करता है।

8. मुबारक अली का मामला (Mubark Ali Case) — भारत सरकार और मुबारक अली अहमदके मामले में क्वींस बेंच ने अनुमोदन के साथ निर्देश किया जिसमें न्यायालय ने प्रत्यर्पण इसलिए अस्वीकार किया था कि संबंधित फरार व्यक्ति का अपराध राजनैतिक समझा गया लेकिन वर्तमान मामला ऐसे व्यक्ति से संबंधित था जो कूट रचना अथवा जाल से आरोपित था। यद्यपि मामले में कुछ राजनैतिक झंझट थे जिनकी जौच न्यायालय नहीं कर सकता था, फिर भी यह मानने के लिए कोई कारण नहीं था कि उसका न्यायालय में न्याय युक्त परीक्षण न होगा। यह कहना कि ऐसा नहीं होगा, इस न्यायालय के लिए एक असम्भव स्थिति को अंगीकार करना तथा भारतीय न्यायालयों के लिए अपमानजनक होगा।

9. हाया डी ला टोरे विवाद (Haya De La Tore Case)— हाया डी ला टोरे पेरू का एक नागरिक एवं राजनीतिक नेता था। उस पर सैनिक विप्लव का अपराध आरोपित था। उसको लीमा स्थित कोलम्बिया के राजदूतावास द्वारा आश्रय दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि हवाना के अभिसमय द्वारा यह स्पष्टतः निर्धारित किया गया था कि सामान्य अपराधी स्थानीय अधिकारियों को समर्पित कर दिए जाएँ, तथापि राजनीतिक अपराधियों के संबंध में इस प्रकार का कोई कर्तव्य विद्यमान नहीं था और आश्रय अनियमित प्रकार से दिया गया था। पेरू उसे वापस माँगने का अधिकारी या तथापि शरणार्थी को प्रत्यर्पण करने के लिए कोलम्बिया बाध्य नहीं था।

10. सेमुअल इन्सल का मामला (Samuel Insull Case) — सन् 1933 में यूनान के अपीलीय न्यायालय ने सेमुअल इन्सल विवाद में जो निर्णय दिया वह पर्याप्त चर्चा का विषय बना। सेमुअल इन्सल शिकागो का बैंकर था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने उस पर गबन और चोरी के आरोप लगाए। यूनानी न्यायालय ने दो बार यह व्यवस्था दी कि यूनानी कानून के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका ने भगोड़े को अमेरिकी नियम जानबूझ कर तोड़ने और कुछ सम्पत्ति को छिपाने अथवा हस्तान्तरित करने के संबंध में जो प्रमाण दिए हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं, परिणामस्वरूप न्यायालय ने नजरबन्द इन्सल को रिहा करने पर जोर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने शिकायत की कि यूनान अपने उपयुक्त कर्तव्य से मुकर गया है। उसने यूनान के साथ तभी की गई एक प्रत्यर्पण संधि को भी निलम्बित कर दिया।

11. दो बर्मी युवकों का वाद (Burmese Two Youth Case)—10 नवम्बर, 1990 को दो बर्मी युवक एक थाई वायुयान सहित कलकत्ता में उतरे। इन दोनों युवकों ने भारत से आश्रय प्रदान करने की प्रार्थना की। भारत सरकार ने स्पष्ट किया कि आश्रय की प्रार्थना पर विचार वायुयान अपहरणकर्ताओं पर वायुयान—अपहरण विरोधी अधिनियम के अन्तर्गत मुकदमा चलाने के पश्चात् ही किया जाएगा। उक्त अधिनियम भारतीय संसद ने 1982 में इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय अभित्समय को भारतीय क्षेत्र में लागू करने हेतु पारित किया था। वायुयान अपहरण एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध है, अतः जब तक अपहरणकर्ताओं को इस अपराध के लिए वाद चला कर दण्डित न किया जाए, आश्रय का प्रश्न साधारणतथा नहीं उठाना चाहिए। अतः भारत का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप है। जहाँ तक भारत के क्षेत्र में आश्रय प्रदान किए जाने का प्रश्न है, भारत एक प्रभुत्व सम्पन्न देश की हैसियत से इस संबंध में पूर्ण रूप से सक्षम है तथा आश्रय देना या न देभा उसके विवेक पर निर्भर करता है। जहाँ तक अपहरणकर्ताओं के बर्मा की प्रार्थना पर अर्पण का प्रश्न है, भारत सरकार ने कहा कि इसका प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि भारत की बर्मा के साथ इस संबंध में कोई सोधि नहीं है। अतः इस संबंध में भारत का कोई दायित्व नहीं है। संधि की अनुका साथ के यह भारत के विवेक पर निर्भर करता है कि अपहरणकर्ताओं के प्रत्यर्पण की अनुमति दे अथवा नहीं।।

**(B) प्रत्यर्पण पर सार्क अभिसमय, 1987** (SAARC Accord on Extradition) 16 जून, 1987 को दक्षिणी एशिया के प्रादेशिक राज्यों की संस्था के विदेश सचिवों की बैठक में प्रत्यर्पण पर एक समझौता हुआ। उक्त समझौते का प्रारूप तथा संस्तुतियाँ विदेश मंत्रियों की स्थायी समिति के सम्मुख प्रस्तुत की गई। इस अभिसमय में आतंकवादी कृत्यों को करने वाले व्यक्तियों के प्रत्यर्पण का शवधान है। अभिसमय के अनुच्छेद 11 के अनुसार यदि सदस्य राज्य यह समझते हैं कि अभियुक्त का इत्यर्पण करना अनुचित नहीं तो प्रत्यर्पण करने का उनका दायित्व होगा। अभिसमय के अनुसार निम्नलिखित 6 अपराध राजनीतिक कारणों से प्रेरित अपराध नहीं माने जायेंगे—

1. वायुयान अपहरण—हेग अभिसमय, 16 दिसम्बर, 1970 की परिधि के अन्तर्गत वायुयान अपहरण संबंधी अपराध ।

2. वायुयान अपहरण पर माष्ट्रियल अभिसमय 23 सितम्बर, 1971 की परिधि के अन्तर्गत अपराध ।

3. अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित व्यक्तियों के विरुद्ध अपराधों को रोकने तथा दण्डित करने का अभिसमय 4 दिसम्बर, 1973 की परिधि के अन्तर्गत अपराध ।

4. ऐसे किसी भी अभिसमय की परिधि में किए जाने वाले अपराध जिसके पक्षकार सार्क सदस्य राज्य हैं तथा जिसके अन्तर्गत पक्षकारों का दायित्व अभियोजित करने या प्रत्यर्पण करने का है।

5. उपयुक्त में वर्णित अपराधों को करने का प्रयास, उसमें सहायता पहुंचाने, सलाह देने अपराध । अभिसमय में यह भी प्रावधान है कि सदस्य राज्य हिंसा संबंधी अपराधों को प्र के प्रयोजनों के लिए राजनीतिक अपराध नहीं मानेंगे।

**(C) अपहरण द्वारा प्रत्यर्पण** (Extradition by Abduction)-

आइकमान का मामला Eichamann Case) — यदि एक अपराधी दूसरे राज्य से सीधे तरीके से प्राप्त हो सके तथा क्या उसका छल अथवा बर अपहरण किया जा सकता है, इस संबंध में आइकमान का विवाद उल्लेखनीय है। सन् 1938 में जर्मनी हिटलर ने आइकमान को यहूदी प्रवास विभाग का अध्यक्ष बनाते हुए इसे यहूदियों को जर्मनी से निशस तथा इस समस्या के समाधान का कार्य सौंपा। जब यहूदियों को गोली से उड़ाने और उनके शवों को गार की प्रक्रिया काफी खर्चीली तथा समय लेने वाली दिखाई दी तो आइकमान ने एक जहरीली गैस के प्रयोग की आज्ञा दे दी। उस जहरीली गैस से सामूहिक रूप से यहूदियों का संहार किया गया। आइकमान का सवा का दावा था कि उसने 5 लाख यहूदियों के वध का आयोजन करवाया। 8 मई, 1945 को अमेरीकी फौजें ने आइकमान को बन्दी बना लिया। बाद में वह भागने में सफल हो गया। बाद में अपना नाम बदलका अर्जेन्टाइना के एक कारखाने में काम करने लगा। अब तक यहूदियों का अलग राज्य इजरायल बन चुका था। 15 वर्ष की निरन्तर खोज के बाद 11 मई, 1960 को यहूदी स्वयंसेवकों ने आइकमान को पकड़ लिया और उसे एक विमान में बैठाकर इजरायल ले गए और उसे वहाँ की सरकार को सौंप दिया। अर्जेन्टीन सरकार ने इस घटना कर विरोध किया। अर्जेन्टाइना ने इजरायल को अपनी सम्प्रभुता का उल्लंघन करने को दोषी ठहराया और कहा कि इजरायल को दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता का

उल्लंघन करके अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करते हुए ऐसे अपहरण का अधिकार नहीं था। फलतः उसे आइकमान को अर्जेन्टाइना को लौटा देन चाहिए और उसके बाद प्रत्यर्पण की माँग करनी चाहिए। अर्जेन्टाइना का यह भी कहना था कि आइकमान यदि जातिवध का दोषी है तो उस पर या तो जर्मनी में मुकदमा चलाया जाना चाहिए या संयुक्त राष्ट्र संघ के जातिवध अभिसमय के अनुसार इसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष लाया जाना चाहिए। इजरायत का कहना था कि आइकमान को लाने की कार्यवाही सरकारी अधिकारियों द्वारा नहीं बल्कि स्वयं सेवकों द्वारा की गई है। अर्जेन्टाइना ने जब इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया तो परिषद् ने निर्णय दिया कि ऐसे कार्यों से निश्चय ही राज्य की सम्प्रभुता का उल्लंघन होता है। इजरायल ने स्वीकार किया कि इस प्रकार आइकमान का अपहरण कानूनी दृष्टि से उपयुक्त नहीं था किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से न्यायोचित था क्योंकि यदि प्रत्यर्पण की माँग सामान्य रूप से की जाती तो आइकमान भागने में सफल हो जाता।

**(D) प्रत्यर्पण करने के संबंध में भारतीय प्रत्यर्पण कानून, 1962 के अन्तर्गत प्रतिबन्ध (**Restrictions for Extradition under Extradition Act 1962 of India) भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 के अनुसार किसी अभियुक्त का प्रत्यर्पण करने के संबंध में निम्नलिखित प्रतिबन्ध (Restrictions) लगाए गए हैं—

1. यदि अपराध राजनीतिक प्रकृति का है तो प्रत्यर्पण नहीं होगा। [भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962 की धारा 31 (अ)]

2. जिस अपराध के लिए वाद चलाने हेतु प्रत्यर्पण की माँग की गई है, यदि वह प्रत्यर्पण माँगने वाले राज्य के कानून के समय—वर्जिज (Time—barred) हो गया है तो प्रत्यर्पण नहीं होगा। (भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962, धारा 32 (ब)]

3. प्रत्यर्पण संधि में प्रावधान न होने पर अभियुक्त के विरुद्ध उस अपराध के अतिरिक्त जिसके लिए उसका प्रत्यर्पण माँगा जा रहा है किसी अन्य अपराध जो प्रत्यर्पण होने के पहले उसने किया हो, के लिए मुकदमा नहीं चलाया जाएगा। [भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम, 1962, धारा 21 (सी))

4. यदि अभियुक्त भारत में भी किस अपराध के लिए अभियोगी है तथा यह अपराध उस अपराध के साथ एकरूपता नहीं रखता जिसके लिए उसके प्रत्यर्पण की माँग की जा रही है या वह भारत में किसी अपराधिक दण्ड की सजा भुगत रहा हो तो भी ऐसे अभियुक्त का प्रत्यर्पण तब तक नहीं होगा जब तक कि सजा की अवधि समाप्त न हो जाए या उसे छोड़ दिया जाए। [भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम 1962, धारा 31 (डी)]

5. मजिस्ट्रेट द्वारा किसी अभियुक्त को जेल भेजे जाने पर 15 दिन तक उसका प्रत्यर्पण नहीं होगा। [भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम 1962, धारा 31 (इ)]

## आश्रय (Asylum)

प्रश्न 1. शरण से आप क्या समझते हैं? विस्तार से वर्णन करें। (What do you understand by Asylum? Discuss it in detail.)

अथवा

आश्रय से क्या अभिप्राय है? आश्रय के विभिन्न कारणों का वर्णन करें। (What is the meaning of Asylum? Discuss different reasons for Asylum.)

अथवा

शरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें। क्षेत्रीय तथा गैर—क्षेत्रीय शरण को स्पष्ट करें। (Write a short note on Asylum. Explain territorial and non—territorial Asylum.)

अथवा

शरण का अर्थ बताइए। राजनयिक आश्रय के सम्बन्ध में भारत के मत का वर्णन करें। (Describe the meaning of Asylum. Discuss the Indian view on Diplomatic Asylum.)

**उत्तर**—भूमिका (Introduction)—वर्तमान समय में राष्ट्रों द्वारा अनेक व्यक्तियों को आश्रय प्रदान करने से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। अपराधियों को वर्गीकृत करना तथा उनके अपराधों को विश्लेषित करना भी एक जटिल समस्या बन गई है।

प्रत्यर्पण तथा आश्रय के अधिकार को एक-दूसरे का विलोम कहा जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान् स्टार्क ने माना है कि जहां प्रत्यर्पण आरम्भ होता है वहां आश्रय समाप्त हो जाता है। जब एक राज्य राजनीतिक अपराध के दोषी का प्रत्यर्पण करने से मना कर देता है तो उसे आश्रय अथवा शरण प्रदान की जाती है।

(मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, 1948 (Universal Declaration of Human Rights, अधिक 1948) के अनुच्छेद 14 के अनुसार प्रत्येक पीड़ित व्यक्ति को दूसरे देशों में आश्रय मांगने का अधिकार है, किन्तु इस विषय में राज्यों का कोई सामान्य उत्तरदायित्व नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य विदेशियों को प्रवेश की अनुमति देने तथा उन्हें शरण देने के पश्चात् निवासन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। विदेशियों का प्रवेश अथवा उनको शरण देना अथवा उनका निवासन तथा निष्कासन राष्ट्रीय विधि द्वारा नियमित होते हैं।)

**आश्रय अथवा शरण से अभिप्राय (Asylum, its Meaning)**

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आश्रय अथवा शरण प्रत्येक राज्य की क्षमता होती है, जिसके अनुसार वह पीड़ित अथवा विदेशी व्यक्ति को अपने देश में शरण प्रदान करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि संस्थान ने अपने 1 सितम्बर, 1950 के अधिवेशन में 'शरण' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा था— "शरण वह संरक्षण है जिसे एक राज्य अपने राज्य क्षेत्र में, अथवा अन्य स्थान में जो कि उसके नियन्त्रण में हैं, एक ऐसे व्यक्ति को प्रदान करता है, जो कि उसकी याचना करने आता है।"

**आश्रय** (Asylum) शब्द लैटिन भाषा का है जो ग्रीक शब्द एसाइलीया (Asylia) से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—अलंघनीय स्थान (Inviolable Place) से है। यह शब्द उन मामलों में प्रयोग किया जाता है जिनमें राज्य क्षेत्रीय राज्य (Territorial State) निवेदक राज्य (Requesting State) के किसी व्यक्ति को सौंपने से इन्कार कर देता है तथा उसे अपने राज्य क्षेत्र में शरण तथा सुरक्षा प्रदान करता है। इस प्रकार आश्रय दो तत्त्वों को शामिल करता है। प्रथम आश्रय, जो अस्थायी शरण से अधिक है तथा दूसरे, आश्रय देने वाले राज्य के अधिकारियों की ओर से सक्रिय सुरक्षा का अंश।

**ओपेनहीम** के शब्दों में, "शरण लेने के अधिकार का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक राज्य किसी उत्पीड़ित विदेशी नागरिक को अपने देश में प्रवेश करने तथा अपने संरक्षण में रहने की अनुमति दे सकता है।" शरण लेने तथा शरण देने की परम्परा कोई नवीन विचारधारा नहीं वरन् बहुत प्राचीन है। भारतीय परम्परा में तो अपने प्राणों से भी अधिक शरणागत की रक्षा की जाती थी। आधुनिक युग में जब कि मानव अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण प्रदान करने का प्रयास किया जाता रहा है, यह और भी आवश्यक हो गया कि व्यक्तियों के उत्पीड़न से बचने के लिए विदेशों में शरण पाने के अधिकार को मान्यता प्रदान की जाए।

**आश्रय के कारण (Reasons for Asylum)**

(राज्यों द्वारा निम्नलिखित कारणों से आश्रय प्रदान किया जा सकता है—

**स्थानीय अधिकारियों की अधिकारिता से बचाने के लिए**— 1. आश्रय किसी व्यक्ति को स्थानीय अधिकारियों की अधिकारिता

से बचाने के लिए प्रदान किया जाता है। ऐसी सम्भावना हो सकती है कि उस व्यक्ति के राजनीतिक तथा धार्मिक कार्यों के सम्बन्ध में विचारों में भिन्नता होने के कारण उसका प्रत्यर्पण करने का निष्पक्ष परीक्षण नहीं मिल पायेगा।

**मानवीय आधार**— 2. आश्रय प्रदान करने का मानवीय आधार भी हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय ने काफू चैनल वाद में यह व्यवस्था दी थी कि 'राष्ट्रों के अनुत्तरदायी अनुभाग के हिंसक तथा अव्यवस्थित कार्यों के विरुद्ध राजनीतिक अपराधियों को संरक्षण प्रदान के लिए मानवीय आधारों पर आश्रय प्रदान किया जा सकता है।' मानव अधिकारों के उल्लंघन को रोकने तथा अधिकारों की रक्षा के लिए भी किसी व्यक्ति को शरण दी जा सकती है।

**राष्ट्रीय सुरक्षा —3**. आज जो विद्रोही हैं कल वह उसी राज्य में शासक भी हो सकता है। ऐसा होने पर यदि उसका प्रत्यर्पण कर दिया जाता है तो भविष्य में सम्बन्ध तनावपूर्ण भी हो सकता है। राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए भी आश्रय प्रदान किया जाता है।

**आश्रयदान की शर्तें (Conditions of Granting Asylum)** — आश्रय पाने के अधिकारी के लिए कुछ आधारभूत शर्तों को पूरा किया जाना आवश्यक है, जिन्हें निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जाता है—

1. संबंधित व्यक्ति या व्यक्ति समूह वास्तव में राजनीतिक अथवा जातिगत पीड़ित हो और संबंधित राज्य द्वारा ऐसा माना जाए। अधिकतर लोकतान्त्रिक राज्य प्रायः तभी आश्रय देते हैं जब उन्हें यह विश्वास हो जाए कि व्यक्ति अपने देश में अन्याय की पीड़ा से मजबूर होकर भागा है। 28 जुलाई, 1951 के जेनेवा अभिसमय की धारा — A (2) में कहा गया है कि "आश्रय उस व्यक्ति को दिया जाएगा जो जाति, धर्म, राष्ट्रीयता, एक विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता या राजनीतिक मत में विश्वास आदि के कारण पीड़ित होने के भय से त्रस्त है और अपने देश में सुरक्षा पाने में असमर्थ है।"

2. वर्तमान में आश्रयदान में मानवीय दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जो व्यक्ति अत्याचार और अन्याय से जितना अधिक पीड़ित है उसे विदेश में आश्रय पाने का उतना ही अधिकार है।

3. आश्रय पाने की अन्य महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि संबंधित व्यक्ति का राजनीतिक दर्शन उस राज्य के अधिकारियों द्वारा प्रतिपादित की गई राजनीतिक विचारधारा से भिन्न नहीं जिसमें वह आश्रय प्राप्त करना चाहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इसी शर्त पर जोर दिया जाता है।

आश्रय के प्रकार (Kinds of Asylum)

प्रत्येक राज्य किसी भी व्यक्ति को आश्रय दो प्रकार से प्रदान कर सकता है—

**1. प्रादेशिक आश्रय (Territorial Asylum)**

**2 बाह्य प्रादेशिक आश्रय अथवा राजनयिक** आश्रय (Extra Territorial Asylumor Diplomatic Asylum)

**1. प्रादेशिक आश्रय (Territorial Asylum)**—प्रादेशिक आश्रय में एक राज्य किसी व्यक्ति को अपने प्रदेश में आश्रय देता है। प्रादेशिक आश्रय देने का पूर्ण अधिकार राज्य का होता है। यह अधिकार 1948 के मानवीय अधिकारों के घोषणा पत्र में स्वीकार कर लिया गया है। प्रादेशिक आश्रय प्रदान करने की यह परम्परा कोई नयी नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक मतभेदों के आधार पर अपने देश को छोड़कर दूसरे देशों में शरण लेते रहे हैं। अनेक देशों के संविधानों में भी शरण देने के अधिकार को परिभाषित किया गया है।

परन्तु इस बात में मतभेद है कि कोई राज्य पकड़े हुए युद्ध बन्दियों को जो अपने राज्य वापस नहीं जाना चाहते आश्रय दे सकता है अथवा नहीं? यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी पीड़ित व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह अधिकार प्रदान नहीं कर सकता कि जब वह आश्रय मांगे तो उसे अवश्य मिले तथा न ही इस विषय में राष्ट्रों का कोई सामान्य उत्तरदायित्व है।

**ओपेनहीम** के अनुसार, "आश्रय के अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य किसी पीड़ित व्यक्ति को अपने प्रदेश में प्रवेश देने तथा संरक्षण प्रदान करने का अधिकार रखता है।" बहुत से देशों यथा' पूर्व सोवियत संघ, जर्मन, फ्रांस, इटली आदि ने अपने—अपने संविधानों में इस बात का उल्लेख किया है कि राजनीतिक रूप से पीड़ित व्यक्तियों को उनके यहां आश्रय प्राप्त करने का अधिकार है।

भारत ने बंगलादेश के शरणार्थियों को पाकिस्तान के सैनिक प्रशासन के दमनकारी कार्यों तथा जन के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों, उनमें भावनाओं के भी अनुकूल था।

**बाह्य प्रादेशिक आश्रय अथवा राजनयिक आश्रय** (Extra Territorial Asylum or Diplomatic Asylum —शरणार्थी को दूतावासों ,युद्धपोतों अथवा व्यापारिक जहाजों में शरण देना है तो इसे राजनयिक आश्रय भी कहा जाता है। इस प्रकार का आश्रय देना राज्य का पूर्ण अधिकार नहीं होता, बरन् यह कुछ विशेष परिस्थितियों में मानव दृष्टि से प्रदान किया जाता है। ऐसे अनेक परिस्थितियां आती है जब राजनीतिक अपराधी समय से प्रभावित होकर अपने देश में ही रहने का फैसला करते हैं तथा वहां स्थित विदेशी दूतावासों में शरण लेते हैं।

"राजनयिक आश्रय के पीछे मूल सिद्धान्त यह है कि अन्तरर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राजदूतों के निवास स्थान को सम्बन्धित राज्यों के क्षेत्राधिकार से मुक्त रखा जाता है। राज्य की पुलिस विदेशी दूतावासों में राजदूत की अनुमति के विना प्रवेश नहीं कर सकती। यदि किसी व्यक्ति को वहां शरण दी जाती है तो वह राज्य की पुलिस की पकड़ से बाहर हो जाता है। सैंकड़ों बार राजनीतिक अपराधियों ने अपने राष्ट्र की सरकार से बचने के लिए वहाँ स्थित दूतावासों में आश्रय ग्रहण किया है।

समय के साथ—साथ इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है कि यदि विदेशी कूटनीतिक मिशन असीमित रूप से आश्रय देते हैं तो वे निश्चित ही अपने स्वागतकर्ता राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। फलस्वरूप इस व्यवस्था का क्षेत्र धीरे—धीरे सीमित होता जा रहा है तथा राज्य इस व्यवहार को अस्वीकार करते जा रहे हैं।

**बाह्य प्रादेशिक आश्रय अपनी प्रकृति तथा स्थान के अनुसार पांच प्रकार का** होता है—

1. दूतावास में दिया जाने वाला आश्रय।

2. वाणिज्य दूतावासों में दिया जाने वाला आश्रय।

3. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रांगण में दिया जाने वाला आश्रय।

4. युद्ध पोतों में दिया जाने वाला आश्रय।

5. व्यापारिक जहाजों में दिया जाने वाला आश्रय।

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है विभिन्न रूपों में दूतावासों में दिए जाने वाले आश्रय को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

1. दूतावासों में शरण देने के अधिकार की सीमा का प्रश्न प्रारम्भ से ही विवाद का विषय रहा है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही दूतावासों में शरण दी जा सकती है। यदि किसी व्यक्ति के प्राण संकट में हों अथवा स्थानीय सरकार के राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित हों तो मानवीय आधार पर आश्रय देना अनुचित नहीं है। राजनयिक आश्रय केवल अल्पकालीन होना चाहिए। यदि स्थानीय पुलिस अपराधी की मांग करे तो अपराधी को सौंप देना चाहिए।

1. स्टार्क के अनुसार दूतावासों में केवल तीन दशाओं में शरण दी जा सकती है। जब किसी व्यक्ति की जान खतरे में है। उदाहरण के लिए जब भीड़ उसका पीछा कर रही है तथा वह व्यक्ति अपनी जान बचाने के लिए दूतावास में घुस जाता है तो उसे अस्थायी रूप से शरण दी जा सकती है।

2. जहाँ किसी स्थानीय, दीर्घकालीन स्वीकृति तथा बाह्यकारी प्रथा के अन्तर्गत राजनयिक शरण देने की परम्परा हो।

3. किसी विशिष्ट सन्धि के अन्तर्गत दूतावास में शरण देने की व्यवस्था हो।

अमेरिका ने 1992 में अपने एक आदेश में घोषणा की थी कि एक राजनीतिक दूतमण्डलों के प्रयोजनों में यह सम्मिलित नहीं है कि वह आश्रय प्रदान करे।

1928 में हवाना अभिसमय पर हस्ताक्षर करते समय भी अमेरिका ने यह स्पष्ट कर दिया था कि का इस प्रकार के आश्रय को अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार न करने का अपना अधिकार सुरक्षित रखता है।

दूतावासों में स्थानीय अपराधियों तथा उत्पीड़ित व्यक्तियों द्वारा शरण लिए जाने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा दक्षिण अमेरिका के विभिन्न देशों में स्थित अपने दूतावासों में अनेक बार शरण दी गई है। । इस प्रकार की मुख्य घटना 1956 में हुई जब हंगरी की राजधानी बुडा पेस्ट में कार्डिनल मिण्डस जेन्टी को शरण दी गई थी। फ्रांस द्वारा विदेशों में स्थित अपने दूतावासों में (1858—1915) शरण दिए जाने के 13 दृष्टान्तों का उल्लेख एक विधि शास्त्री ने किया है।

1950 में नेपाल के महाराजाधिराज त्रिभुवन को काठमांडू स्थित भारतीय दूतावास में शरण दी गई थी। इतने और बहुत उदाहरण हैं जब दूतावासों में शरण प्रदान की गई थी। यद्यपि दूतावासों में शरण देने का विरोध किया जाता रहा है, तथापि दूतावासों में शरण दी भी जाती रही है।

दूतावासों में शरण देना एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्धारण मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में नहीं किया जा सकता क्योंकि राज्यों के अभ्यास एक जैसे नहीं हैं। कुछ राज्य ऐसे लोगों की जो अपने राज्य में पीड़ित है शरण देने का समर्थन करते हैं तो कुछ राज्य इसका विरोध करते हैं। इस विवाद का समाधान करने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक संकल्प स्वीकार किया था, जिसमें इसने सदस्य राज्यों को राजनयिक आश्रय पर महासचिव को अपने विचारों से सूचित करने को कहा था। बाद में महासचिव ने इस विषय के विश्लेषण को शामिल करने वाली रिपोर्ट को परिचालित करने का अनुरोध किया था। महासचिध द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट विश्वसनीय अध्ययन है तथा इस क्षेत्र में कानून के विकास की ओर एक कदम है।

**2. वाणिज्य दूतावासों में आश्रय (**Asylum in Consulates)—वाणिज्य दूतावास में शरण दिये जाने के सम्बंध में विधि शास्त्रियों का मत है कि वाणिज्य दूतावासों को शरण देने का कोई अधिकार नहीं है। इस शताब्दी में हुए अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धों से यही निष्कर्ष निकलता है। साधारणतथा इन अनुवन्धों में यह व्यवस्था रहती है कि स्थानीय अधिकारियों द्वारा अनुरोध करने पर वाणिज्य दूतावास में शरण लेने वाले उन व्यक्तिवं को जिन्हें अपराध करने के लिए दोषी ठहराया जा चुका है अथवा जिनके विरुद्ध अपराध करने के आरोप हैं, वाणिज्य दूतावास वापस कर देंगे।

स्टार्क का मत है कि वाणिज्य दूतावास भी शरण दे सकते हैं परन्तु उन पर इस सम्बन्ध में वे सब नियन लागू होते हैं जो दूतावासों पर लागू होते हैं।

**3. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों के परिसर में आश्रय (Asylum in the Primises of International Institutions)**—संयुक्त राष्ट्र तथा उसकी अनेक सहायक एजेन्सियों के मुख्यालय करारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को अपने कार्यालय में आश्रय देने के विषय में कोई सामान्य अधिकार प्राप्त नहीं है, परन्तु स्टार्क के मतानुसार भीड़ से खतरा उत्पन्न होने की स्थिति में ये संस्थाएँ भी शरण दे सकती

**4. युद्धपोतों में आश्रय** (Asylum in Warships)—कुछ विद्वानों का मत है कि वह व्यक्ति जो न्यायिक नहीं है तथा स्थल में अपराध करने के पश्चात् किसी युद्ध पोत में आश्रय प्राप्त कर लेता है, न तो स्थानीय अधिकारियों द्वारा गिरफ्तार किया जा सकता है तथा न ही जहाज के कप्तान की अनुमति से ही उसे बन्दी बनाया जा सकता है।

दूसरी ओर कुछ विधि शास्त्री इस मत के हैं कि ऐसे अपराधियों के विदेशी युद्धपोत पर शरण लेने पर कप्तान की अनुमति से स्थानीय पुलिस उसे युद्धपोत पर पकड़ने आ सकती है।

**5. व्यापारिक जलयान पर आश्रय (**Asylum in the Merchant Vessel)—व्यापारिक जहाजों को स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती, इसलिए उन्हें स्थानीय नागरिकों को आश्रय देने का अधिकार नहीं है। यदि कोई व्यक्ति समुद्र के किनारे अपराध करने के पश्चात् किसी व्यापारिक जलयान पर आश्रय की मांग करता है और जलयान के बन्दरगाह छोड़ने से पूर्व स्थानीय पुलिस द्वारा बन्दी बनाया जा सकता है अथवा तब गिरफ्तार किया जा सकता है जब जलयान उसी राज्य की दूसरी बन्दरगाह पर आता है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यापारिक जलयानों पर शरण नहीं दी जा सकती। केवल राज्य शरण प्रदान कर सकता है यदि उसके द्वारा ऐसी कोई सन्धि की गई है।

अमेरिका ने व्यापारिक जलयानों को जो उनके सागरं खण्डों में लंगर डाले हुए हैं, चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी देश से हो, आश्रय प्रदान करने की संविदा द्वारा बाध्य है, परन्तु यह केवल सन्धि हस्ताक्षर कर्त्ताओं पर ही आबद्ध कर होती है।

**निष्कर्ष (**Conclusion)—आश्रय देने के अधिकार के सम्बन्ध में विविध विचारधाराएँ हैं। आश्रय कब, किसे, किन परिस्थितियों में दिया जा सकता है, इस विषय में कोई स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है। प्रत्येक प्रभुसत्ता—सम्पन्न राज्य स्वयं निर्णय करता है कि आश्रय कब तथा कैसे दिया जाना है। साधारणतथा आश्रय देने के अधिकार का तात्पर्य है कि किसी राज्य द्वारा अन्य राज्य के पीड़ित व्यक्ति को अपने राज्य में रहने की अनुमति देना। आश्रय पाने में सफल होने पर वह व्यक्ति उस राज्य में आवभगत पाता है। जो राज्य किसी व्यक्ति के विरुद्ध मुकद्दमा चलाना चाहता है तो राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे व्यक्ति को नजरबंद अथवा निगरानी में रखा जाये, जिससे वह अपराधी किसी अन्य राज्य को किसी तरह से हानि पहुंचाने में सफल न हो सके।

**राजनयिक आश्रय के सम्बन्ध में भारतीय अभिमत** (Indian view on Diplomatic Asylum)

संयुक्त राष्ट्र महासभा में छठी समिति के समक्ष बोलते हुए भारत के कानून मन्त्री डॉ. सईद मोहम्मद ने 3 नवम्बर, 1975 को राजनयिक आश्रय के सम्बन्ध में भारतीय अभिमत को स्पष्ट करते हुए कहा कि "जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कहा है, राजनयिक आश्रय प्रादेशिक आश्रय से भिन्न है, क्योंकि पहले वाले में राज्य की प्रभुसम्पन्नता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। दूसरे में आश्रय प्रदान करना राज्य की क्षमता के भीतर है। इसी कारण भारत ने 30 दिसम्बर, 1967 को सभी विदेशी तथा राष्ट्र मण्डल राजनयिक दूतावासों को एक पत्र भेजकर यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत दूतावासों द्वारा अपने यहाँ व्यक्तियों को आश्रय देने के अधिकार को मान्यता प्रदान नहीं करता है। उन्होंने यह भी कहा कि राजनयिक दूतावासों को राजनयिक सम्बन्धों पर वियना अभिसमय में वर्णित विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। इन दूतावासों द्वारा इनमें एकांकी प्रसार करना राज्य की सत्ता अथवा प्राधिकार का उल्लंघन है। परन्तु व्यवहारों के आधार पर यदि किसी व्यक्ति की जान को खतरा है तो ऐसा खतरा बने रहने तक ऐसे व्यक्ति को आश्रय प्रदान किया जा सकता है, परन्तु इससे राज्य का उक्त व्यक्ति के प्रति क्षेत्राधिकार समाप्त नहीं हो जाता है। खतरा समाप्त हो जाने पर वह व्यक्ति राज्य को लौटा दिया जाता है।आश्रय का विषय अन्तर्राष्ट्रीय विधि कमीशन के एजेण्डा में नहीं है.....

उपर्युक्त समय पर कमीशन को इसके मानवीय पहलुओं का अध्ययन करना चाहिए।" ') उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यर्पण के समान ही आश्रय के अधिकार के साथ अनेक प्रश्न तथा समस्याएँ जुड़ी हुई हैं।

## राजनयिक अभिकर्त्ता (Diplomatic Agents)

प्रश्न 1. राजनयिक अभिकर्ता से आप क्या समझते हैं? उनके विभिन्न प्रकार बताइए। (What do you understand by Diplomatic Agents? Describe their various kinds

अथवा

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राजनयिक अभिकर्ताओं के विशेष अधिकारों तथा उन्मुक्तियों का वर्णन करें। (Describe the privileges and immunities enjoyed by Diplomatic Agents in International Law.)

अथवा

राजनयिक अभिकर्ताओं का वर्णन करें। उनके कार्यों की व्याख्या करें। (Explain Diplomatic Agents. Explain their functions.)

अथवा

राजनयिक प्रतिनिधियों की विभिन्न श्रेणियों का वर्णन करें तथा इनके कार्यों की व्याख्या करें। (Describe the various categories of Diplomatic Agents and discuss their functions.)

अथवा

राजनयिक अभिकर्ताओं की नियुक्ति विधि का वर्णन करें तथा उनका कार्य बताइये।

**उत्तर**—भूमिका (Introduction) — प्राचीन काल से ही प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपना समान्य बनाए रखने तथा पारस्परिक व्यवहार को संचालित करने के लिए वहाँ अपने दूत तथा व्यापारिक प्रतिनिधि भेजता रहा है। प्राचीन भारत, मिस्र तथा चीन के अभिलेख स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हैं कि राजदूतों का पद अत्यन महत्त्वपूर्ण था तथा उनके कार्यालय को पवित्र समझा जाता था। शान्ति वार्ता के लिए अथवा युद्ध से पूर्व विवारों को सुलझाने के लिए दूत भेजे जाते थे।

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय संचालन में अभिकर्ताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनयिक प्रतिनिधि सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार है। सभी सम्बन्धों की स्थापना तथा निर्वाह उसी के माध्यम से होता है। राजनयिक प्रतिनिधि अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये राजनयिक विदेशों में अपने देश के हितों की रक्षा करना, नागरिकों की देखभाल करना तथा अपने देश के अन्य देशों के साथ मधुर सम्नन्ध बनाते हैं। इन अभिकर्ताजों की सहायता अनेक पदाधिकारियों द्वारा की जाती है। स्थायी मिशन के अध्यक्ष के अतिरिक्त कभी—कभी विशेष उद्देश्यों के लिए राजनयिक अभिकर्ता भी नियुक्त किए जाते हैं।।

**प्राचीन तथा मध्य काल में दौत्य प्रथा** (Diplomatic Agents in Ancient and Medieval Period)

राज्यों के बीच कूटनीतिक सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक महत्वपूर्ण विषय है। यद्यपि स्थायी दूतावान की स्थापना आधुनिक काल की देन है परन्तु राजदूत को दूसरे राज्य में भेजने की प्राचीन परम्परा रही है। भारत में रामायण काल में रावण से युद्ध छेड़ने से पूर्व अंगद को रावण के दरबार में दूत बनाकर भेजा गया था। महाभारत काल में दोनों भाइयों कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध से पूर्व श्री कृष्ण स्वयं पाण्डवों के दूत बनकर कौरवों की सभा में गये थे।

यूनानी तथा रोमन साम्राज्य के काल में दूतावास नहीं थे किन्तु सम्प्रभु राज्यों को राजदूत भेजने का अधिकार था। उनके राजनयिकों का सम्मान के साथ स्वागत किया जाता था तथा व्यक्तिगत उन्मुक्तियों प्रदान की जाती ही।

सिकन्दर के आक्रमण के समय भी दौत्य प्रथा का उल्लेख मिलता है। सिकन्दर स्वयं पोरस के दरबार में दूत बन कर गया था। भेद खुलने पर केवल दूत के कारण उन्हें न तो बन्दी बनाया गया था तथा न ही हत्या की गई थी।

चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज सेल्यूकस का राजदूत बनकर आया था। बिन्दुसार के समय सीरिया के यूनानी राज्य ने डाईमेक्स को राजदूत बनाकर भेजा। सम्राट अशोक ने विभिन्न राज्यों में अपने धर्मदूत भेजे थे।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् सामन्तथादी व्यवस्था में राजदूत राज्यों की औपचारिकता की अपेक्षा केवल राजाओं के व्यक्तिगत सन्देशवाहक बन कर रह गए।

मध्य युग में दूत भेजे जाते थे किन्तु ये अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् स्वदेश लौट आते थे। स्थायी प्रतिनिधि भेजने की प्रथा 14वीं सदी में इटली गणराज्य से प्रारम्भ हुई। फ्रांस के लुई 11वें ने अनेक राज्यों की राजधानियों में अपने स्थायी प्रतिनिधि भेजे। यातायात तथा संचार साधनों के विकास के फलस्वरूप राज्यों के आपसी सम्बन्धों का विस्तार हुआ तथा 17वीं सदी तक प्रायः सभी राज्यों ने स्थायी दूत भेजने की परम्परा अपना ती। प्रो. फेनविक के अनुसार आज कोई भी राज्य शेष संसार से

सम्बन्ध विच्छेद कर अलग—थलग नहीं रह सकता। प्रारम्भ में राजदूतों का कार्य अपने देश के स्वाथों की रक्षा के लिए झूठ बोलना तथा जासूसी करना था।

17वीं सदी में हेनरी बाटन नामक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ने लिखा कि "राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश के हित के लिए विदेश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।"

राजनयिक अभिकर्ता पर कानून (Law on Diplomatic Agents) यद्यपि 17वीं सदी में स्थायी राजनयिक अभिकर्ताओं की नियुक्ति का परिचलन आरम्भ हो गया था, परन्तु इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित तथा स्पष्ट कानून नहीं था। पहली बार 1815 में वियना कांग्रेस ने राजनयिक प्रतिनिधियों के पद के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियम को संहिताबद्ध किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् राजनयिक अभिकर्ताओं से सम्बन्धित कानून के संहिताकरण का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) को सौंपा गया। आयोग ने प्रारूप अनुच्छेद तैयार करके महासभा को सौंप दिया। महासभा ने 1961 में वियना में एक सम्मेलन का आयोजन किया, — जिसमें 84 राज्यों ने भाग लिया। एक अभिसमय स्वीकार किया गया जिसे राजनयिक सम्बन्धों पर विवना अभिसमय के नाम से जाना जाता है। 1964 में इस अभिसमय को लागू किया गया। सन् 1986 तक 149 राज्यों ने इसे स्वीकृति प्रदान कर दी थी। अभिसमय ने राजनयिक सम्बन्धों तथा उन्मुक्तियों से सम्बन्धित परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्त्वपूर्ण भाग को संहिताबद्ध किया है।

**राजनयिक प्रतिनिधि की परिभाषाएँ (**Definitions of Diplomatic Agents)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून में राजनयिक अभिकर्ता राज्य के प्रतिनिधि अथवा दूत को कहा जाता है जो विदेशों में उस राज्य के हितों की रक्षा तथा संचालन करता है। जिस राज्य द्वारा उसे भेजा गया है विभिन्न देशों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों की नींव रखने तथा राज्य के मध्य सम्बन्ध प्रगाढ़ करने के लिए राजदूत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राचीन काल से ही राजनयिक अभिकर्ताओं का आदान—प्रदान होता रहा है। वर्तमान में इनके बिना राज्यों के सम्बन्धों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने राजनयिक अभिकर्ताओं के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

**लॉरेंस** का कथन है कि "विदेशी राज्य सभाओं में स्थायी रूप से रहने वाले राजदूतों को भेजने की रीति का प्रारम्भ उपयोगिता से अधिक राजनीतिक कारणों से है।" राजनयिक प्रतिनिधि वे राजदूत होते हैं एक राज्य द्वारा विदेशों में प्रतिनिधि के रूप में स्थायी निवास के लिए भेजे जाते हैं।

2. फेनविक के शब्दों में, "वास्तव में बात यह है कि सदियों से राज्यों में विदेशों में स्थायी रूप से राजनैदिय प्रतिबंध रखने की प्रथा चली आ रही है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय परिवार में आज राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के विकसित करने का महत्त्वपूर्ण आचार नहीं है।"

3. ओपेनहीम के अनुसार, "यद्यपि राजनयिकता उतनी ही पुरानी है जितना कि राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध। तथापि कर्मचारियों का विशेष वर्ग जिसे राजनयिक कहते हैं तब तक नहीं वे और हो भी नहीं सकते वे जब तह कि स्थायी दूतावास अस्तित्व में नहीं आयेगा।"

4. हेनरी वाटन ने कहा है कि, "राजदूत एक ऐसा व्यक्ति होता है जो अपने देश के स्वार्थ के लिए विदेशों में असत्य बोलने जाता है।"

**राजदूतों को भेजने का अधिकार**

(Right of Legation to Diplomatic Agents)

प्रत्येक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य का यह अधिकार है कि वह अन्य राज्यों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपने राजनयिक प्रतिनिधि भेज सकता है। एक अर्द्ध स्वतन्त्र देश भी अपना राजनयिक प्रतिनिधि दूसरे स्वतन्त्र राज्य में भेज सकता है परन्तु उसके अधिकार सीमित होते हैं। उपनिवेशवादी राज्य उपनिवेशों में तथा साम्राज्यादी राज्य साम्राज्य की इकाइयों में भी राजनयिक प्रतिनिधि को भेज सकते हैं। इसके अतिरिक्त यक्षी संयुक्त राष्ट्र संघ एक राज्य नहीं है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संस्था होने के नाते उसे दूत कर्म का अधिकार प्राप्त है। सभी राष्ट्र सदस्य अपने स्थायी राजनयिक प्रतिनिधि इसमें भेजते हैं। यदि आवश्यकता पड़े तो संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपने राजनयिक स्तर के प्रतिनिधियों की नियुक्ति कर सकता है। इन सदस्यों को वे वे सभी अधिशा तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो अन्य राज्यों के राजनयिक कर्मचारियों को प्राप्त होते हैं। जिन देशों के मित्रता के सम्बन्ध होते हैं वे अपने राज्य के राजनयिकों को अन्य देशों में भेजते हैं तथा उनके राजनयिकों का स्वागत करते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से बाध्य नहीं हैं।

राजनयिक अभिकर्ता की नियुक्ति राजतन्त्रात्मक राज्यों में सम्प्रभु द्वारा की जाती है। सामान्यतः यह सविधार में परिभाषित कर दिया जाता है। अमेरिका तथा फ्रांस का राष्ट्रपति (सीनेट की सहमति) राजदूतों की नियुक्ति करता है तथा विदेशों के राजदूतों को स्वीकार करता है। भारत में प्रधानमंत्री राष्ट्रपति के नाम पर राजदूतों की नियुक्तियों करता है।

सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्येक देश की राजधानी में केवल एक स्थायी रांजनविक अभिकर्ता नियुक्त किया जाता है। युद्ध के समय तटस्य मित्र राज्य का प्रतिनिधि एक युद्ध प्रवृत्त राज्य में दूसरे प्रवृत्त राज्य की जनता के हितों की रक्षा करता है। इस बात में कोई आपत्ति नहीं है कि एक ही व्यक्ति को एक से अधिक राज्यों का प्रतिनिधि नियुक्त किया गया है। ऐसा प्रायः तव किया जाता है जब कई छोटे राज्य निकटवर्ती हो अथवा कई दफा सरकारी व्यय कम करने के लिए भी ऐसा कर लिया जाता है।

**दूतों के प्रकार एवं वर्ग** (Kinds and Classes of Diplomatic Envoys)

दूतों को अनेक प्रकारों में विभाजित किया गया है। भारतीय विचारकों ने दूत की आवश्यकता तथा उपयोगिता को स्वीकार करके उसकी श्रेणियों का उल्लेख किया है। प्रमुख भारतीय राज्यशास्त्री कौटिल्य ने राजदूत को राज का मुख कहा है क्योंकि इसके द्वारा लोग एक—दूसरे से बातचीत करते हैं। इस सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य मत का उल्लेख करना आवश्यक है।

**भारतीय मत (Indian View)—** कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में योग्यता तथा अधिकारों की दृष्टि से दूतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—

1. निःसृष्टार्च — प्रथम श्रेणी के दूतों में अमात्य जैसी सभी योग्यताएँ होती हैं।

2. परिमितार्थ — दूसरी में अमात्य पद की कुछ योग्यताएँ होती हैं।

3. शासन हर — तीसरी में अमात्य पद की आधी योग्यताएँ पर्याप्त मानी गई हैं।

प्रथम श्रेणी के दूतों को व्यापक अधिकार तथा कर्तव्य सौंपे जाते थे। इनकी तुलना आधुनिक राजदूतों से की जा सकती है।

दूसरी श्रेणी के दूतों के अधिकार सीमित थे।

जबकि तीसरी श्रेणी के दूतों को केवल सन्देशवाहक मात्र माना जाता था।

**पाश्चात्य मत (European View)**

यूरोप के विचारक भारतीय विचारकों से सहमत नहीं हैं। प्रो. ओपेनहीम के अनुसार दूतों के केवल दो प्रकार होते हैं—

1. वे दूत जिन्हें राजनीतिक सन्धि वार्ता के लिए भेजा जाता है।

2. वे दूत जो केवल समारोहपूर्ण कार्यों के लिए अथवा अध्यक्षों में परिवर्तन की सूचना देने के लिए भेजे जाते हैं।

विभिन्न राज्य समय—समय पर दूसरे राज्यों को विशेष दूत भेजते हैं जो राजतिलक, शादी तथा दाहक्रिया आदि में भाग लेते हैं।दोनों प्रकार के दूत एक जैसा स्तर रखते हैं।

राजदूतों को पुनः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. स्थायी अथवा अस्थायी रूप से किसी राज्य में समझौता वार्ता करने के लिए भेजे गए दूत।

2. किसी कांग्रेस अथवा सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजे गए दूत। दूसरे प्रकार के राजदूत

यद्यपि जिस राज्य को भेजे जाते हैं उसमें बसते नहीं हैं, किन्तु वे निश्चय ही राजनयिक दूत होते हैं तथा इस पद के सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हैं।

वियना कांग्रेस 1815 ने राजनयिक अभिकर्ताओं को तीन श्रेणियों में बाँटा—

प्रथम राजदूत (Ambassador)

दूसरा पूर्णाधिकार हुकम मन्त्री तथा विशेष दूत (Minister plenipotentiary and Envoy Extra— ordinary)

तीसरा कार्यदूत (Chargesd affairs)

नाम 1818 की कांग्रेस ने एक चौथी श्रेणी और जोड़ दी, जिसे एक्स—ला—शैपल (Aix—La—Chapelle) का दिया गया। इसे निवासमंत्री (Minister Resident) भी कहा जाता है।

वियना अभिसमय 1961 के अनुच्छेद 14 के अधीन राजनयिक अभिकर्ताओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया, ये निम्नलिखित हैं—

1. राज प्रमुख को भेजे गए राजदूत अथवा पोप दूत तथा समरूप पद के अन्य मिशनों के प्रधान।

2. राज प्रमुख को भेजे गए दूत, मिनिस्टर तथा धर्मदूत।

3. विदेश मंत्रियों को भेजे गये कार्यदूत।

अभिसमय में निवासी मंत्री के वर्ग की व्यवस्था नहीं की गई है, जिसे 1818 में जोड़ा गया था। 1961 के अभिसमय के अन्तर्गत राजनयिक अभिकर्ताओं का वर्गीकरण उनको प्रदान किए गए अधिकारों तथा उन्मुक्तियों के अनुसार किया गया है।

विभिन्न सम्मेलनों तथा अभिसमयों द्वारा दूतों की जो मुख्य श्रेणियाँ स्वीकार की गई हैं, वे निम्नलिखित हैं—

**1. राजदूत (Ambassador)**— आरम्भ में शाही सम्मान से युक्त राज्यों द्वारा ही राजदूत भेजे तथा स्वीकार किए जाते थे। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अन्य छोटे—छोटे राज्य भी राजदूत भेजने लगे। राजदूतों को उनके राज्य के अध्यक्षों का व्यक्तिगत प्रतिनिधि माना जाता था, इसलिए इनको विशेष सम्मान तथा अधिकार प्रदान किए जाते हैं। राजदूत का सबसे बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण अधिकार यह है कि वह राज्याध्यक्ष से सीधा मिल सकता है तथा वार्ता कर सकता है। राजदूतों को परम श्रेष्ठ (His Excellency) के रूप में सम्बोधित किया जाता है। इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि राजदूत राजा का व्यक्तिगत प्रतिनिधि होता है। वर्तमान में राजदूतों का स्थान तथा पंद प्रतिष्ठा क्रम की दृष्टि से सर्वोपरि है।

**2. पूर्ण अधिकार युक्त मंत्री तथा असाधारण दूत** (Ministers Plenipoteniary and Envoys Extraordinary)—इस श्रेणी के दूतों को राज्य के अध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं माना जाता, इसलिए इनको राजदूतों जैसा विशेष सम्मान प्राप्त नहीं होता। वे राज्य के अध्यक्ष से व्यक्तिगत रूप से नहीं मिल सकते। इसके अतिरिक्त दोनों वर्गों के बीच विशेष अन्तर नहीं है। पूर्ण अधिकार युक्त मंत्री केवल सौजन्यवश परम श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। यह उनका अधिकार नहीं है। यूरोप में अस्थायी कार्यों

के लिए भेजे जाने वाले दूतों के साथ असाधारण शब्द का प्रयोग किया जाता, जिससे उन्हें स्थायी रूप से निवास करने वाले मंत्रियों से अलग किया जा सके। बाद में इसके साथ पूर्ण अधिकारी शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा। इन दूतों को भेजने वाले राज्य द्वारा समस्त अधिकार संपि जाते थे।

**3. निवासी मंत्री (Minister Resident)**—दूतों की इस श्रेणी को द्वितीय की अपेक्षा कम गौरव तथा सम्मान प्राप्त होता है। इनको सौजन्यवश भी परम श्रेष्ठ का सम्बोधन नहीं दिया जाता। यह श्रेणी 1818 में एक्स—ला—शैपल की कांग्रेस द्वारा जोड़ी गई थी। इनमें तथा द्वितीय श्रेणी के दूतों में यही अन्तर है। द्वितीय श्रेणी के राजदूतों को सौजन्यवश परम श्रेष्ठ से सम्बोधित किया जाता, इनके साथ ऐसा नहीं होता। ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस आदि महाशक्तियाँ अपने तथा लघु शक्तियों के दूतों के बीच अन्तर बनाए रखना चाहती थी। वर्तमान में निवासी मंत्री नियुक्त करने की प्रथा कम होती जा रही है।

**4. कार्यदूत (Charge D' Affairs)**—दूतों के इस विशेष वर्ग की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्हें राज्य के विदेश मंत्रालय द्वारा दूसरे राज्य के विदेश मंत्रालय के लिए भेजा जाता है। इससे भिन्न उक्त तीनों श्रेणियों के दूतों को एक राज्य के अध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्य के अध्यक्ष के लिए भेजा जाता है। कार्यदूतों को अन्य दूतों की भाँति विशेष सम्मान तथा गौरव प्रदान नहीं किया जाता। ये अपनी नियुक्ति के प्रत्यक्ष पत्र राज्य के अध्यक्ष को नहीं वरन् विदेश मंत्री को सौंपते हैं। भारत में इथोपिया, मैक्सिको, मंगोलिया आदि के कार्यदूत हैं।

किसी भी देश में स्थित सभी विदेशी दूतों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic Corks) कहा जाता है। इनमें सर्वश्रेष्ठ दूत को दूत शिरोमणि कहा जाता है। राजनयिक निकाय कानूनी रूप से गठित नहीं होता, इसलिए यह कोई कानूनी कार्यसम्पन्न नहीं करता। फिर भी राजनयिक दूतों के विशेष अधिकारों तथा सम्मान की देखभाल करने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

**5. उच्चायुक्त (High Commissioner)**—ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के सदस्य राज्य आपस में जिन दूतों का आदान—प्रदान करते हैं, हैं, उन्हें उच्चायुक्त कहते हैं। ऐसा परम्परावश ही किया जाता है।

**मिशन के अन्य कर्मचारी (**Other Staff of the Mission)

साधारणतथा राजनयिक अभिकर्ताओं के लिए कोई योग्यता निर्धारित नहीं की गई है। अधिकांश राजदूत राजनीतिज्ञ होते हैं। सत्ता दल के प्रभावशाली व्यक्ति जब चुनाव नहीं जीत पाते तो उन्हें विदेशों में राजदूत नियुक्त कर दिया जाता है, इसलिए राजदूत अथवा मंत्री के नीचे एक राजनयिक मिशन में अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं। इन सबकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती है।

आवश्यकता के समय मिशन के सरकारी तथा गैर—सरकारी सदस्यों के बीच अन्तर किया जाता है। सरकारी सेवी वर्ग वह है जिसके साथ सभी सदस्य प्रेषक राज्य के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

राजनयिक कर्मचारी वर्ग में उनके सहायक सैनिक, नौसैनिक तथा वायु सहचारी, प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय सचिव, सहचारी तथा लेखा के प्रभारी सचिव शामिल होते हैं।

कर्मचारी तथा तकनीकी कर्मचारी वर्ग में लिपिकीय सेवा के कार्यालय प्रमुख, लेखाकार, अनुवादक, प्रशासनिक सहायक, टाईपिस्ट और प्रशासनिक तथा तकनीकी कार्य करने वाले अन्य कर्मचारी, सेवा कर्मचारी वर्ग में चालक, सन्देशवाहक, घरेलू सेवक तथा द्वारपाल आदि शामिल होते हैं।

राजदूतों के अग्रत्व का क्रम उनके आगमन की सरकारी सूचना की तिथि से निश्चित होती है। यह नियम विवना कांग्रेस में निर्धारित किया गया था। वर्तमान में अनेक राज्य इस नियम का अनुसरण नहीं करते। वे राजदूतों की ज्येष्ठता उनके प्रमाण पत्र उपस्थित किए जाने की तिथि से निर्धारित करते हैं।

**दूतों की नियुक्ति (**Appointment of Envoys)

किसी भी राज्य के लिए दूतों की नियुक्ति का प्रश्न बड़ा ही जटिल होता है क्योंकि प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने मनुस्मृति, महाभारत (शान्ति पर्व), रामायण तथा चाणक्य की रचना में राजदूतों के गुणों का विशद विवेचन किया है।

मनुस्मृति में राजनयिक अभिकर्ता नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति में निम्नलिखित गुण होने चाहिएं—

1. वह सभी शास्त्रों में कुशल हो।

2. उसमें संकेतों, चिन्हों तथा चेष्टाओं को समझने की शक्ति हो तथा क्षमता हो।

3. वह ईमानदार होना चाहिए। दुर्व्यसनों से दूर रहने वाला हो।

4. चतुर, कुलीन तथा लोकप्रिय हो।

5. अपने देश के शासनाध्यक्ष अथवा प्रमुख के संदेश को याद रखने की क्षमता हो।

6. देश, काल, समय तथा परिस्थितियों को समझने तथा उसके अनुसार कार्य करने की योग्यता हो।

7. यदि वह सुन्दर तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का स्वामी है तथा निर्भय और वाकपट है तो उसके गुणों में और भी वृद्धि हो जाती है।

ऊपरवर्णित मनुस्मृति के गुणों तथा योग्यताओं का आज भी बहुत महत्त्व है। आज भी जिन व्यक्तियों को राजदूत नियुक्त किया जाता है वे नीति—निपुण, कुशल तथा कार्य में समर्थ होते हैं।

**पूर्वस्वीकृति (Prior Acceptance)**— अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के प्रतिनिधियों का स्वागत न करने के कई उदाहरण मिलते हैं। 1885 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने मि. कीले को मंत्री बनाकर इटली भेजा। इटली ने उनका स्वागत नहीं किया क्योंकि 14 वर्ष पहले अमेरिका में एक आम सभा में पोष के प्रदेश के इटली में विलय के विरोध में भाषण दिया था।

1893 में अमेरिकी विदेश मंत्रालय ने राजदूत नियुक्त करने से पहले ही पूछ लिया था। तब से यह व्यवहार एक स्वीकृत नियम बन गया है। वर्तमान में सभी राज्यों द्वारा राजदूतों की नियुक्ति करने से पूर्व सम्बन्धित देश की स्वीकृति ले ली जाती है।

**महिला राजदूत (Woman Diplomatic Agent)**—महिलाओं को राजनयिक अभिकर्ता नियुक्त करने के प्रश्न पर विद्वानों में एक मत नहीं है। इतिहास में महिला कूटनीतिज्ञों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। फ्रांस के लुई 14वें ने मादाम द गुए ब्रियाँ (Madam de gue briant) नामक महिला को राजदूत बनाकर पोलैण्ड भेजा। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् कुछ महिला कूटनीतिज्ञों के उदाहरण मिलते हैं। 1921 में सोवियत संघ ने मादाम कोलोन्ताई (Madam Kallontai) को मैक्सिको, नार्वे तथा स्वीडन में अपना कूटनीतिक प्रतिनिधि बना कर भेजा था।

1935 में अमेरिका ने डेनमार्क, इटली, लक्जमबर्ग में महिला कूटनीतिज्ञों की नियुक्ति की थी। भारत के श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को सोवियत संघ, अमेरिका तथा इंग्लैंड में राजदूत बनाकर भेजा गया था।

प्रत्यय पत्र (Letter of Gredence)—एक व्यक्ति को कूटनीतिक प्रतिनिधि नियुक्त करते समय राज्य के अध्यक्ष की ओर से प्रत्यय पत्र (Letter of Gredence) दिया जाता है। इसमें यह सूचना रहती है कि अमुक व्यक्ति को राजदूत बनाया जा रहा है। प्रत्यय पत्र दो रूपों में दिया जाता है—

1. मूल प्रत्यय पत्र जो एक मोहर बंद लिफाफे में रहता है।

2. इसकी प्रतिलिपी खुली रहती है। दूसरे देश में पहुँचते ही नियुक्त व्यक्ति अपने आगमन की सूचना देने के लिए विदेश मंत्रालय को अपने प्रत्यय—पत्र की प्रतिलिपि भेजता है।

मोहरबंद मूल प्रत्यय पत्र को वह एक विधिवत समारोह में स्वयं राज्याध्यक्ष को देता है। भारत में आने वाले विदेशी राजदूत अपने प्रत्यय पत्र नई दिल्ली में राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति को पेश करता है। कार्यदूत (Charge D' Affairs) को भी प्रत्यय पत्र दिया जाता है परन्तु उस पर विदेश मंत्री के हस्ताक्षर होते हैं।

स्थायी राजदूत को अपने साधारण कार्य सम्पन्न करने के लिए प्रत्यय पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी अभिलेख की आवश्यकता नहीं होती। यदि उसे कुछ विशेष कार्य सौंपे जाते हैं तो उसे पूर्ण अधिकार पत्र (Full Powers) प्रदान किया जाता है। इस पर राजाध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं।

**संयुक्त राज्यदूत** (Joint Ambassador)—नियमानुसार एक राज्य एक ही व्यक्ति को एक ही राज्य में राजदूत बनाकर भेजता है, परन्तु कभी—कभी एक व्यक्ति को एक से अधिक राज्यों में दूत कर्म करने के लिए दायित्व सौंप दिया जाता है। दक्षिणी अमेरिका में नियुक्त भारतीय राजदूत एक से अधिक राज्यों के राजदूत का कार्य देखते हैं।

**कूटनीतिक प्रतिनिधियों के कार्य** (Functions of Diplomatic Agents)

वर्तमान में राजनयिक अभिकर्ता के कार्यों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों तथा राज्यों की राष्ट्रीय विधियों द्वारा किया जाता है। वियना अभिसमय अनुच्छेद 3 (1) के अधीन राजनयिक अभिकर्ताओं को **निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं—**

1. **वार्ता** (Negotiation)—दूत अपने तथा दूसरे राज्य के बीच विभिन्न विषयों पर समझौता वार्ता करने वर्याला महत्त्वपूर्ण माध्यम है। यह न केवल उस राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसके लिए वह भेजा गया है वरन् अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता कर सकता है। अपने राज्य के अध्यक्ष तथा विदेश मंत्री का वह प्रवक्ता होता है। दूसरे राज्य से प्रतिवेदन स्वीकार करके वह अपने राज्य को भेजता है। वे प्रेषक राज्य तथा ग्राही राज्य के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्रेषक राज्य की ओर से विभिन्न पहलुओं पर ग्राही राज्य से वार्ता करता है।

2. **निरीक्षण** (Observation)—दूत का अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना तथा उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को भेजना है। यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक दूत की सफलता का मापदण्ड भी इसे माना जा सकता है। ऐसा करते समय उसे अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए।

3. **संरक्षण** (Protection)— राजनयिक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन तथा उनके अन्य सभी प्रकार के हितों की रक्षा करना है। यदि किसी देशवासी को न्यायिक सुरक्षा प्रदान किए बिना दण्ड दिया जाता है तो राजदूत का उत्तरदायित्व है कि उसे संरक्षण दे। राजनयिक द्वारा अपने देशवासियों के लिए संरक्षण प्रदान करने की कोई निश्चित सीमा नहीं है। यदि विदेशों में देशवासियों के हितों तथा सम्मान को चोट पहुँचती है तो राजदूत वहाँ के विदेश मंत्री से सम्पर्क करके उसके निदान के लिए प्रयत्न कर सकता है।

4. **प्रतिनिधित्व** (Representation)—कूटनीतिक प्रतिनिधि अपने राज्य की सरकार का एजेन्ट होता है। वह न केवल समारोहों के समय इस रूप में कार्य करता है वरन् आवश्यकता के समय स्वागतकर्ता राज्य की सरकार के सम्मुख विरोध प्रस्तुत करता है तथा पूछताछ करता है। अपने राज्य की सरकार की नीतियों को वह स्वागतकर्त्ता राज्य के सम्मुख स्पष्ट करता है।

5. **मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की अभिवृद्धि** (Promotion of Friendly Relations)—राजनयिक अभिकर्ताओं से प्रत्येक राज्य यह अपेक्षा करता है कि जिस राज्य में वह भेजा गया उस राज्य तथा अपने गृह राज्य के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में अभिवृद्धि करेगा। राजनयिक अभिकर्ताओं का यह कर्तव्य है कि वे दोनों राज्यों के बीच आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों को विकसित करें।

6. **प्रशासन** (Administration)—कूटनीतिक मिशन का अध्यक्ष उस समूह का प्रशासनिक अध्यक्ष होता है। यदि मिशन का आकार बड़ा है तो अध्यक्ष का सेवी वर्ग का कार्यालय भी होता है जिसमें उसके अधीनस्थ विभाग अध्यक्ष होते हैं। राजदूत स्वयं व्यक्तिगत रूप से दूतावास के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है।

**7. जनसम्पर्क (Public Relations)**— राजदूत निरन्तर अपने राज्य तथा उसकी नीतियों के प्रति सद्भावना बनाए रखने के कार्य में संलग्न रहता है। इसके लिए वह जनसम्पर्क के दूसरे कार्य सम्पन्न करता है। पार्टी तथा भोजों में शामिल होता है। सार्वजनिक एवं अन्य अवसरगत भाषण देता है। भवनों तथा अन्य कार्यक्रमों का उद्घाटन करता है। विदेशी सहायता से चलने वाली परियोजनाओं की देख—रेख करता है। जन सम्पर्क के इन कार्यों की प्रभावशीलता को मापना कठिन है। एक बात निश्चित है कि यदि कूटनीतिज्ञ इन कार्यों में भाग लेना छोड़ दे तो राज्य में गलत भावनाएँ पैदा हो जाएंगी।

**निष्कर्ष (Conclusion)**—ऊपर वर्णित तथ्यों से स्पष्ट होता है कि राजनयिक अभिकर्ता अर्थात् राजदत पद का बहुत महत्त्व है। दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को सुदृढ़ करने अथवा सम्बन्धों को विगाड़ने में राजदूत का बहुत अधिक योगदान होता है। राजदूत से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे यह स्वयं भी अपमानित हो तथा देश को भी हानि हो।

**प्रश्न 2. राजनयिक अभिकर्ताओं की उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों का वर्णन करें। (Discuss the DiplomaticImmunities and Privileges of Agents.)**

**अथवा**

**राजदूतों को लाभान्वित करने वाले विशेषाधिकारों और निरापदताओं का मूल्यांकन कीजिए। किन परिस्थितयों में राजदूतों को वापस बुलाया जा सकता है?**

**उत्तर**—

वर्तमान में राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों की चर्चा करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि उनकी उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों का आधार क्या है? इस विषय में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—

**1. बाह्य प्रादेशिकता का सिद्धान्त (Theory of Extra—Territoriality)**—इस सिद्धान्त के अनुसार राजनयिकों को कुछ उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार इस कारण प्राप्त होते हैं क्योंकि उन्हें राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर जाना जाता है। इस विषय में ग्रोशियस का कहना है कि राजनयिक अभिकर्ताओं की बाह्य राज्य क्षेत्रीयता का तात्पर्य है कि यद्यपि वे शारीरिक रूप से उस राज्य में रहते हैं, जिसमें वे भेजे जाते हैं फिर भी ऐसा समझा जाता है कि सभी प्रयोजनों के लिए वह उस राज्य में रहता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। कुछ विधिशास्त्रियों ने राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों को इस सिद्धान्त के आधार पर उचित बताया है।

बाह्य प्रादेशिकता का सिद्धान्त जो पहले बहुत प्रचलित था तथा विधिशास्त्रियों को मान्य था अब उचित प्रतीत नहीं होता। ओपेनहीम तथा फेनविक जैसे विधिशास्त्रियों ने इसकी आलोचना की है। प्रो. ओपेनहीम के अनुसार, "बाह्म प्रादेशिकता का सिद्धान्त उचित नहीं है।" फेनविक ने भी इस सिद्धान्त के विषय में कहा है कि इस सिद्धान्त को राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों का आधार नहीं माना जा सकता।

**2. कार्यात्मक सिद्धान्त (Functional Theory)**—राजनयिक प्रतिनिधियों को उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार इसलिए प्रदान किये जाते हैं क्योंकि वे कुछ विशेष कार्य सम्पादित करते हैं। इन उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों के अभाव में उनके लिए इन कार्यों को सम्पादित करना संभव नहीं होगा। यही तर्क कार्यात्मक सिद्धान्त का सार है तथा वर्तमान समय में इसे ही सही आधार माना जाता है। कार्यात्मक सिद्धान्त व्यवहारिक आवश्यकता पर आधारित है।

**3. प्रतिनिध्यात्मक सिद्धान्त (Representational Theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधि को राज्याध्यक्ष का व्यक्तिगत प्रतिनिधि माना जाता है। राजनयिक अपने राज्याध्यक्ष द्वारा विदेश में भेजा जाता है तथा उसके आदेशों के अनुसार कार्य करता है। राज्य में घटित सभी गतिविधियों की सूचना वह अपने देश के राज्याध्यक्ष को प्रेषित करता है। इसलिए इन्हें वही विशेषाधिकार प्रदान किए जाते हैं जो राज्य प्रमुख को प्रदान किये जाते हैं।

यह सिद्धान्त 1815 के वियना कांग्रेस में राजनयिकों की श्रेणी से सम्बन्धित नियमों में शामिल किया गया था। यह सिद्धान्त

इस दृष्टि से उचित नहीं है कि राजनयिक को राज प्रमुख के समान उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाएं। इसी कारण से न्यायालयों ने राज्य प्रमुख तथा राजनयिक उन्मुक्तियों के बीच समानता को स्वीकार नहीं किया है।

**राजनयिक अभिकर्ताओं की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार**

(Immunities and Privileges of Diplomatic Agents)

राजनयिकों की उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों का संक्षेप में निम्न प्रकार से उल्लेख किया जा सकता है।

**1. राजनयिक अभिकर्ताओं की अनतिक्रमणीयता (Inviolability of Diplomatic Agents)**—कूटनीतिक प्रतिनिधि उतने ही पवित्र माने जाते हैं जितने की राज्य के अध्यक्ष। अतः उनको अपने शरीर की रक्षा की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। ग्रहणकर्ता राज्य के प्रत्येक प्रकार के फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्हें अलग रखा जाता है। कूटनीति को पवित्र मानना एक व्यवहारिक आवश्यकता है। विश्व के किसी भी देश में विदेशियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। किसी विदेशी की हत्या किए जाने पर भी अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता।

राजदूत साधारण विदेशी नहीं होते। उन पर किया गया कोई भी आक्रमण उसके राज्य पर किया गया आक्रमण समझा जाता है। यह युद्ध का कारण भी बन सकता है।

वर्तमान में राजदूतों की अवध्यता के नियम के उल्लंघन के कई उदाहरण सामने आये हैं।

1971 में भारत—पाक युद्ध से बहुत पहले भारतीय दूतावास के व्यक्तियों को नजरबंद कर दिया गया। 1965 के युद्ध में पाकिस्तान के साथ सहानुभूति रखने वाले हजारों इण्डोनेशियनों ने प्रदर्शन करके भारतीय दूतावास को बहुत क्षति पहुँचाई।

4 नवम्बर, 1979 को इरानी छात्रों ने तेहरान में 52 राजनयिकों को 444 दिन तक बन्दी बनाकर रखा तथा 8 अरब डॉलर की बड़ी राशि देकर इन बन्धकों को मुक्त करवाया। ईरान की सरकार ने भी विद्यार्थियों के इस कार्य का विरोध करने के स्थान पर उनका समर्थन किया।

मई, 1992 में इस्लामाबाद में भारतीय राजनयिक राजेश मित्तल के अपहरण, उन्हें शारीरिक यातनाएँ देने व निष्कासन कार्यवाही को किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता।

**2. राज्य—क्षेत्र बाह्यता (Extra Territoriality)**—राजनयिक अभिकर्ता तथा उसके परिवार के सभी सदस्यों को स्वागतकर्ता राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। राजनयिक उस राज्य के क्षेत्र में रहते हैं परन्तु उसके कानून तथा न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर समझे जाते हैं। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में एक नया विकास है। पहली बार इसे ग्रोशियस की रचनाओं में स्पष्ट किया गया था। विदेशी दूतावास में उसी देश का कानून चलता है जिसका राजदूत वहाँ रहता है। यदि कोई अपराधी भाग कर विदेशी दूतावास में शरण लेता है तो राजदूत की आज्ञा से ही स्थानीय पुलिस अपराधी को गिरफ्तार कर सकती है अथवा राजदूत से अपराधी को सौंपने का निवेदन कर सकती है।

**3. निवास स्थान की उन्मुक्ति (Immunity of Domicile)**—राजनयिक को निवास स्थान प्रदान करना स्वागतकर्ता राज्य का उत्तरदायित्व है। परिसर के बिना स्थायी राजनयिक मिशन को कार्य करना बड़ा कठिन हो जाए। परिसर में प्रेषक राज्य के राजनयिक को अपने देश के ध्वज तथा प्रतीक चिन्ह के प्रयोग करने का अधिकार होता है जिससे स्पष्ट रूप से उसकी पहचान की जा सके। वियना अभिसमय का अनुच्छेद 30 (1) प्रावधान करता है कि किसी राजनयिक अभिकर्ता निजी निवास स्थान मिशन के परिसर के समान ही अनतिक्रमणीय तथा संरक्षणीय है। राजदूत को निवास स्थान सम्बन्धी उन्मुक्तियों प्रदान की जाती हैं। उसके निवास स्थान अथवा दूतावास को राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर माना जाता है। राज्य की पुलिस तथा न्याय विभाग का कोई अधिकारी इसमें प्रवेश नहीं कर सकता। यदि इस क्षेत्र में दूतावास के कर्मचारियों के अतिरिक्त कोई अन्य अपराधी आ जाता है तो उसे स्थानीय अधिकारियों को सौंपना दूतावास का कार्य है।

**4. फौजदारी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Exemption from Criminal Jurisdiction)**—राजनयिकों की सुरक्षा के लिए

किए गए विशेष प्रावधानों के अतिरिक्त उनको राज्य के फौजदारी क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति प्रदान की जाती है। कानून तथा व्यवस्था के विपरीत अपराध के लिए उनको किसी स्थिति में बंदी नहीं बनाया जा सकता। पुलिस द्वारा पकड़कर उन पर मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता। दूतों से भी यह आशा की जाते है कि वे ऐसा कोई अपराध नहीं करेंगे तथा स्वेच्छा से राज्य के कानूनों का पालन करेंगे। ऐसा न करने पर प्रेषक राज्य से उनको वापस बुलाने तथा अपने देश में दण्ड देने की मांग की जा सकती है।

**5. दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Exemption from Civil Jurisdiction)**—दूतावासों के सदस्यों पर कोई दीवानी कार्यवाही नहीं की जा सकती। राजदूत जिस देश में नियुक्त किया जाता है वहां जब तक वह राजदूत के पद पर रहता है तब तक वह सब प्रकार के दीवानी मुकद्दमों से मुक्त रहता है। उसके कार्यकाल में उस पर दीवानी मुकद्दमा नहीं चलाया जा सकता।

**6. विदेशी दूतावास में आश्रय (Asylum in Foreign Legations)**— दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग—अलग व्यवस्थाएँ हैं। आरम्भ में अधिकांश राज्यों के दूतावासों में ऐसे लोगों को शरण देने की परम्परा थी। आजकल दक्षिणी अमेरिकी राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों के दूतावासों को अपने भवनों में राजनीतिक अपराधियों को शरण देने का अधिकार नहीं है। यदि राजदूत ऐसा करने का प्रयास करते हैं तो स्थानीय सरकार की पुलिस शक्ति का प्रयोग करके अपराधी को प्राप्त कर सकती है। मानवीय दृष्टि से कुछ अपराधियों को दूतावास में शरण लेने का अधिकार दिया गया है । सामान्यत: यह स्वीकार किया जाता है कि स्थानीय न्यायिक अथवा प्रशासनिक अधिकारी दूतावास के अध्यक्ष की स्वीकृति से आवास क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं।

**7. गवाही देने से उन्मुक्ति (Exemption from Witnessing)**—राजदूत को किसी मामले में गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। वह किसी भी प्रशासनिक, दीवानी तथा फौजदारी न्यायालय में साक्षी देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता तथा न ही उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई अधिकारी उसके निवास स्थान पर जाकर उसकी गवाही ले सकता है। यदि वह स्वयं ऐसा करने को तैयार हो तो न्यायालय उसका लाभ उठा सकता है।

**8. पुलिस से मुक्ति (Exemption from Police)**—राजदूत का एक अन्य विशेषाधिकार ग्रहणकर्ता राज्य की पुलिस से उसकी उन्मुक्ति है। पुलिस के आदेश तथा नियमन उस पर बाध्यकारी नहीं होते। दूसरी ओर यह भी व्यवस्था है कि जिन नियमों को पुलिस द्वारा नियमित किया जाता है उन पर राजदूतों को मनमानी करने का अधिकार नहीं होता है। यह आशा की जाती है कि वह पुलिस की सभी आज्ञाओं तथा नियमों का पालन करेगा जो उसके कर्तव्य पालन के मार्ग में रोड़ा नहीं बनते तथा समाज की सुरक्षा और व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं।

**9. करों से उन्मुक्ति (Exemption from Taxes)**— स्थानीय सरकार द्वारा राजदूत पर आयकर अथवा दूसरे प्रत्यक्ष कर नहीं लगाये जा सकते। मकान, बिजली, नल, सफाई आदि उपयोगी सेवाओं का मूल्य उससे लिया जा सकता है परन्तु सौजन्यवश अर्थात् शिष्टाचार के कारण अनेक देशों में ये कर भी उससे नहीं लिये जाते। चुंगी तथा तट कर के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून राजनयिकों को उन्मुक्ति प्रदान नहीं करता। सौजन्यवश अनेक राज्यों के राष्ट्रीय कानून में एक सीमा तक राजनयिकों के व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं को तट कर से उन्मुक्त रखा गया है।

**10. पत्र व्यवहार की स्वतन्त्रता (Freedom of Communication)—** राजदूत अपना कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर सके इसके लिए उसे अपनी सरकार के साथ पत्र व्यवहार की स्वतन्त्रता दी जाती है। उसके पत्र व्यवहार, तार, सन्देश तथा कूटनीतिक थैलों का स्थानीय सरकार द्वारा निरीक्षण नहीं किया जाता।

**11. धार्मिक अधिकार (Right of Religion)**— राजदूत को धर्म के विषय में यह छूट दी जाती है कि वह अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म का पालन कर सकता है। पूजा - अर्चना की कोई विधि अपना सकता है। उसका धर्म स्थानीय धर्म तथा विश्वास से भिन्न हो सकता है। अपनी उपासना के लिए वह मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा तथा गिरजाघर का निर्माण करा सकता है। किन्तु वह स्वागतकर्ता राज्य के नागरिकों को उपासना में भाग लेने के लिए आमंत्रित तथा विवश नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में वह ग्राही राज्य में अपने धर्म का प्रचार नहीं कर सकता।

**12. संचालन(आवागमन) तथा यात्रा की स्वतन्त्रता (Freedom of Movement and Travel)**—वियना अभिसमय के

अनुच्छेद 26 के अनुसार - राजनयिक स्वागतकर्ता राज्य के राज्य क्षेत्र में यात्रा करने के लिए स्वतन्त्र है। परन्तु वह ऐसे क्षेत्रों की यात्रा नहीं कर सकता जो उस राज्य में प्रतिबन्धित सुरक्षा क्षेत्र (Prohibited Security Zone) हैं। ऐसे क्षेत्रों में यात्रा से सम्बन्धित कानून एवं विनियम , ग्राही राज्य द्वारा निर्मित विधियों के अधीन होती है।

**13. निजी यात्री सामानों के निरीक्षण से उन्मुक्ति** (Immunity from Inspection of Personal Baggage)—राजनयिकों को यात्री सामानों के निरीक्षण से छूट होती है। परन्तु सीमा शुल्क विभाग के निरीक्षण से राजनयिक के निजी सामानों की छूट प्रदान करने का सामान्य अभ्यास सीमित कर दिया गया है। निजी सामानों का निरीक्षण राजनयिक की उपस्थिति में किया जा सकता है। यदि यह आशंका करने का गम्भीर आधार हो कि उसके द्वारा लाई जाने वाली वस्तुएँ प्रशासकीय प्रयोग के लिए नहीं हैं।

**14. अनुचर वर्ग के लिए उन्मुक्तियाँ (Immunities for Retinue)**— राजदूत को उपलब्ध होने वाले विशेषाधिकारों के अन्तर्गत एक सीमा तक विशेषाधिकार उसके अनुचर वर्ग को भी प्राप्त होते हैं। अधिकृत रूप से जो लोग राजनयिक से सम्बद्ध होते हैं उनको परम्परा के अनुसार वे सभी विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो राजनयिक को प्राप्त होती हैं। राजदूतों को अनुचर वर्ग की पूरी सूची राज्य के विदेश मंत्रालय को देनी होती है। इस सूची के अतिरिक्त किसी व्यक्ति का कूटनीतिक विशेषाधिकार स्वीकार नहीं किया जाता।

**15. सार्वजनिक सुरक्षा के प्रावधानों से छूट** (Immunity from Social Security)—वियना अभिसमय के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था की गई है कि राजनयिक अभिकर्ता को नियुक्त किए जाने वाले राज्य के लिए की गई सेवाओं के सम्बन्ध में स्वागतकर्ता राज्य के सामाजिक सुरक्षा के प्रावधानों से छूट रहती है।

**16. सैनिक उत्तरदायित्व से छूट** (Immunity from Military Functions)—वियना अभिसमय के अनुच्छेद 35 में यह व्यवस्था की गई है कि राजनयिक अभिकर्ता राज्य के सैनिक उत्तरदायित्वों से मुक्त होंगे।

**17. तीसरे राज्य के सम्बन्ध में अधिकार** (Right to Respect to Third States)—राजदूतों को तीसरे राज्यों में होकर निर्दोष यात्रा का अधिकार (Right to Innocent Passage) है। निर्दोष गमन किसे समझना चाहिए, इसका निर्णय तीसरा राज्य करता है। निर्दोष गमन के अधिकार के अनुसार राजदूत तीसरे राज्य में केवल उतने समय के लिए ठहर सकता है जितना रास्ते से गुजरने के लिए आवश्यक है। परन्तु युद्ध की स्थिति में तीसरा राज्य राजदूतों के निर्दोष गमन का अधिकार नहीं देता।

**प्रश्न 3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें। (Write short notes on the following:)**

**1. तीसरे राज्य के सम्बन्ध में राजनयिक अभिकर्ता की स्थिति । (Position of Diplomatic Agent in regard to Third State)**

**2. राजनयिक मिशन का समापन। (Termination of Diplomatic Mission)**

**3. अन्तर्राष्ट्रीय आतंक तथा राजदूत का संरक्षण। (International Terrorism and Protection of Diplomats)**

**उत्तर—. I. तीसरे राज्य के सन्दर्भ में राजनयिक अभिकर्ता की स्थिति (Position of Diplomatic Agent in regard to Third State)**

राज्यों के मध्य राजनयिक सम्पर्क की मान्य आवश्यकता का यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि राजदूतों को तीसरे राज्य के प्रदेश में से लेकर निर्दोष गमन का अधिकार होना चाहिए। निर्दोष गमन किसे समझा जाना चाहिए, इसका निर्णय तीसरे राज्य द्वारा किया जाएगा। तीसरे राज्य में राजदूत के जाने की आवश्यकता कई कारणों से हो सकती है—

1. ग्रहणकर्ता राज्य तक पहुँचने के लिए उसे तीसरे राज्य में से होकर गुजरना पड़े।

2. यदि राजदूत युद्धकारी राज्य में है, जिस पर अन्य राज्य द्वारा सैनिक अधिकार कर लिया जाए।

3. एक राज्य को भेजा गया राजदूत तीसरे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

निर्दोष गमन के अधिकार के अनुसार राजदूत तीसरे राज्य में केवल उतने समय तक ही रुक सकता है जितना कि रास्ते से गुजरने के लिए आवश्यक है। राजदूत को भेजने वाले तथा ग्रहण करने वाले राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में तीसरा राज्य उसे गमन का अधिकार नहीं देता। यदि वह युद्धकारी राज्य में से होकर गुजरता है तो उसे रोक लिया जाएगा तथा युद्धवन्दी समझा जायेगा। तीसरे राज्यों में उन राजनयिक अभिकर्ताओं की स्थिति से सम्बन्धित निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

**शान्तिकाल में निर्दोष गमन** (Passage in time of Peace)

जब एक राजनयिक को अपने राज्य से स्वागतकर्ता राज्य में जाने के लिए तीसरे राज्य में से होकर जाना पड़े तब उसके अधिकार तथा स्थिति कैसी होगी, इस विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। स्मेलजिंग के मत में राजदूत केवल उस राज्य के प्रदेश में समस्त राजनयिक विशेषाधिकारों का प्रयोग करता है जिस राज्य में उसे भेजा गया है। अपनी यात्रा के दौरान वह जिन राज्यों में से होकर गुजरता है। उनमें वह अनतिक्रमणयता अथवा अन्य विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता जब तक कि वह वहाँ के सम्प्रभु को अपना प्रत्यय पत्र न दिखाए। परम्परा व सौजन्यवश शान्तिकाल में विदेशी राजदूत विना किसी बाधा के स्वतन्त्रतापूर्वक गुजर सकते हैं तथा कुछ समय विश्राम भी कर सकते हैं। उनको नियमित राजदूत की भाँति सम्मान तथा विशेषाधिकार प्रदान किए जाते हैं। यह एक राजनीतिक सौजन्य है कोई राजनयिक दायित्व नहीं है।

निर्दोष गमन के अधिकार के अन्तर्गत राजदूत तीसरे राज्य में केवल उतने ही समय तक रुक सकता है जितना रास्ते से गुजरने के लिए आवश्यक है। परिचय के लिए पासपोर्ट होना चाहिए। तीसरे राज्य के क्षेत्राधिकार से मुक्ति की दृष्टि से निम्नलिखित स्थितियों में जन्तर किया जा सकता है—

1. जब एक राजनयिक अपने देश से जाते हुए तथा आते हुए तीसरे राज्य से गुजरता है।

2. अनिवार्यता होने पर तीसरे राज्य में विश्राम करना।

3. जब वह अपनी इच्छा से तीसरे राज्य में रुकता है। यदि राजनयिक अपनी इच्छा से रुकता है तो उसे किसी प्रकार के विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान नहीं की जातीं।

## युद्ध काल में गमन का अधिकार (Passage in War Time)

युद्ध की स्थिति में राजनयिक तीसरे राज्य में गमन कर सकता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है। यह समय तथा परिस्थिति पर निर्भर करता है। निम्नलिखित परिस्थितियों के अनुसार गमन का अधिकार दिया भी जा सकता है अथवा इनकार भी किया जा सकता है।

1. जब प्रेषक राज्य तीसरे राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में हो तो राजनयिक को गमन का अधिकार नहीं दिया जाता। राजनयिक को पकड़ कर युद्धबन्दी भी बनाया जा सकता है। सन् 1774 में फ्रांसीसी राजदूत हनोवर होते हुए बर्लिन जा रहा था। हनोवर तथा इंग्लैंड उस समय फ्रांस के साथ युद्धरत थे। राजदूत को युद्ध बन्दी बनाकर इंग्लैंड भेज दिया गया।

2. जब स्वागतकर्ता राज्य का तीसरे राज्य से युद्ध हो तो भी राजनयिक को किसी भी प्रकार के अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ नहीं होतीं।

1702 में स्वीडन तथा पोलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था तो स्वीडन जाने वाले फ्रांसीसी राजनयिक को पोलैण्ड के रास्ते से गुजरते समय बन्दी बना लिया था। फ्रांस की सरकार द्वारा विरोध प्रकट कर कहा गया कि राजनयिक के पास पासपोर्ट होना चाहिए था।

सन् 1734 में पोलैण्ड स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने पोलैण्ड तथा रूस के युद्ध में सक्रिय भाग लिया। उसे रूसियों ने युद्ध बन्दी

बना लिया तथा फ्रांस के विरोध करने के बावजूद भी 1936 तक उसे रिहा नहीं किया।

## II. राजनयिक मिशन का समापन (Termination of Diplomatic Mission)

**प्रो. ओपेनहीम** के अनुसार निम्नलिखित कारणों से राजनयिक मिशन की समाप्ति होती है—

**1. उद्देश्य की पूर्ति (Fulfilment of the Object)**—राजदूत को जिस उद्देश्य के लिए भेजा गया है उसके पूरा होने पर वह समाप्त हो जाता है। कभी—कभी राजदूतों को एक विशेष कार्य करने के लिए भेजा जाता है। कार्य पूरा होते ही उसका अधिकार भी समाप्त हो जाता है। कई बार राजदूत किसी समारोह में भाग लेने के लिए भेजा जाता है। यथा—विवाह, दाह संस्कार, राजतिलक, सरकार के अध्यक्ष बदलने की सूचना देने, सम्मेलनों में राज्य का प्रतिनिधित्व करने आदि। ये कार्य सम्पन्न होते ही राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। किन्तु स्वदेश लौटने तक अधिकार बने रहते हैं।

**2. प्रत्यय पत्र की अवधि की समाप्ति (Expiration of Letters of Credentials)**—यदि राजनयिक को सीमित काल का प्रत्यय पत्र सौंपा गया है तो उसका मिशन समाप्त होते ही अस्तित्व खो देगा। उदाहरण के लिए एक राजदूत के वापस बुलाने तथा नया राजदूत नियुक्त करने के मध्य काल में राजनयिक रूप से राज्य का—प्रतिनिधित्व करने के लिए अस्थायी रूप से किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है।

**3. वापस बुलाना (Recall of Envoy)**— राजदूत को नियुक्त करने वाला राज्य उसे वापस भी बुला सकता है। विधि के अनुसार अध्यक्ष उसे वापस बुलाने का पत्र भेजता है। राजनयिक अभिकर्ता उस पत्र को ग्रहणकर्ता तज्य के अध्यक्ष को सौंपता है। यदि वह कार्यदूत है तो यह पत्र विदेश मंत्री द्वारा दिया तथा लिया जायेगा। इस पत्र के बदले राजनयिक को पार-पत्र (Passport) मिल जाता है। उसके विशेषाधिकार स्वदेश लौटने तक बने रहते हैं।

**4. पदोन्नति (Promotion)**—जब एक राजनयिक अपने पद पर बने रहते हुए भी उच्चतर श्रेणी पर पदोन्नत कर दिया जाता है तो उसका मौलिक मिशन समाप्त हो जाता है। उसे नया प्रत्यय पत्र प्रदान किया जाता है। ऐसी स्थिति में भी उसे वापस बुलाया जा सकता है।

**5. राज्याध्यक्ष की मृत्यु तथा त्यागपत्र (Death or Resignation of Head of State)**—यदि प्रेषक राज्य के अध्यक्ष का देहान्त हो जाए अथवा सरकार में परिवर्तन हो जाए या कोई नया व्यक्ति शासनाध्यक्ष बन जाए तो पहले राजनयिक के सभी अधिकार समाप्त हो जाते हैं। नया राज्याध्यक्ष नया अधिकार पत्र प्रदान कर देता है तो उसे पुनः कार्यशक्ति प्राप्त हो जाती है।

**6. पद से विमुक्ति (Removal from the Office)—** यदि ग्रहणकर्ता राज्य राजनयिक को पद से हटाने की प्रार्थना करे, कारण कुछ भी हो सकता है। यदि प्रेषक राज्य राजनयिक को पद से हटा देता है अथवा न हटाने से तनाव पैदा हो जाता है तथा राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। दूतावास के लोग राज्य की सीमा पार कर लेते हैं तो भी उनके विशेषाधिकार समाप्त हो जाते हैं तथा मिशन बंद हो जाता है।

**7. विलय द्वारा (By Merger)**— यदि प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता राज्य का अन्य किसी राज्य में किसी कारण विलय हो जाता है तो उनके राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। ये राजनयिक अपनी सम्पत्ति को अपने साथ ले जायेंगे।

**8. राजनयिक की मृत्यु** (Death of Diplomatic Agent)—राजनयिक की मृत्यु पर मिशन समाप्त हो जाते हैं। जैसे ही राजनयिक की मृत्यु हो जाती है तो उसके कागजातों पर मोहर लगा देनी चाहिए। यद्यपि दूत की मृत्यु के साथ ही मिशन समाप्त हो जाता है किन्तु उसके परिवार के सदस्यों तथा दूतावासों के अन्य कर्मचारियों के विशेषाधिकार उनके रवाना होने तक बने रहते हैं।

**9. सरकार में क्रान्तिकारी परिवर्तन (**Revolutionary Changes in Government)—प्रेषक अथवा स्वागतकर्ता राज्य में क्रान्तिकारी आन्दोलन के परिणामस्वरूप यदि नई सरकार बन जाए तो भी राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। सभी राजनयिकों को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते हैं।

**10. युद्ध की स्थिति (**In Case of War)—जव प्रेषक तथा स्वागतकर्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों देश अपने—अपने राजनयिकों को वापस बुला लेते हैं। भारत तथा पाकिस्तान युद्ध के समय दोनों ही देश अपने—अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं तथा दूतावास बंद कर दिये जाते हैं।

**11. सवैधानिक परिवर्तन** (Constitutional Changes) - यदि प्रेषक तथा स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष सम्प्रभु हैं तो उनके मरने अथवा पद से हटने के कारण उन द्वारा भेजे गए अथवा स्वीकार किए गए राजनयिक मिशन समाप्त हो जाते हैं। राजनयिकों को नए प्रत्यय पत्र प्राप्त करने होते हैं। गणराज्यों में अध्यक्षों के परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न राज्यों में अलग—अलग होता है।

**12. जासूसी के कारण** (On the basis of Spying)— जब दूतावास के कर्मचारी अपनी स्वतंत्रता और उन्मुक्तियों का दुरुपयोग करके जासूसी का कार्य करते हैं तथा स्वागत करता राज्य की गुप्त सैनिक सूचनाएं अपने राज्य को भेजते हैं तो इन्हें वापस बुलाने की मांग की जा सकती है। 3 सितम्बर, 1965 को दिल्ली पुलिस ने पाकिस्तान हाई कमिश्नर के तीन व्यक्तियों को एक होटल में भारतीय पायलेट अधिकारी से गुप्त सूचनाएँ प्राप्त करते हुए रंगे हाथों पकड़ा। परिणामस्वरूप भारत सरकार ने इन तीनों व्यक्तियों की वापसी की माँग की। प्रतिक्रियास्वरूप पाकिस्तान ने भी तीन भारतीयों पर ऐसे ही अभियोग लगाते हुए उनकी वापसी की माँग की।

**13. अवांछनीय व्यक्ति घोषित करना** (Persone Non—gratia)—स्वागतकर्ता राज्य को यह अधिकार होता है कि यह किसी भी समय किसी भी व्यक्ति को अवांछनीय व्यक्ति घोषित कर सकता है। परिणामस्वरूप राजदूत का कार्य समाप्त हो जाता है। सामान्यतः राजदूत को अस्वीकार करने का प्रश्न उसकी ओर से घोर दुराचरण के आधार पर उत्पन्न होता है।

### (III) अन्तर्राष्ट्रीय आतंक और राजदूतों का संरक्षण (International Terrorism and Protection of Diplomats)

अन्तर्राष्ट्रीय आतंक और हितबद्ध देशों द्वारा आतंकवादियों को बढ़ावा देने अथवा अपनी निष्क्रियता के कारण उत्साहित करने की स्थिति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावकारी रूप में काम करना राजनयिक रूप में कठिन हो गया है।

**अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद (International Terrorism)** शब्द की व्याख्या राजनयिक (कूटनीतिज्ञों) के संबंध में निम्नवत् की गई है—विदेशीवृत द्वारा प्रेरित किए जाने के आधार पर किसी राज्य अथवा सरकार के अध्यक्ष, राजदूतों अथवा अन्य पदाधिकारियों की हत्या करना अथवा जीवन पर प्रहार करने का प्रयास करना। इसके विभिन्न रूप हो सकते हैं, जैसे—विमानों का अपहरण (Hijacking of Airliners), व्यक्तियों को बन्धक बना लेना (Seizure of Hostages) और विदेशी दूतावास के परिसर में विस्फोट (Explosions in the Premises of Foreign Mission)। आतंक के कार्यों को रोकने और दण्ड करने विषयक 1973 अभिसमय, संयुक्त राष्ट्र महासभा के सत्ताइसवें अधिवेषण का प्रस्ताव और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने विषयक अपनाए गए अन्य उपाय ये सभी अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी को रोकने से संबंधित वैध प्रलेख हैं जिनमें ऐसी मान्यता प्रस्थापित की गई है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन और आतंकवाद के बीच कोई संबंध नहीं है।

**अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण वाले व्यक्तियों (राजनयिक प्रतिनिधि भी शामिल है) के विरुद्ध अपराधों को रोकने तथा दण्डित करने के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, 1973—**

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विदेशी राज्य के प्रतिनिधियों, अधिकारियों की हत्या, वध, अपहरण की तगातार होने वाली घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय की आवश्यकता महसूस की गई। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1973 में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया जिसमें उक्त अभिसमय को स्वीकार कर लिया गया। यह अभिसमय 20 फरवरी, 1977 से लागू हो गया। इस अभिसमय के प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं—

1. अनुच्छेद 2 के अनुसार किसी अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण वाले व्यक्तियों की हत्या या उनके व्यक्ति या स्वतंत्रता पर आक्रमण, उनके सहकारी परिसरों पर आक्रमण, ऐसे किसी अन्य आक्रमण की धमकी या उसका प्रयास तथा ऐसे किसी अन्य कार्य में सहयोगी होने के अपराध को प्रत्येक राज्य—पक्षकार अपनी आंतरिक विधि में अपराध घोषित करेंगे। प्रत्येक राज्य—पक्षकार ऐसे अपराधी को उपर्युक्त दण्ड द्वारा दण्डित करेंगे।

2. प्रत्येक राज्य—पक्षकार ऐसे उपाय करेगा जिससे अनुच्छेद 2 में वर्णित अपराधों के संबंध में क्षेत्राधिकार स्थापित किया जाए।

3. यदि राज्य—पक्षकार को, जिसके क्षेत्र में अनुच्छेद 2 में वर्णित अपराध किए गए हैं, ऐसा विश्वास करने का कारण है कि उक्त अभियुक्त इसके क्षेत्र का भाग गया है तो वह संयुक्त राष्ट्र के महासचिव के माध्यम से उक्त अपराध के संबंध में सभी सूचनाएँ सभी अन्य राज्यों को उपलब्ध कराएगा।

4. यदि वह राज्य—पक्षकार, जिसके क्षेत्र में अभियुक्त विद्यमान है तथा वह उसका प्रत्यर्पण नहीं करता है, तो बिना किसी अपवाद के तथा बिना अनुचित विलम्ब के उस राज्य की विधियों के अनुसार, अभियोजन के प्रयोजन से सक्षम प्राधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत करेगा।

5. यदि अनुच्छेद 2 में वर्णित अपराध ऐसे हैं जो ऐसे अपराध समझे जाते हैं जिनका उल्लेख प्रत्यर्पण होने वाले अपराधों की सूची में नहीं है, तो ऐसा माना जाएगा कि ऐसे अपराध भी उक्त अपराधों की सूची में शामिल हैं।

6. ऐसी आपराधिक कार्यवाहियों के संबंध में राज्य पक्षकार एक—दूसरे को अधिक से अधिक सहायता प्रदान करेंगे।

7. वह राज्य—पक्षकार जहाँ पर अभियुक्त पर अभियोजन या मुकदमा चलाया गया है, मुकदमे के फल या निष्कर्ष की सूचना संयुक्त राष्ट्र के महासचिव को देगा तथा महासचिव ऐसी सूचना को अन्य राज्य—पक्षकारों को संसूचित करेगा।

8. यदि ऐसे मामलों से संबंधित अभिसमय की व्याख्या के संबंध में दो या दो से अधिक राज्यों में विवाद होने पर यदि परस्पर वार्ता से मामला तय नहीं हो पाता तो ऐसे मामले को विवाचन के लिए सौंपा जाएगा। यदि विवाचन का गठन नहीं हो पाता है, तो उनमें से कोई भी पक्षकार विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप सकता है।

# मानव अधिकार (Human Rights)

**1. मानव अधिकारों का क्या अर्थ है, मानव अधिकारों की विशेषताओं और विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें। (What is the meaning of Human Rights? Discuss the characteristics and different types of Human Rights.)**

**अथवा**

**मानव अधिकारों के संरक्षण से सम्बन्धित विधि के नियमों के विकास पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए । (Write a detailed note on the evolution of rules of International Law relating to the protection of Human Rights?)**

**अथवा**

**मानव अधिकारों के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की व्याख्या कीजिए। (Discuss position of International Law relating to Human Rights.)**

**उत्तर— मानव अधिकारों का अर्थ (Meaning of Human Rights)**— वर्तमान में मानव अधिकारों पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। लॉक के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितयों हैं जिन्हें बिना आमतौर पर कोई व्यक्ति सर्वोत्तम रूप पाने की आशा नहीं कर सकता।

अतः यह कहा जा सकता है कि मानव अधिकार का विचार मानवीय गरिमा के विचार से संबंधित है। अतः उन सभी अधिकारों को मानव अधिकार कहा जा सकता है जो मानवीय गरिमा को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। इन अधिकारों के उपयोग करने और उनकी रक्षा करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। वियना में 1993 में आयोजित विश्व मानव अधिकार सम्मेलन

(World Conference on Human Rights) की घोषणा में यह कहा गया या कि "सभी मानव अधिकार व्यक्ति में गरिमा और अन्तर्निहित योग्यता से प्रादुर्भूत होते हैं और व्यक्ति मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं का केन्द्रीय विषय है।"

**डी. डी. बसु** मानव अधिकारों को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते हैं, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को, बिना किसी अन्य विचारण के, मानव परिवार का सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी (Public Authority) के विरुद्ध चारण करना चाहिए।

**मानव अधिकारों की विशेषताएँ (Characteristics of Human Rights)**

मैकफरलेन के अनुसार, "मानव अधिकार वे नैतिक अधिकार हैं जो प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को केवल मानव होने के नाते मिलते हैं।" ये अधिकार दूसरे अधिकारों से पाँच विशेषताओं के आधार पर पहचाने जा सकते हैं—

**1. सर्वव्यापक (Universality)** — सर्वव्यापक इस अर्थ में है कि अधिकार सभी लोगों के सभी समयों और परिस्थितियों में होते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों की घोषणा सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए है चाहे वे किसी भी प्रकार के शासन अथवा परिस्थिति में जी रहे हों।

**2. व्यक्तिपरकता (Individuality)** — व्यक्तिपरकता का अर्थ है कि मानव अधिकार की धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति एक स्वतंत्र प्राणी है, उसकी अपनी प्रतिष्ठा है, वह अपनी अन्तर्रात्मा और तर्कबुद्धि का मालिक है और सामाजिक स्तर पर अपने निर्णय लेने के योग्य है। अत: जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के इन मूल्यों को मान्यता नहीं दी जाती वहाँ अधिकार अधिकार न रहकर रीति—रिवाजों और परम्पराओं का अंश मात्र बनकर रह जाते हैं।

**3. सर्वोच्चता (Paramountcy)**— अधिकार सर्वोच्च भी हैं, इस दृष्टिकोण से कि कोई भी व्यक्ति इन अधिकारों का उल्लंघन केवल अन्याय की कीमत पर ही कर सकता है। सर्वोच्च का अर्थ है कि मानवीय अधिकार 'कुछ ऐसे काम जो नहीं करने चाहिए, कुछ ऐसी स्वतंत्रताएँ जिन पर आँच नहीं आनी चाहिए, कुछ ऐसे मूल्य जोकि पवित्र हैं, का प्रतिनिधित्व करते हैं। डोरकिन के अनुसार, मानवीय अधिकार वे अधिकार हैं जिनका सार्वजनिक हित के नाम पर भी उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए और जिनका उपभोग राज्य के कानून के अभाव में भी किया जा सकता है।

**4. व्यवहारिकता (Practicality)** — व्यवहारिकता से अभिप्राय है कि मानव अधिकार कुछ ऐसी माँगें हैं जो असम्भव नहीं हैं और न ही इन्हें समाज के कुछ गिने—चुने लोगों तक ही सीमित रखना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान बनाया जा सकता है। पिछड़े हुए देशों का कोई साधारण व्यक्ति विकसित देशों के व्यक्ति की तरह जीवन नहीं बिता सकता। तथापि, जीवन निर्वाह की न्यूनतम सुविधाओं की सुरक्षा प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। व्यवहारिकता का अर्थ है कि राज्य व्यवस्था को इस प्रकार प्रबन्धित किया जाना चाहिए कि लोगों की न्यूनतम आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

**5. कार्यान्वयन (Enforceality)**— अंतिम विशेषता है कार्यान्वयन। यद्यपि इस विशेषता को लेकर कई तरह के विवाद हैं परन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि इन अधिकारों को कार्यान्वित किए बिना लोगों की कोई भी माँग पूरी नहीं हो सकती। व्यवहारिक स्तर पर मानव अधिकारों का पालन राज्य के कानूनी ढाँचे के अन्तर्गत ही हो सकता है जो अपने नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान करता है।

**मानव अधिकारों के प्रकार (Kinds of Human Rights)**— मानव अधिकार अविभाज्य (Indivisible) और अन्योन्याश्रित (Interdependent) होते हैं। फिर भी संयुक्त राष्ट्र प्रणाली के अन्तर्गत मानव अधिकार के क्षेत्र में किए गए विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अधिकारों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— **(i) नागरिक (civil) तथा राजनैतिक अधिकार और (ii) आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार।**

**I. सिविल तथा राजनैतिक अधिकार (Civil and Political Rights)**

**(a) नागरिक (सिविल) अधिकार (Civil Rights)** — सिविल अथवा नागरिक अधिकारों का संबंध व्यक्तियों के जान—माल से है। इन अधिकारों के अभाव में सभ्य जीवन का विकास सम्भव नहीं है। सिविल अधिकारों अथवा स्वतंत्रताओं से तात्पर्य उन अधिकारों से है जो प्राण तथा दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण से संबंधित होते हैं। ये सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक होते हैं जिससे कि वे अपना गरिमामय जीवन बिता सकें। यद्यपि समय और स्थान के अनुसार सिविल अधिकार बदलते रहते हैं तथापि सभी सभ्य समाजों में नागरिकों को कुछ न्यूनतम नागरिक अथवा सिविल अधिकार अवश्य प्रदान किए जाते हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित ढंग से किया जाता है—

**1. जीवन का अधिकार (Right to Life)** — जीवन का अधिकार एक मूलभूत अधिकार है, जिसके बिना न ही व्यक्ति तथा न ही समाज सुरक्षित रह सकता है। यदि राज्य मानव जीवन की रक्षा नहीं करेगा तो व्यक्ति को सदा अपने जीवन की रक्षा की चिन्ता ही लगी रहेगी। प्रो. लॉस्की (Prof. Laski) का कहना है कि "यदि मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राप्त नहीं होगा तो वह अपना सारा जीवन सुरक्षा के लिए व्यतीत कर देगा।" जीवन के अधिकार की रक्षा के लिए राज्य व्यक्ति को आत्मरक्षा (Self—Defence) का अधिकार भी देता है और आत्मरक्षा के लिए अपराध के लिए दण्ड नहीं दिया जाता।

**2. स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Liberty)** — व्यापकता का दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार जो उसे राज्य द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए, स्वतंत्रता का अधिकार है। इस अधिकार का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। स्वतंत्रता के प्रति व्यक्ति में प्रत्येक युग में आकर्षण रहा है। स्वतंत्रता को मानव जीवन का मूत गुण माना जाता है। इस संबंध में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि समाज अपने व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान नहीं कर सकता। व्यक्ति को केवल यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह अपने व्यक्तित्व का सवातंत्रतापूर्वक विकास कर सकेगा। स्वतंत्रता का प्रयोग उसके परिणामों को ध्यान में रखकर किया जाता है। स्वतंत्रता के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही पहलू हैं। निषेधात्मक दृष्टि से स्वतंत्रता आत्म—विकास एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की बाधाओं को दूर करने का प्रयास करती है। विधेयात्मक स्वतंत्रता व्यक्ति को आल—निर्णय का अवसर प्रदान करती है।

**3. सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)** — आधुनिक युग में सम्पत्ति का अधिकार बड़े वाद—विवाद विषय बन गया है। अरस्तु और लॉक इस अधिकार का विरोध करते हैं। कार्ल मार्क्स ने सम्पत्ति को लूट का माल कहा है जो अन्याय पर आधारित है और जिसके आधार पर देश में अन्यायपूर्ण प्रबन्ध स्थापित होता है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि निजी सम्पत्ति संस्थाओं ने राज्य की सभ्यता और संस्कृति की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, परन्तु राज्य सार्वजनिक हितों को सम्मुख रखकर सम्पत्ति का अधिकार सीमित भी कर सकता है। सम्पत्ति व्यक्ति के कार्यों की मूल प्रेरणा है। सम्पत्ति का स्वामित्व अनेक प्रकार से उपयोगी है। सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद व्यक्ति में सुरक्षा की भावना पैदा होती है। सम्पत्ति के द्वारा व्यक्ति के भावी कार्यक्रमों को सार्थक बनाया जाता है। सम्पत्ति के द्वारा स्वतंत्रता की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है।

**4. समानता का अधिकार (Right to Equality)** — समानता के अधिकार का अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति, श्रेणी या नस्ल के विरुद्ध कोई कानूनी भेदभाव नहीं किया जाएगा। लोकतान्त्रिक राज्य के लिए यह अधिकार एक आधारशिला है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को समानता का अधिकार देने का प्रयास करता है जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति, समुदाय वा जाति को दूसरों के विरुद्ध विशेष अधिकार प्रदान नहीं किए जाते। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है और जन्म, सम्पत्ति आदि आधारों पर व्यक्ति—व्यक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। असमानतापूर्ण व्यवहार व्यक्तिगत स्वतंत्रता को असम्भव बना देता है। यहाँ तक कि उसके लिए सम्पत्ति के अधिकार की भी उपयोगिता नहीं रह जाती। राज्य के सभी नागरिक, नागरिक के रूप में समान अधिकारों का प्रयोग करते हैं। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के विकास ने इस अधिकार को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बना दिया है। राज्य का कानून सभी को समान दृष्टि से देखता है। डायती द्वारा वर्णित 'कानून के शासन' का एक महत्त्वपूर्ण भाग असमानता से मुक्त व्यवहार है।

**5. धार्मिक अधिकार (Religious Rights)** — लोकतान्त्रिक राज्यों में व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता अर्थात् कोई भी धर्म धारण करने, उसका प्रचार करने, मन्दिर, गुरुद्वारे आदि स्थापित करने की स्वतंत्रता दी जाती है। व्यक्ति की नैतिक आवश्यकताएँ ही उसका सब कुछ नहीं होती। उसका आध्यात्मिक पक्ष भी होता है जिसमें भावना और विश्वास निहित होते हैं। यदि व्यक्ति को यह स्वतंत्रता प्रदान न की जाए तो वह एक प्रकार की घुटन का अनुभव करेगा। घुटन उत्तके व्यक्तित्व की अन्य

विशेषताओं को भी असन्तुलित कर देगी। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि व्यक्ति को अन्त:करण की स्वतंत्रता प्रदान की जाए। उसे यह स्वतंत्रता दी जाए कि वह अपनी इच्छानुसार धर्म को अपना सके और मनचाहे तरीके से धार्मिक अनुष्ठान जादि कर सके। राज्य को व्यक्ति के अन्त:करण से संबंधित क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। धर्म प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है। इसलिए उपयुक्त यह होगा कि राज्य अपने आपको धर्मनिरपेक्ष बना ले। धार्मिक अधिकार की कुछ सीमाएँ होती हैं। समाज कल्याण तथा मानवता विरोधी विश्वासों को राज्य तहन नहीं कर सकता। समाज में व्यभिचार फैलाने वाले अथवा दूसरे लोगों के अधिकारों का उल्लंघन करने बाले धार्मिक विश्वासों की अनुमति नहीं दी जा सकती।

**6. विचार रखने और प्रकट करने का अधिकार (Right to Freedom of Thought and Expression)—** बोलने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वाभाविक अधिकार है और इसके बिना पारस्परिक लेन—देन सम्भव नहीं हो सकता। मनुष्य को लिखकर या बोलकर अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता होती है। लोकतंत्र में इस अधिकार का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है क्योंकि बोलकर या लिखकर ही लोग अपने विचारों को सरकार तक पहुँचाने में सफल होते हैं। सुकरात (Socrates) ने विचार प्रकर करने के अधिकार के सामने मृत्यु को तुच्छ समझा। मिल्टन (Milton) ने कहा था, "मुझे जानने की, बोली की और तर्क करने की स्वतंत्रता दे दो और वह स्वतंत्रता सर्वोच्च होगी।"

**7. घरेलू मामलों में आजादी का अधिकार (Right to Freedom in Domestic Matters)**— प्रत्येक व्यक्ति को अपना निजी घरेलू जीवन अपनी इच्छानुसार चलाने का अधिकार होता है। खाने—पीने, रहने—सहने का ढंग, बच्चों का पालन—पोषण आदि में पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

**(b) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)** — राजनीतिक अधिकार राज्य द्वारा केवल अपने नागरिकों को ही प्रदान किए जाते हैं क्योंकि राज्य किसी भी अनागरिक अथवा विदेशियों को अपनी प्रभुसत्ता में भागीदार नहीं बनाना चाहता। राजनीतिक अधिकार ऐसे अधिकार हैं जिनके द्वारा व्यक्ति राज्य में शासन प्रबन्ध में भाग लेने योग्य बनता है। मुख्य राजनीतिक अधिकार इस प्रकार हैं—

**1. मताधिकार (Right to Vote)** — प्रजातन्त्र राज्यों में प्रत्येक नागरिक को जाति, धर्म, रंग, नस्ल, लिंग आदि के भेदभाव के विना मतदान का अधिकार दिया जाता है। इससे व्यक्ति को अपनी इच्छा प्रकट करने और अपनी पसन्द की सरकार चुनने का अवसर मिलता है।

**2. चुने जाने का अधिकार (Right to be Elected)** — लोकतन्त्र में नागरिकों को सभी चुने जाने वाले पदों के लिए चुने जाने का अधिकार भी दिया जाता है। प्रत्येक नागरिक किसी भेदभाव के बिना राज्य की विधान सभाओं, संसद, नगरपालिका, पंचायतों आदि के लिए चुनाव लड़ सकता है।

**3. सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार** (Right to hold Public Offices)— नागरिकों को सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त होता है परन्तु प्रत्येक पद को प्राप्त करने के लिए योग्यताएँ निर्धारित होती हैं जिनको पूरा करने पर ही पद प्राप्त किया जा सकता है।

**4. राजनीतिक दल बनाने का अधिकार (R**ight to form Political Parties)— लोकतन्त्र में नागरिकों को भिन्न राजनीतिक दल बनाने का अधिकार प्राप्त है। राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं, सरकार बनाते हैं, सरकार की आलोचना करते हैं आदि।

**5. प्रार्थना—पत्र देने का अधिकार** (Right to Petition) — प्रत्येक नागरिक को अपनी शिकायतों की सूची बनाकर संबंधित अधिकारियों को देने का अधिकार होता है।

सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों की प्रकृतिं अलग—अलग हो सकती है किन्तु वे एक—दूसरे से संबंधित होते हैं और इसीलिए उनमें भेद करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इसीलिए इन दोनों अधिकारों अर्थात् सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों को एक ही प्रसंविदा में अन्तर्विष्ट करते हुए एक प्रसंविदा का गठन किया गया था जिसे सिविल और राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (International Covenant on Civil and Political Rights) कहा जाता है।

**II. आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार (Economic, Social and Cultural Rights)**—आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का संबंध मानव के लिए न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध करवाने से है। इन अधिकारों के अभाव में मान का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। लॉस्की के अनुसार, न्यायपूर्ण समाज में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों तरह के अधिकार प्रदान किए जाते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिए 'रोजगार का अधिकार (Right to Work) सर्वथा आवश्यक है। औद्योगिक उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत काम की उपयुक्त शर्तें और मजदूरी की उपयुक्त दरें स्थिर कर दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त नागरिकों को शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें। पर्याप्त भोजन, वस्त्र, आवास और जीवन के समुचित स्तर तथा भूख से स्वतंत्रता, सामजिक सुरक्षा का अधिकार, शारीरिक एवं मानसिक एवं सांस्कृतिक अधिकार भी शामिल हैं और इनका आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights) में उल्लेख किया गया है। व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज में रहकर वह अपनी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कर सकता है।

## संयुक्त राष्ट्र तथा मानव अधिकार (U.N. and Human Rights)

**प्रश्न 2. मानव अधिकारों की उत्पत्ति तथा विकास के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान के आकर्षण (चिन्ता) का इतिहास लिखें। मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।**

**अथवा**

**मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (Critically examine the Universal Declaration of Human Rights.)**

**अथवा**

**"इतिहास में प्रथम बार संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा समस्त मानव जाति के लिए मानव अधिकारों पर बत दिया गया।" (गोरडेन्कर) इस कथन की दृष्टि में मानव अधिकारों के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।.**

**अथवा**

**सदस्य राज्यों द्वारा मानव अधिकारों को सम्मान प्रदान करवाने में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।**

**(Critically discuss the role of United Nation in enforcing the respect for Human Rights by the member—states.)**

**अथवा**

**मानव अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा में वर्णित अधिकारों का विस्तार से विवेचन कीजिए। संयुक्त राष्ट्र ने इन अधिकारों को लागू करने में क्या भूमिका निभाई है? (Describe the Rights mentioned in the Universal Declaration of Human Rights. What role has been played by the United Nation to implement these rights?)**

**अथवा**

**मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए। (Describe your ideas on Universal Declaration of Human Rights.)**

**अथवा**

**मानव अधिकारों तथा बुनियादी स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो उपाय किये हैं उनका वर्णन करें।**

(Discuss the efforts made by UNO for the prediction of Human Rights and fundamental freedom.)

**उत्तर— संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तथा मानव अधिकार (UN Charter and Human Rights)—**

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर मानव अधिकारों को लागू करने का संकल्प होता है। चार्टर की प्रस्तावना तथा अनेक अनुच्छेदों में इस आशय से विशेष प्रावधान किए गए हैं। 'प्रस्तावना' मानव के अधिकारों, उसकी मानव के रूप में प्रतिष्ठा, मनुष्य के अधिकारों के प्रति बिना किसी भेदभाव, लिंग व देश व भेदभाव की समानता आदि में अपना विश्वास प्रकट करती है। इसमें लिखा है, "To affirm faith in the fundamental human rights in the dignity and worth of human person, in the equal rights of men and women, of nations large and smalll....."

**चार्टर का अनुच्छेद—1** संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए एक प्रमुख लक्ष्य के रूप में मानव अधिकारों को बढ़ावा देने को स्वीकार करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का एक उद्देश्य यह है कि "बिना किसी भेदभाव के सबके लिए मानव अधिकारों व मूल स्वतंत्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहित किया जाए।"

**संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर मानव अधिकारों को लागू करने का उत्तरदायित्व अपने दो अंगों—साधारण सभा (General Assembly) और सुरक्षा परिषद् (Security Council) को सीधे तौर पर सौंपता है।**

**अनुच्छेद 13** साधारणतः सभी को निर्देश देता है कि ऐसे अध्ययनों और सुझावों के लिए पहल करें जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहायता जुटाकर मानव अधिकारों को सार्थक बनाया जा सके।

मानव अधिकारों को लागू करने का दायित्व आर्थिक व सामाजिक परिषद् को भी सौंपा गया है। यह परिषद् समय—समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से ऐसे प्रस्ताव तैयार करेगी जिनसे इन अधिकारों को प्रोत्साहन दिया जा सके। अनुच्छेद 62 (2) सदस्य राष्ट्रों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए अनुच्छेद 55 में मानव अधिकारों की ओर सभी सदस्य राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित किया गया है। सभी राष्ट्रों से "इन अधिकारों का सम्मान करने तथा इन्हें अपने—अपने राज्यों में लागू करने का आग्रह किया गया है।"

**मानव अधिकारों की सर्वव्यापक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)**— संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को मानव अधिकारों की योषणा को स्वीकार कर लिया गया। 58 सदस्य राष्ट्रों में से इस घोषणा का किसी ने भी विरोध नहीं किया। आठ सदस्य अनुपस्थित अवश्य रहे। ये थे—यूगोस्लाविया, दक्षिणी अफ्रीका, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, रूस, यूक्रेन, वाइलोरशा तथा सऊदी अरव। श्रीमती एलेनोर रूजवेल्ट (Mrs. Eleanor Roosevelt) ने जो कि मानव अधिकार आयोग की सभापति थीं, इस घोषणा पर अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हुए कहा, "यह महान् घोषणा कोई कानूनी दस्तावेज नहीं और न ही कानूनी दायित्व का दावा करती है। यह तो संसार के समस्त राष्ट्रों के लोगों के अधिकारों का आदर्श मापदण्ड प्रस्तुत करती है।"

**अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—**

1. अधिकारों की सर्वव्यापक घोषणा कानूनी दस्तावेज नहीं है। इसे अधिकारों के संबंध में विश्व के अनेक भागों में अलग—अलग समयों में की जा रही "विभिन्न घोषणाओं की प्रक्रिया का अन्तिम चरण कहा जा सकता है।" (निरंजन भुनिया)।

2. यह घोषणा एक विस्तृत प्रलेख है जिसमें सभी प्रकार के अधिकारों का वर्णन है। ये अधिकार नागरिक, सामाजिक, आर्थिक होने के साथ—साथ राजनीतिक व कानूनी भी हैं। घोषणा प्राकृतिक अधिकारों को भी इस सूची में स्थान प्रदान करती है।

3. अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा समस्त मानव जाति की घरोहर है। यह घोषणा ऐसा आग्रह करती है कि इन अधिकारों को उपलब्ध कराने में सदस्य राष्ट्र किसी प्रकार का भेदभाव न करें। जाति, धर्म, भाषा, लिंग आदि के भेदभाव के बिना ये अधिकार सबको दिलाने का अश्वासन दिलाया गया है।— (अनुच्छेद 29)

4. घोषणा अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी वर्णन करती है। "हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसे समाज के निर्माण के लिए कार्य करे जिसमें सबका विकास हो सके। —अनुच्छेद 29(1)

5. घोषणा अधिकारों पर उचित सीमाओं को स्वीकार करती है। अधिकार सीमित हैं। उन पर नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था, सामान्य कल्याण के बन्चन लगे रहते हैं। अनुच्छेद 29 (2) (In the exercise of his rights and freedoms, everyone shall be subject to such limitations as are determined by law. Article 29(2) of Universal Declaration of Rights.) घोषणा में वर्णित अधिकार (Rights mentioned in the Declaration)— अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में वर्णित अधिकारों को मुख्यतः पाँच भागों में बॉट कर उसका अध्ययन किया जा सकता है।

**A. नागरिक व सामाजिक अधिकार (Civil and Social Rights)—** इस श्रेणी में शामिल मुख्य अधिकार निम्नलिखित हैं—

1. हर व्यक्ति को स्वतंत्रता, जीवन और सुरक्षा के अधिकार हैं। (धारा 3)

2. दासता के विरुद्ध अधिकार, दास व्यापार निषिद्ध कर दिया गया है। (धारा 4)

3. किसी भी व्यक्ति के साथ निर्दयता का व्यवहार नहीं होगा। (धारा 5)

4. शिक्षा का अधिकार । (धारा 26)

5. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार। (धारा 22)

6. संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार। लेखकों तथा वैज्ञानिकों को अपनी कृति के हित सुरक्षित रखने का अधिकार। (धारा 18)

7. परिवार बनाने, विवाह करने, इन संबंधों को बनाए रखने का अधिकार। (धारा 27)

8. घूमने—फिरने और बसने का अधिकार। (धारा 13)

9. किसी देश में शरण लेने का अधिकार। (धारा 14)

10. राष्ट्रीयता प्राप्त करने, अपनी राष्ट्रीयता बनाए रखने का अधिकार। (धारा 15)

**B. कानूनी समानता (Legal Equality)**— कानून का शासन स्थापित करने के लिए यह व्यवस्था की गई है कि—

1. सभी कानून के समक्ष समान हैं तथा सभी को कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त है। (धारा 19)

2. देश की सरकार में भाग लेने का अधिकार, सरकारी पद प्राप्त करने की स्वतंत्रता, प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार। (धारा 21)

3. जनता की इच्छा ही सरकार बनने का आधार होगी जो कि व्यस्क मताधिकार द्वारा व्यक्त होगी। मत की गोपनीयता बनाए रखना तथा स्वतंत्र चुनाव प्रक्रिया का अधिकार। (धारा 21)

4. शान्तिपूर्ण ढंग से इकट्ठा होने, संघ बनाने का अधिकार। (धारा 20)

**C. आर्थिक अधिकार (Economic Rights):**

1. सभी को सम्पत्ति रखने का अधिकार है। किसी को भी उसकी सम्पत्ति से मनमाने ढंग से वंचित नहीं किया जा सकता। (धारा 17)

2. सभी को काम का अधिकार है। बेरोज़गारी के विरुद्ध सुरक्षा, पसन्द का रोज़गार पाने तथा काम की अच्छी परिस्थितियों का अधिकार है। (धारा 23)

3. आराम व श्रम का अधिकार जिसमें काम के निश्चित घण्टे तथा समय—समय पर वेतन सहित छुट्टियाँ पाने का अधिकार है। (धारा 24)

4. संतोषजनक जीवन—स्तर बनाए रखने का अधिकार, जिसमें अपनी व अपने परिवार का स्वास्थ्य और दूसरी भलाई निहित है। (धारा 25)

**D. प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights):**

1. सभी मानव स्वतंत्र पैदा हुए हैं और समान रूप से विवेकशील तथा जागरूक हैं। प्रतिष्ठा तथा अधिकारों में समान हैं। अतः सबको एक—दूसरे के साथ भाईचारे के साथ रहना चाहिए। (धारा 1)

2. सभी बिना किसी भेदभाव (जाति, धर्म, भाषा, रंग, लिंग, राजनीतिक विचार) के समान अधिकारों व स्वतंत्रताओं के अधिकारी हैं। (धारा 2)

वर्णित अधिकारों व स्वतंत्रताओं के वर्णन के पश्चात् यह घोषणा एक विशेष अधिकार का वर्णन अनुच्छेद 28 में करती है। वह अधिकार है "ऐसी सामाजिक व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्या का अधिकार जिसमें इन समो अधिकारों को कार्यान्वित किया जा सके।" (Everyone is entitled to a scoial and international order in which the rights and freedoms set forth in the Declaration can be fully realized. —Article 28 of the Universal Declaration of Human Rights) इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु शिक्षा का अधिकार (धारा 26) पर विशेष बल दिया गया है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा जिससे उसकी आस्या तथा विश्वास इन मौलिक स्वतंत्रताओं में बढ़ेगा, जिससे विश्व के सभी राष्ट्रों के नागरिक एक ऐसी अन्तरर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता करेंगे जो शान्तिमय होगी तथा जो विश्व में मैत्री के बन्धनों को मज़बूत करेगी।

**घोषणा का महत्त्व (Importance of Declaration)**

मानव अधिकारों की यह सर्वव्यापी घोषणा संसार के सभी लोगों के लिए, बिना किसी भेदभाव के, अलग—अलग विचारधाराओं से ऊपर उठकर, मानवीय अधिकारों की सर्वमान्य सूची प्रस्तुत करती है। इन अधिकारों व स्वतंत्रताओं का इतना विशाल क्षेत्र है कि लगभग सभी प्रकार के अधिकारों को इसमें सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार पहली बार मूल मानव अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं की विस्तृत रूप से व्याख्या की गई है। प्रो. रोम्यूलो ने इसे एक व्यापक लेख कहा है जिसमें विश्व के सभी लोगों के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण से मूल अधिकारों की व्याख्या की गई है।

कुछ अन्य विद्वानों ने भी मानव अधिकारों की इस घोषणा पर अपनी टिप्पणी की है। विद्वानों ने इस घोषणा को मानव इतिहास की एक महान् घटना माना है। मानव अधिकार आयोग (UNO) की अध्यक्ष श्रीमती एलेनोर रूजवेल्ट ने इस घोषणा को मानवता का मेग्ना कार्टा (Magna Carta of Mankind) की संज्ञा प्रदान की है तथा इसे 'संसार के लोगों की सफलता का सांझा मापदण्ड' (Common standard of achievement of all the people of all Nations) कहा है।

इस घोषणा का महत्त्व सही—सही आँकने के लिए यह जानना अति आवश्यक है कि यह घोषणा किस पृष्ठभूमि में की गई है। दो महायुद्धों के बीच के काल में मानवता पर कठोर प्रहार हुए। लाखों लोगों को उनके धर्म, विचार, रंग तथा भाषा के कारण यातनाओं का शिकार बनाया गया जिसने मानव की आत्मा को झकझोर दिया।

निःसंदेह इस घोषणा से पूर्व मानव अधिकारों का प्रश्न राज्य का आंतरिक मामला माना जाता था। इस घोषणा के माध्यम से मानव अधिकारों के प्रश्न को सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय आधार प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि वर्ल्ड काउन्सिल ऑफ चर्चेज (World Council of Churches) ने 1968 में घोषणा की कि "विश्व के राष्ट्रों को इस बात की मान्यता देनी चाहिए कि

मानव अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुरक्षा अब एक सर्वव्यापक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की चिन्ता का विषय बन गया है।"

**मानव अधिकारों की घोषणा की आलोचना (Criticisim of the Declaration)**— अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा की कुछ आलोचना भी हुई है—

**1. व्यर्थ उच्च आकांक्षाएँ (Useless High Hopes)** — आलोचकों का मानना है कि घोषणा केवल उच्च आकांक्षाओं से अधिक कुछ नहीं है। यथार्थ में, यदि किसी व्यक्ति को अधिकार प्राप्त नहीं हैं तो उस व्यक्ति की यह घोषणा कोई सहायता नहीं कर सकती। यह व्यक्ति में निराशा के भाव को तो पैदा कर सकती है, पर उसे अधिकार नहीं दिलवा सकती।

**2. ये अधिकार न्यायसंगत नहीं (Not Justiciable)** — आज भी अधिकार राज्य व सरकार की इच्छा पर निर्भर करते हैं। प्रो. केल्सन के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार—पत्र व्यर्थ है, क्योंकि यह ऐसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायपालिका की स्थापना नहीं करता जिसमें जाकर व्यक्ति अपने छिने अधिकारों को फिर से प्राप्त कर सके तथा इस संस्था के निर्णय उन राज्यों पर बाध्य हॉ जिन्होंने इन अधिकारों की अवहेलना की है। अतः ये अधिकार न्याय—संगत नहीं हैं।"

**3. अधिकारों की सूची अधूरी** (List of Rights Incomplete) — जार्ज शवरजनवर्जर ने सर्वव्यापी अधिकारों की घोषणा पर कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकारों को इसमें स्थान न देने का आरोप लगाया है। इस सूची में बेगार के विरुद्ध अधिकार को सम्मिलित नहीं किया गया। अतः सूची अधूरी है।

**4. आर्थिक अधिकारों की गणना व्यर्थ** (Economic Rights Useless)— इस घोषणा में आर्थिक अधिकार, जैस काम का अधिकार, विश्राम व अवकाश के अधिकार रखे गए हैं। आलोचकों की मान्यता है कि इन अधिकारों को सूची में शामिल करना ही काफी नहीं है, जब तक विकासशील व पिछड़े हुए देशों में पर्याप्त आर्थिक साधनों की व्यवस्था न की जाए। इन देशों में साधनों की विशेष कमी है। भारत में भी इन अधिकारों को दिलवा पाना राष्ट्रीय सरकार की पहुँच से बाहर है।

**5. अल्पसंख्यकों के अधिकारों की अवहेलना** (Ignores the Rights of Minorities)— 5 हर देश में अलग—अलग तरह के अल्पसंख्यक बसे हुए हैं, जिनके संरक्षण और सुरक्षा की एक विशेष समस्या है। यह तभी सम्भव है जब हर राष्ट्र इन अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित करे। यह घोषणा अल्पसंख्यकों के लिए अधिकारों का वर्णन नहीं करती है।

**6. विश्व में एकता का अभाव (Lack of Unity in the World)**— सर्वमान्य अधिकाते को लागू करने के लिए "एक ऐसा समाज होना आवश्यक है जिसमें समान सामाजिक मूल्य और जीवन के समान स्तर हों।" (फ्रीडमेन) इस संदर्भ में आज विश्व में एकता का अभाव है। राष्ट्रों में विचारधाराओं की विभिन्नता इन अधिकारों के मार्ग में एक विशेष बाधा है।

**7. अधिकार केवल राज्य द्वारा संरक्षित (Only State can Safeguard Rights)**— केवल राज्य ही नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने का सामर्थ्य रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसे दायित्व को निभाने में असमर्थ है। स्वलींन के शब्दों में, "यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को एक ऐसा कार्य करने के लिए कह रही है जिन्हें करने में केवल राज्य ही समर्थ है।"प्रो. केल्सन ने इसी प्रकार इस घोषणा को दोषपूर्ण माना है। यह घोषणा राज्य व सरकारों को सम्बोधित की जानी चाहिए थी जो इन अधिकारों को लागू करने का सामर्थ्य रखते हैं।

**8. सभी के लिए उपलब्धियों का समान स्तर** (Common standard of achievements for all)— मानव अधिकारों की घोषणा की प्रस्तावना के अनुसार यह घोषणा सभी व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के लिए प्राप्ति का एक सामान्य स्तर है। परन्तु व्यवहार में सभी व्यक्तियों तथा सभी राष्ट्रों के लिए अधिकारों का एक सामान्य स्तर उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक देश की आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ भिन्न—भिन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में अधिकारों के सामान्य स्तर की घोषणा उचित नहीं है।

**9. विश्व एकता में कमी (Lack of unity among States)** — फ्रीडमैन (Friedman) के अनुसार, "सर्वमान्य अधिकारों को लागू करने के लिए एक ऐसा समाज होना आवश्यक है जिसमें समान समाज, सामाजिक मूल्य और जीवन के समान स्तर हों।" (A will of Human Rights involves the pre—existence of community held together by common

values and way of living.) परन्तु विश्व में आज इस प्रकार की भिन्नता इन अधिकारों के मार्ग में एक बड़ी बाधा है।

**मानव अधिकारों को लागू करने के प्रयास** (Efforts made for the implementation of Human Rights) — संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकारों को लागू करने संबंधी कुछ कार्यों का वर्णन इस प्रकार है—

1. 1948 में सामूहिक नर—संहार सम्मेलन (Genocide Convention) बुलाया गया जिसमें इस प्रकार की कार्यवाही को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित किया गया।

2. जुलाई, 1954 में महिलाओं की दशा में सुधार करने, उन्हें सार्वजनिक पद ग्रहण करने का सुझाव दिया गया। एक आयोग के गठन के विचार का समर्थन किया गया जो महिलाओं की समस्याओं का अध्ययन करे। 1957 में एक अन्य सम्मेलन में विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता पर सुझाव दिए गए। 1964 में विवाह की न्यूनतम आयु, विवाह के पंजीकरण तथा विवाह के समय वर व वधू दोनों की सहमति आदि के विषय में सम्मेलन हुआ।

3. 1965 में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में हर प्रकार के जातीय भेदभाव (Recial Discrimination) का अन्त करने का संकल्प लिया गया। दक्षिण अफ्रीका में चल रही रंगभेद की नीति की कटु भर्त्सना प्रायः सभी अधिवेशनों व सम्मेलनों में होती रही है, पर 1973 में रंगभेद अपराध के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड संहिता तैयार करने के लिए एक विशेष सम्मेलन बुलाया गया। 1977 में दक्षिण अफ्रीका पर आर्थिक प्रतिबंध लगाने के लिए महासभा द्वारा प्रस्ताव पास किया गया।

4. आर्थिक व सामाजिक परिषद् ने 1954 में सदस्य राष्ट्रों से बेगार प्रथा का अन्त करने के लिए आग्रह किया तथा 1956 में एक अन्य सम्मेलन बुलाकर दास—प्रया को समाप्त करने के निर्देश दिए।

5. मानव अधिकार आयोग द्वारा भी समय—समय पर अपनी वार्षिक रिपोर्ट में विश्व जनमत का ध्यान प्रायः इन अधिकारों की विभिन्न भागों में हो रही अवहेलना की ओर दिलाया जाता है।

आयोग ने राष्ट्रों को अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा हेतु प्रयास करने की सलाह दी है।

6. संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा में सबको समान रूप से अधिकार दिलाने का प्रण लिया था। बच्चे भी इन अधिकारों के पात्र हैं। उनका शोषण न हो तथा उनकी दुर्बलता से कोई अनुचित लाभ न ले यह निश्चित करने व उनकी दशा सुधारने के लिए साधारण सभा ने 20 नवम्बर, 1959 को बच्चों के अधिकारों की घोषणा को सर्व—सम्मति से पारित किया। इस सम्मेलन में 78 राष्ट्रों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। घोषणा के अनुसार, "मानव अधिकार सबको बिना भेदभाव के दिलाने की भी सर्वव्यापी घोषणा की गई थी। उसी के अनुरूप वे बच्चे जो शारीरिक रूप से अपरिपक्व हैं, विशेष संरक्षण व देखभाल के पात्र हैं।"

7. सर्वव्यापी मानव अधिकारों की घोषणा को अन्तर्राष्ट्रीय संधि का रूप देने के लिए इसे दो संधियों— राजनैतिक व कानूनी अधिकार संधि (Covenant on Civil and Political Rights) तथा आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार संधि (Covenant on Economic, Social and Cultural Rights) के रूप में 1966 में साधारण सभा द्वारा पारित किया गया। 10 वर्ष पश्चात् 1976 में इन संधियों को लागू कर दिया गया। जो भी राष्ट्र इन संधियों पर हस्ताक्षर करेगा उस पर ये अधिकार लागू करना उसी प्रकार बाध्य होगा, जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में संधियों व समझौते लागू करना है।

8. मानव अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा (1948) के बीस वर्ष पश्चात् 1968 में साधारण सभा ने 1968—69 के वर्ष को 'मानव अधिकार वर्ष' के रूप में मनाने का निर्णय किया। इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटना अप्रैल—मई में तेहरान में मानव अधिकारों पर एक अन्तरर्राष्ट्रीय सम्मेलन की महत्वपूर्ण था। इन मानव अधिकारों में पुनः विश्वास कुत करने के लिए काला की सत्ताया, "सरकारों से मानव अधिकारों संबंधी प्रयासों को दुगुना करने के लिए कहा गया ताकि मानव को स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा का जीवन मिले जो उसके शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक विकास के लिए उपयोगी हो।"

9. महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभाव समाप्त करने संबंधी कनर्वेशन (1979) पर 166 देशों के हस्ताक्षर हैं और इसमें

कानून की नजर से महिलाओं को समानता दिए जाने की गारंटी है तथा राजनीतिक एवं सार्वजनिक जीवन, राष्ट्रीयता, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य, विवाह और परिवार बसाने के मामलों में महिलाओं के प्रति भेदभाव दूर करने के विशेष उपाय सुझाए गए हैं। इस कनवेंशन के तहत महिलाओं के प्रति भेदभाव समाप्त करने संबंधी समिति का गठन किया गया है जो इस कनवेंशन को लागू कराने की निगरानी करती है और सदस्य देशों की रिपोटों पर विचार करती है। इस कनवेंशन के उल्लंघन की शिकायतें लोग व्यक्तिगत रूप से भेज सकते हैं।

10. उत्पीड़न और अन्य अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार या दण्ड रोकने संबंधी कनवेंशन (1984) पर 123 देशों ने हस्ताक्षर किए हैं। इसमें उत्पीड़न को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध माना गया है, इसकी रोकथाम का उत्तरदायित्व सदस्य देशों का बताया गया है और उनसे अपेक्षा की गई है कि ये दोषियों को दण्डित करेंगे। अत्याचार या उत्पीड़न को उचित ठहराने की किन्हीं भी असाधारण परिस्थितियों को स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही अत्याचारी यह कहकर बच सकता है कि उसने आदेश मानने के लिए उत्पीड़न किया। इस कनवेंशन के तहत गठित निगरानी संस्था अत्याचार (उत्पीड़न) निवारण समिति सदस्य देशों की रिपोटों पर विचार करती है और उन देशों के खिलाफ कार्यवाही शुरु कर सकती है जहाँ, उसके विचार में, अत्याचारों का सिलसिला जारी है।

11. बाल अधिकारों के बारे में कनवेंशन (1989) में बच्चों की कमजोर स्थिति को स्वीकार किया गया है और बच्चों को सभी प्रकार के मानवाधिकार दिए जाने के बारे में व्यापार आचार संहिता निर्धारित की गई है। इस कनवेंशन में बच्चों को भेदभाव से बचाने की पक्की गारण टी देते हुए स्वीकार किया गया है कि जो भी कार्य किया जाए उसमें बच्चों के हित सुरक्षित रहने चाहिए। शरणार्थी, विकलांग या अल्पसंख्यक समुदायों के बच्चों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने को कहा गया है। सदस्य देशों को बच्चों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने को कहा गया है। सदस्य देशों को बच्चों के अस्तित्व, विकास, संरक्षण और सहयोग की पक्की व्यवस्था करनी चाहिए। इस कनवेंशन पर सबसे ज्यादा 191 देशों ने हस्ताक्षर किए हैं। बाल अधिकार समिति इस संधि के क्रियान्वयन पर निगरानी रखने के लिए गठित की गई है और यह समिति सदस्य देशों की रिपोटों पर भी विचार करती है।

12. सभी विस्यापित श्रमिकों और उनके परिवार्जन के अधिकारों की रक्षा के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कनर्वेशन (1990) में विस्थापित श्रमिकों के मूल अधिकारों और विस्थापन की समूची प्रक्रिया के दौरान उनके हितों की रक्षा करने के उपायों को परिभाषित किया गया है, चाहे वे कानूनी विस्थापित हों या गैर—कानूनी । दुर्भाग्य से यह संधि अभी लागू नहीं हुई है, क्योंकि सिर्फ 15 देशों ने ही अभी तक इस पर हस्ताक्षर किए हैं। इसके लागू होने पर निगरानी समिति गठित की जाएगी। सार्वभौमिक घोषणा और संयुक्त राष्ट्र के अन्य दस्तावेजों से प्रेरित होकर अनेक क्षेत्रीय समझौते भी हुए हैं, जैसे—मानवाधिकार के बारे में यूरोपियन कनवेंशन, मानवाधिकारों के बारे में अमेरीकी कनवेंशन और मानव तथा लोक अधिकारों का अफ्रीकी चार्टर।

### 3. भारत में मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए उठाए गए कदमों का वर्णन कीजिए। (Describe the various steps taken in India for the protection of Human Rights.)

**अथवा**

### भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के गठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। (Describe the organisation and working of National Human Rights Commission in India.)

**उत्तर**— भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की तृतीय समिति के समक्ष मानव अधिकारों की अभिवृद्धि एवं संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय संस्था को स्थापित करने अथवा मजबूत करने के संबंध में अपनी उत्सुकतापूर्ण रुचि प्रदर्शित की थी। इसने एक प्रारूप संकल्प प्रस्तुत किया था, जिसमें इस प्रकार की राष्ट्रीय संस्थाओं की स्वतंत्रता तथा निष्ठा के महत्त्व पर जोर दिया गया था।

प्रारूप संकल्प में भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव से विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्य करने के संबंध में तथा मानव अधिकार के दस्तावेजों को क्रियान्वित करने के प्रति उनके योगदान के संबंध में दो वर्ष में महासभा को एक रिपोर्ट

प्रस्तुत करने हेतु निवेदन भी किया था। मानव अधिकारों के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के लिए राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के संबंध में भारत द्वारा दिखाई गई रुचि प्रशंसनीय थी। अन्तर्राष्ट्रीय फोरम में दिखाई गई इस रुचि से यह जाहिर होता है कि भारत इस प्रकार की संस्था की स्थापना के पक्ष में था। फिर भी उस समय इस प्रकार की किसी भी संस्था की स्थापना नहीं की गई थी। मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1994 (Protection of Human Rights Act, 1994)— भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (NHRC) की स्थापना 27 सितम्बर, 1993 को की गई। इसकी स्थापना के लिए भारत के राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश प्रस्थापित किया। राज्य स्तर पर समान आयोगों की स्थापना के लिए भी इसी अध्यादेश में प्रावधान किया गया था। राष्ट्रपति के अध्यादेश को प्रतिस्थापित करने के लिए लोकसभा ने 18 दिसम्बर, 1993 को 'मानव अधिकार संरक्षण विधेयक' (Protection of Human Rights Bill) पारित किया गया। राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होने के पश्चात् 8 जनवरी, 1994 को यह एक अधिनियम बन गया जिसे 'मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम' (Protection of Human Rights Act, 1994) के नाम से जाना जाता है।

इस अधिनियम का उद्देश्य राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, राज्यों में मानव अधिकार आयोगों तथा मानव अधिकार न्यायालयों के गठन के लिए प्रावधान करना था जो मानव अधिकारों तथा उनसे सम्बद्ध अथवा आनुशंगिक मामलों के बेहतर संरक्षण के लिए था।

इस अधिनियम की धारा 2 (घ) में मानव अधिकार शब्द की परिभाषा यह कहते हुए दी गई है कि मानव अधिकारों का तात्पर्य संविधान द्वारा प्रत्याभूत अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में संत्रिहित व्यक्तियों की प्राण, स्वतंत्रता, समानता एवं गरिमा से संबंधित ऐसे अधिकारों से है जिनकी भारत के न्यायालयों द्वारा स्थापना की गई है।

**राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (National Human Rights Commission—NHRC)**

**आयोग का गठन (Formation of the Commission)**— राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का गठन इस प्रकार किया है—राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की स्थापना अधिनियम दो के अनुसार की गई है। इस अधिनियम की धारा 3 में यह अधिकधित है कि केन्द्र सरकार एक ऐसे निकाय का गठन करेगी जिसे राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के नाम से जाना जाएगा।

० आयोग के आठ सदस्य होंगे और भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश इसके अध्यक्ष होंगे।

० आयोग के अन्य सदस्य उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय के सेवारत न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के सेवारत या सेवामुक्त मुख्य न्यायाधीश होंगे। मानव अधिकार के क्षेत्र में ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले दो प्रसिद्ध व्यक्ति, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति आयोग और राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष होंगे।

० आयोग के अध्यक्ष द्वारा सदस्यों की नियुक्ति देश के राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाली 6 सदस्यीय समिति की अनुशंसा पर की जाएगी।

० अध्यक्ष तथा सदस्य अपने पद ग्रहण की तिथि से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेंगे। वे दूसरी पदावधि के लिए भी पात्र होंगे। कोई भी व्यक्ति 70 वर्ष की आयु तक आयोग की सेवा कर सकता है। आयोग का एक महासचिव होगा जो अपने कार्यों का संपादन उसके लिए दी गई शक्तियों को ध्यान में रख कर करेगा।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष अथवा किसी सदस्य को उसके पद से उच्चतम न्यायालय के द्वारा की गई जाँच के बाद तत्सम्बन्धी रिपोर्ट देने पर कि अध्यक्ष अथवा आयोग के किसी अन्य सदस्य को कदाचार (Misbehaviour) अथवा अक्षमता के आधार पर हटा दिया जाना चाहिए, राष्ट्रपति के आदेश द्वारा हटाया जाएगा। राष्ट्रपति अध्यक्ष अथवा किसी सदस्य को उसके पद से हटा सकता है, यदि वह

(i) दिवालिया न्याय निर्णीत कर दिया गया हो।

अथवा

(ii) यह पदावधि के दौरान अपने पद के कर्त्तव्यों के अतिरिक्त किसी वैतनिक नियोजन में संलग्न रहा हो।

अथवा

(ii) यह मानसिक या शारीरिक अक्षमता के आधार पर अपने पद पर बने रहने के योग्य न रह गया हो।

अथवा

(iv) किसी सक्षम न्यायालय द्वारा उसे विकृत चित्त (Unsound Mind) घोषित कर दिया गया हो।

अथवा

(v) ऐसे अपराध के लिए दोष सिद्ध या दण्डित किया गया हो जो राष्ट्रपति की राय में नैतिक अधर्मता के अन्तर्गत हो।

० उपरोक्त के अलावा केन्द्र सरकार इस आयोग को भारत सरकार के सचिव की श्रेणी का एक अधिकारी उपलब्ध करवाएगी जो इस आयोग का महासचिव होगा। इसके अतिरिक्त आयोग के कृत्यों के दक्षतापूर्ण निर्वहन के लिए ऐसे पुलिस और अन्वेषणकर्ता को सरकार उपलब्ध कराएगी जिसे वह आवश्यक समझेगी।

आयोग का मुख्यालय दिल्ली में होगा तथा आयोग केन्द्र सरकार से अनमुति लेकर भारत के अन्य स्थानों पर भी अपने कार्यालय स्थापित कर सकेगा।

**आयोग की कार्यप्रणाली** (Functioning of the Commission)— अधिनियम की धारा चार के अनुसार आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ऐसी समिति की सिफारिश पर करने की व्यवस्था है, जिसका इस अधिनियम में प्रावधान है। भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र मानव अधिकार आयोग के प्रथम अध्यक्ष थे, जिन्होंने 12 अक्टूबर, 1993 को आयोग में अपना पद ग्रहण किया था।

**आयोग की शक्तियाँ एवं कार्य (Powers and Functions of the Commission)**— आयोग के कार्य अधिनियम की धारा 12 के अधीन निर्धारित किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. आयोग स्व—प्रेरणा (Suo moto) से अथवा पीड़ित व्यक्ति द्वारा अथवा उसकी ओर से किसी व्यक्ति द्वारा अपने समक्ष प्रस्तुत की गई याचिका पर (क) मानव अधिकार के उल्लंघन या उसके उपशमन, अथवा (ख) किसी लोक सेवक द्वारा ऐसे उल्लंघन के निवारण में की गई उपेक्षा के परिवाद की जाँच करेगा।

2. आयोग न्यायालय के सामने लम्बित किसी ऐसी कार्यवाही पर न्यायालय के अनुमोदन से हस्तक्षेप कर सकता है जिसमें मानव अधिकारों के उल्लंघन का कोई अभिकथन शामिल हो।

3. आयोग राज्य सरकार को सूचना देकर राज्य सरकार के नियंत्रण में रहने वाले किसी कारागार अथवा अन्य किसी संस्था का, जहाँ व्यक्तियों को उपचार, सुधार या संरक्षण के लिए रखा जाता हो, अन्तःवासियों की जीवन दशा का अध्ययन करने के लिए तथा उन पर सिफारिश करने के लिए निरीक्षण करेगा।

4. आयोग मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए संविधान या अन्य समान किसी विधि द्वारा या उसके अधीन प्रावधानित संरक्षणों का पुनर्विलोकन करेगा और उनके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए उपायों की सिफारिश करेगा।

5. आयोग आतंकवाद की कार्यवाहियों सहित उन कारकों का पुनर्अवलोकन करेगा जो किसी मानव के अधिकार एवं उस समय में लागू संरक्षणों के प्रयोग को प्रतिसिद्ध करते हैं तथा उपयुक्त सिफारिश भी करेगा।

6. आयोग मानव अधिकार पर की गई संधियों एवं अन्तरर्राष्ट्रीय दस्तावेजों का अध्ययन करेगा तथा उनके प्रभावी क्रियान्वयन के लिए सिफारिश करेगा।

7. आयोग मानव अधिकारों के क्षेत्र में शोध कार्य को प्रोत्साहन देगा।

8. आयोग समाज के विभिन्न वगों के बीच मानव अधिकार साक्षरता का प्रसार करेगा तथा उन अधिकारों के संरक्षण के लिए उपलब्ध जानकारी एवं संरक्षणों की अभिवृद्धि प्रकाशन, समाचार माध्यम, सेमिनारों एवं अन्य उपलब्ध संसाधनों के द्वारा करेगा।

9. आयोग ऐसे अन्य कार्यों को करेगा जिसको यह मानव अधिकारों की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक समझेगा।

10. आयोग मानव अधिकार के क्षेत्र में कार्य करने वाली संस्थाओं एवं गैर—सरकारी संगठनों के प्रयासों को प्रोत्साहित करेगा।

11. आयोग केन्द्र सरकार तथा संबंधित राज्य सरकार को वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। आयोग ऐसे किसी भी मामले में विशेष रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा जो उसकी राय में इतनी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है कि उसे वार्षिक रिपोर्ट को प्रस्तुत करने तक स्थगित नहीं किया जा सकता।

केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार आयोग की वार्षिक तथा विशेष रिपोर्ट को क्रमशः संसद अथवा राज्य विधानमण्डल के प्रत्येक सदन के समक्ष रखेगी। आयोग की सिफारिश पर की गई या किए जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाहियों तथा आयोग की सिफारिश, यदि स्वीकार न किए जाने के कारणों को भी रखेगी। आयोग को परिषद् की जाँच करते समय सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के अधीन किसी वाद का निवारण करने वाले सिविल न्यायालय की शक्तियाँ होंगी।

**आयोग द्वारा जाँच एवं अन्वेषण** (Inquiry and Investigation by the Commission)—आयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मानव अधिकार उल्लंघनों के परिवादों की जाँच अथवा अन्वेषण करना है। 1 नवम्बर, 1993 को आयोजित अपनी पहली बैठक में आयोग ने बिजबेहना (Bijbehana) में लोगों की भीड़ पर सीमा सुरक्षा बल द्वारा गोली चलाने की घटना का स्वप्रेरणा (Suo Moto) से अन्वेषण किया था और घटना की रिपोर्ट का अनुसरण करते हुए भारत सरकार को नोटिस जारी किया था। उस समय से लेकर आयोग ने बहुत से परिवादों की जाँच की है।

वर्ष 1996—1997 से वर्ष 2000—01 की अवधि में आयोग के पास परिवादों के प्राप्त होने में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। आयोग प्राप्त होने वाले सभी मामलों पर विचार नहीं करता है। वे परिवाद जो विनियमन सं. 8 में सूचीबद्ध कोटियों के अन्तर्गत आते हैं, आयोग के द्वारा ग्रहण नहीं किए जाते हैं। सूचीबद्ध कोटियों के आने वाले परिवाद इस प्रकार के होते हैं—

(i) ऐसी घटनाओं संबंधी परिवाद जो परिवाद किए जाने से एक वर्ष पूर्व से अधिक समय पहले घटित हुई थी।

(ii) ऐसे परिवाद जो न्यायालय के अधीन हैं।

(iii) ऐसे परिवाद जो अस्पष्ट, बिना नाम के अथवा छद्म नाम के हैं।

(iv) ऐसे परिवाद जो तुच्छ प्रकृति के हैं, एवं

(v) ऐसे मामले जो आयोग के क्षेत्राधिकार के बाहर होते हैं।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग गम्भीर उल्लंघनों की रिपोर्ट पर परिवादों(अपीलों) की जाँच करता है। अन्वेषण उन व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है जो योग्य होते हैं तथा जिनका मानव अधिकारों के संबंध में अकलंकित इतिहास रहा है।

**आयोग की सिफारिशें** (Recommendations of the Commission)—मार्च, 1997 तक आयोग ने सरकार के समक्ष चार रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। इन रिपोर्टों में आयोग के कार्यों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए तथा मानव अधिकारों की

अभिवृद्धि एवं संरक्षण के लिए बहुत सी सिफारिशें की गई हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. पीड़ित व्यक्ति अथवा उसके परिवार के सदस्यों को अनुतोष प्रदान करने की शक्ति प्रदान करने हेतु आयोग के लिए अधिक स्वायत्तता सुनिश्चित करने के क्रम में आयोग ने 'मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993' में संशोधन करने की सिफारिश की थी।

2. आयोग ने संयुक्त राष्ट्र—संघ द्वारा दिसम्बर, 1984 में अंगीकार किए गए यातना और क्रूर अमानवीय और अपमानजनक व्यवहार अथवा दण्ड के अन्य रूपों के विरुद्ध अभिसमय, जो जून, 1987 को लागू हुआ था, को स्वीकार करने की सिफारिश की थी।

3. आयोग ने पुलिस को सुधारने तथा उसे शिक्षित करने की सिफारिश की थी। उसने यह सिफारिश की थी कि पुलिस सुधार आयोग, 1979 की द्वितीय रिपोर्ट, जिसमें पुलिस के अन्वेषण कार्य को राजनीतिक दबाव से मुक्त रखने का सुझाव भी सम्मिलित है, पर कार्यवाही की जाये।

4. अभिरक्षात्मक अपराध विशिष्ट रूप से जघन्य एवं विद्रोहात्मक होते हैं क्योंकि ये विहीन व्यक्ति के विरुद्ध लोक सेवक द्वारा विश्वासघात का प्रदर्शन करते हैं। आयोग ने इस संबंध में यह सिफारिश की है कि भारतीय कारागार अधिनियम, 1894 (Indian Prison Act, 1894) का पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए। आयोग कारागार प्रणाली में सुधार करने के लिए एक नया अखिल भारतीय कारागार नियम संग्रह (All India Jail Manual) तैयार कर रहा है।

5. आयोग ने यह सिफारिश की है कि व्यक्तियों को उनके मानव अधिकारों की जानकारी देने के लिए जनसाधारण में जागरूकता की आवश्यकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश, बड़ी संख्या में गैर—सरकारी संगठनों के अस्तित्व में होने पर भी इस ओर कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है।

6. आयोग ने यह कहा है कि मानव अधिकार से संबंधित प्राथमिकताओं में से एक प्राथमिकता यह है कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अल्पसंख्यकों की स्थिति में सुधार किया जाए।

7. आयोग की यह भी सिफारिश रही है कि नीति—निर्माताओं, सुरक्षा बलों एवं मानव अधिकार के प्रतिपादकों के बीच बातचीत जारी रखी जाए, क्योंकि इससे विद्रोह और आतंकवाद को निपटाने में विचार एवं कार्य की स्पष्टता पर बहुत प्रभाव पड़ेगा।

8. अर्द्धसैनिक बल तथा सेना अपनी अभिरक्षा में रहने वाले व्यक्ति की मृत्यु अथवा बलात्कार के मामलों की रिपोर्ट सीधे आयोग को दे।

9. राष्ट्र को बाल श्रम (Child Labour) की समाप्ति के प्रयास, शिशुओं की शिक्षा के अधिकार आदि में प्रगति करनी चाहिए।

10. दूरदर्शन और आकाशवाणी दोनों को मानव अधिकार की जानकारी में वृद्धि करने की अपनी अन्तर्ग्रस्तता को बढ़ावा देना चाहिए।

**राज्य मानव अधिकार आयोग** (State Human Rights Commission)—मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम के अध्याय पाँच में राज्यों में राज्य मानव अधिकार आयोग की स्थापना के लिए प्रावधान किया गया है। राज्य आयोग को अधिनियम के अनुसार उन सभी कार्यों के निर्वहन करने की शक्ति प्राप्त है जिन्हें राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को करने का अधिकार दिया गया है।

राज्य मानव अधिकार आयोगों की स्थापना के क्रम में पश्चिमी बंगाल, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, — असम तथा तमिलनाडु में मार्च, 1997 तक राज्य आयोगों का गठन किया जा चुका था। राजस्थान में वर्ष — 2000 के प्रथम त्रैमास में राज्य मानव अधिकार आयोग का गठन हो गया था। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अपनी 1996 की रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी कि

राज्य स्तर पर आयोगों की स्थापना शीघ्रता से की जानी चाहिए।

**जिलों में मानव अधिकार न्यायालय (**Human Rights Courts in Districts)— अधिनियम के अध्याय चार (जिसमें धारा 30 और 31 सम्मिलित हैं) में प्रत्येक जिले के लिए एक मानव अधिकार न्यायालय का प्रावधान है। राष्ट्र के प्रत्येक जिले में मानव अधिकार न्यायालयों की स्थापना करना अथवा मानव अधिकारों के उल्लंघन से संबंधित अपराधों का शीघ्रतापूर्ण निवारण किया जाना अधिनियम का नया प्रावधान है। इस प्रकार के न्यायालयों का गठन आन्ध्र प्रदेश, असम, सिक्किम, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, चेन्नई तथा गुवाहटी में कर दिया गया है।

**मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम का मूल्यांकन (Evaluation of the Protection of Human Rights Act)** —

मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, राज्य मानव अधिकार आयोगों तथा जिलों में मानव अधिकार न्यायालयों के विनिर्दिष्ट उद्देश्य 'मानव अधिकारों के बेहतर संरक्षण' के साथ गठन किए जाने का प्रावधान है, किन्तु राष्ट्रीय आयोग मानव अधिकारों के संरक्षण में बहुत कम प्रभावी रहा है। इस कमी को दूर करने के लिए और राष्ट्र में मानव अधिकारों के संरक्षण एवं अभिवृद्धि के लिए इसे अधिक प्रभावी उपकरण बनाने के संबंध में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश ए. एम. अहमदी की अध्यक्षता में एक परामर्शदात्री समिति का गठन मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में पुनर्निरीक्षण का सुझाव दिया है।

इस समिति से प्राप्त रिपोर्ट पर भी मानव अधिकारों के संरक्षण में सुधार होने की सम्भावना नहीं है। इसका कारण यह है कि जटिल राजनीति, आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक कारण बहुत बड़ी सीमा तक मानव अधिकारों के संरक्षण में बाधक बन रहे हैं क्योंकि कोई भी राष्ट्रीय संस्था अथवा मानव अधिकार आयोग चाहे वह कितना ही प्रभावी क्यों न हो, अभाव ग्रस्त लाखों लोगों के लिए भोजन, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएँ प्रदान नहीं कर सकता। यह सरकार का कर्तव्य है कि वह मानव गरिमा की अभिवृद्धि के लिए इन आवश्यक मूलभूत बातों, आवश्यकताओं और अधिकारों का प्रबन्ध करें। आयोग से तो केवल यह अपेक्षा की जाती है कि वह मानव अधिकारों की संस्कृति का विकास करे।